ओ३म्

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिता

संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विता

अजमेरनगरे

वैदिकयन्त्रालये

मुद्रिता

संवत् १९५९ दयानन्दाब्दाः १९

आषाढकृष्ण

तृतीयवार
५०००

मूल्य २॥)
डाकमहसूल =)

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाविषयसूचीपत्रम् ॥

इति

॥ ओ३म् ॥

नवेदं

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके। नवमप्रपाठके प्रथमानुवाके ॥

ब्रह्मानन्तमनादिविश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी । वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥ १ ॥ कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले । प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥ २ ॥ दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा । इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमननाऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः ॥ ३ ॥ मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः । ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥ ४ ॥ संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम् । मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ्मया ॥ ५ ॥ आर्य्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी । तां समाश्रित्य मन्त्रार्थो विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥ ६ ॥ येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः । दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥ ७ ॥ सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः । ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥ ८ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(सहनाव०) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आप की कृपा रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें (सहनौभु०) और हम सब लोग परमप्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्त्ति राज्य आदि सामग्री से आनन्द को आप के अनुग्रह से सदा भोगें (सहवी०) हे कृपानिधे ! आप के सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें (तेजस्वि०) और हे प्रकाशमय ! सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर ! आप के सामर्थ्य से ही हमलोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब

ससार में प्रकाश को प्राप्त हो। और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे (माविा हे प्रीति के । उत्पादक आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिस से हमलोग परस्पर वि न करें किन्तु एक दूसरे के मित्र हो के सदा वर्त्तें (ओं शान्ति०) हे भगवन् आप की करुणा से हमलोगों के तीन ताप एक (आध्यात्मिक) जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है दूसरा (आधिभौतिक) जो दूसरे प्राणियों से होता है और तीसरा (आधिदैविक) जो कि मन और इन्द्रियों के विकार अशुद्धि और चचलता से क्लेश होता है, इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये जिस से हमलोग सुख से वेदभाष्य को यथावत् वना के सब मनुष्यों का उपकार करें यही आप से चाहते है सो कृपा करके हम लोगों को सब दिनों के लिये सहाय कीजिये ॥ १ ॥

(ब्रह्मानन्त०) जो ब्रह्म अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है जिस की वेदविद्या सनातन है उस को अत्यन्त प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हू ॥ १ ॥ (कालरा०) विक्रम के सवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है ॥ २ ॥ (दयाया०) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिन का नाम दयानन्द सरस्वती है उन्होंने इस वेदभाष्य को रचा है ॥ ३ ॥ (मनुष्या०) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हू ॥४॥ (संस्कृतप्रा०) सो यह वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है एक सस्कृत और दूसरी प्राकृत इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हू ॥ ५ ॥ (आर्य्योक्ता०) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है किन्तु जो ब्रह्मा से ले के व्यासपर्यन्त मुनि और ऋषि हुए है और उनकी जो व्याख्यारीति है उस से युक्त ही बनाया जायगा ॥ ६ ॥ (येनाधु०) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिस से वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं वे सब निवृत्त हो जायंगे ॥ ७ ॥ (सत्यार्थश्च०) और इस भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो ससार में प्रसिद्ध हो कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें इसलिये यह प्रयत्न मैं करता हू सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार से सिद्ध हो। यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है ॥ ८ ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥१॥
यजुर्वेदे। अध्याये ३० मन्त्रः ३॥

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप हे परमकारुणिक हे अनन्तविद्य हे विद्याविज्ञानप्रद (देव) हे सूर्यादिसर्वजगद्विद्याप्रकाशक हे सर्वानन्दप्रद (सवित) हे सकलजगदुत्पादक! (नः) अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि सर्वान्दुष्टगुणांश्च (परासुव) दूरे गमय (यद्भद्र) यत्कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्यविद्याप्राप्त्याऽभ्युदयनिःश्रेयससुखकरं भद्रमस्ति (तन्नः) तदस्मभ्यं (आसुव) आसमन्तादुत्पादय कृपया प्रापय। अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय। यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति तत्स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन् नोऽस्मभ्यं प्रापय। भवत्कृपाकटाक्षसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थभाष्यं वयं विदधीमहि। तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत्। अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयात्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्योम् ॥

भाषार्थ

हे सत्यस्वरूप हे विज्ञानमय हे सदानन्दस्वरूप हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त हे परमकृपालो हे अनन्तविद्यामय हे विज्ञानविद्याप्रद (देव) हे परमेश्वर! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करने वाले हैं तथा सब आनन्दों के देनेवाले है (सवित) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन्! आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हैं (न) हमारे (विश्वानि) सब जो (दुरितानि) दुःख हैं उन को और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप (परासुव) दूर कर दीजिये अर्थात् हम से उन को हमको उन से सदा दूर रखिये (यद्भद्र) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है जो कि सब सुखों से युक्त भोग है उस को हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये। सो सुख दो प्रकार का है—एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति में अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्त्ति राज्य इष्ट मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर मे अत्यन्त उत्तम सुख का होना और दूसरा जो निःश्रेयस सुख है कि जिस को मोक्ष कहते हैं और जिस में ये दोनों सुख होते हैं उसी को भद्र कहते हैं (तन्न आसुव) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये और आप की कृपा के

सहाय से सब विघ्न हम से दूर रहै कि जिससे इस वेदभाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा हो। इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढता रहै। इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपने सामर्थ्य से ही हम को दीजिये। जिस कृपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्यविद्या से युक्त जो आप के बनाये वेद है उन के यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुख से विधान करैं, सो यह वेदभाष्य आप की कृपा से सपूर्ण हो के सब मनुष्यों का सदा उपकार करने वाला हो और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रद्धासहित अत्यन्त उत्साह हो, जिससे वेदभाष्य करने में जो हम लोगों का प्रयत्न है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो। इसी प्रकार से आप हमारे और सब जगत् के ऊपर कृपादृष्टि करते रहै जिससे इस बडे सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करैं ॥ १ ॥

योभूतञ्चभव्यंचसर्वंयश्चाधितिष्ठति । स्व१र्यस्यचकेवलं तस्मैज्येष्ठायब्रह्मणेनमः ॥ १ ॥ यस्यभूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरंम् । दिवंयश्चक्रेमूर्द्धानंतस्मैज्येष्ठायब्रह्मणेनमः ॥ २ ॥ यस्यसूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्चपुनर्णवः ॥ अग्निंयश्चक्रआस्यं१ तस्मैज्येष्ठायब्रह्मणेनमः ॥ ३ ॥ यस्यवातः प्राणापानौचक्षुरङ्गिरसोभवन् ॥ दिशोयश्चक्रेप्रज्ञानीस्तस्मैज्येष्ठायब्रह्मणेनमः ॥ ४ ॥ अथर्ववेदसंहितायाम् । कांडे १० प्रपाठके २३ अनुवाके ४ ॥ मं० १ । ३२ । ३३ । ३४ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(यो भूत च०) यो भूतभविष्यद्वर्त्तमानान् कालान (सर्वं यश्चाधि०) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोस्ति । (स्वर्य०) यस्य च केवलं निर्विकारं स्व सुखस्वरूपमस्ति यस्मिन् दुःख लेशमात्रमपि नास्ति यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति (तस्मै ज्ये०) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्त नमोस्तु नः ॥१॥ (यस्य भू०) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थज्ञानसाधनं पादाविवास्ति (अन्तरिक्षमु०) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्द्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ (यस्य सू०) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च

पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः । योऽग्निमास्यंमुखवच्चक्रे कृतवानस्ति । तस्मै० ॥ ३ ॥ (यस्य वात०) वातः समष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति (अङ्गिरसः) अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चना इति निरुक्ते अ० ३ ख० १७॥ प्रकाशिकाः किरणाश्चक्षुषी इव भवतः । यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकाश्चक्रे तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोऽस्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(यो भूत च०) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्त्तमान है (भव्य च) और तीसरा भविष्यत् जो होनेवाला है इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है (सर्वं यश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जाता रचता पालन लय कर्ता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है (स्वर्यस्य च केवल) जिस का सुख ही केवल स्वरूप है जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देने वाला है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम) ज्येष्ठ अर्थात् सब से बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उस को अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिस को लेशमात्र भी दुःख नहीं होता उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥ १ ॥ (यस्य भूमिः प्रमा०) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ है सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है, तथा जिस ने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अन्तरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिस ने उदरस्थानी किया है (दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं) और जिस ने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करनेवाले पदार्थों को सब के ऊपर मस्तकस्थानी किया है अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रच के उस में व्यापक हो के जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है (तस्मै०) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो ॥ २ ॥ (यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्र०) और जिस ने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है जो कल्प २ के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारवार नये२ रचता है (अग्निं यश्चक्र आस्य) और जिस ने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो ॥३॥ (यस्य वात प्राणापानौ) जिस ने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाईं किया

है (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करनेवाली किरण हैं वे चक्षु की नाईं जिस ने की है अर्थात् उन से ही रूपग्रहण होता है (दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्त०) और जिस ने दश दिशाओं को सब व्यवहारों के सिद्ध करनेवाली बनाई हैं ऐसा जो अनन्त विद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो ॥ ४ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः । यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥ यजुः० अ० २५ मं० १३ ॥

द्यौःशान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवीशान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्मशान्तिःसर्वꣳशान्तिः शान्तिरेवशान्तिः सामाशान्तिरेधि ॥ ६ ॥ यतोयतः समीहसे ततो नो अभयंकुरु । शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयंनः पशुभ्यः ॥ ७ ॥ यजु० अ० ३६ म० १७ । २२ ॥

यस्मिन्नृचः सामयजूꣳषियस्मिन्प्रतिष्ठितारथनाभाविवाराः । यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानांतन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ८ ॥ यजुः० अ० ३४ मं० ५ ॥

भाष्यम्

(य आत्मदा) य आत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः (बलदाः) यः शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः (यस्य०) यं विश्वे देवाः सर्वे विद्वांस उपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते । (यस्यच्छाया०) यस्याश्रय एव मोक्षोऽस्ति यस्य च्छायाऽकृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोस्ति (कस्मै०) तस्मै कस्मै प्रजापतये प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेति । शतपथब्राह्मणे । काण्डे७ अ०३ ॥ सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण हविषा वयं विधेम सततं तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि ॥ ५ ॥ (द्यौः शान्ति०) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर त्वद्भक्त्या त्वत्कृपया च द्यौरन्तरिक्ष पृथिवी जलमोषधयो वनस्पतयो विश्वे देवा सर्वे विद्वांसो ब्रह्म वेदः सर्वं जगच्चास्मदर्थं

शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदास्तु । अनुकूलं भवतु नः । येन वयं वेदभाष्यं सुखेन विदधीमहि । हे भगवन्नेतया सर्वशान्त्या विद्यावुद्धिविज्ञानारोग्यसर्वोत्तमसहायैर्भवान् मा सर्वथा वर्धयतु तथा सर्वं जगच्च ॥६॥ (यतोय०) हे परमेश्वर यतो यतो देशात्त्वं समीहसे जगद्रचनपालनार्थां चेष्टां करोषि ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं कुरु । यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं भवेम (शन्न कु०) तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानभयं कुरु । एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोस्मान् शं कुरु धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान्स्वानुग्रहेण सद्यः संपादय ॥७॥ (यस्मिन्नृ०) हे भगवन् कृपानिधे यस्मिन्मनसि ऋचः सामानि यजूंषि च प्रतिष्ठितानि भवन्ति यस्मिन् यथार्थमोक्षविद्या च प्रतिष्ठिता भवति । (यस्मिश्च०) यस्मिंश्च प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति सूत्रे मणिगणवत्प्रोतमस्ति । कस्या क इव रथनाभौ अरा इव तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसंकल्पकल्याणप्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाश्येत हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् मदुपरि कृपां विधेहि यया निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि । भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि । यं वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं दृष्ट्वा वयं सर्वे सर्वोत्कृष्टगुणा भवेम ईदृशीं करुणामस्माकमुपरि करोतु भवान् । एतदर्थं प्रार्थ्यतेऽनया प्रार्थनयाऽस्मान् शीघ्रमेवानुगृह्णातु । यत इदं सर्वोपकारकं कृत्यं सिद्धं भवेत् ॥

भाषार्थ

(य आत्मदाः०) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देनेवाला है जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति करानेवाला है जिस की उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं और जिस का अनुशासन जो वेदोक्त शिक्षा है उस को अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं जिस का आश्रय करना ही मोक्ष सुखका कारण है और जिसकी अकृपा ही जन्ममरणरूप दुःखों को देनेवाली है अर्थात् ईश्वर और उसका उपदेश जो सत्यविद्या सत्यधर्म और सत्य मोक्ष हैं उन को नहीं मानता और जो वेद से विरुद्ध हो के अपनी कपोलकल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्त्तता है उसपर ईश्वर की अकृपा होती है वही सब दुःखों का कारण है और जिस की आज्ञापालन ही सब सुखों का मूल है (कस्मै०) जो सुखस्वरूप

और सब प्रजा का पति है परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्य प्रेम भक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें जिस से हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो ॥ ५ ॥ (द्यौः शा०) हे सर्वशक्तिमन् भगवन् ! आप की भक्ति और कृपा से ही द्यौः जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है यह सब दिन हमको सुखदायक हो तथा जो आकाश में पृथिवी जल ओषधि वनस्पति वट आदि वृक्ष जो संसार के सब विद्वान् ब्रह्म जो वेद ये सब पदार्थ और इनसे भिन्न भी जो जगत् है वे सब सुख देने-वाले हम को सब काल में हों कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें, जिस से इस वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हमलोग सिद्ध करें। हे भगवन्! इस सब शान्ति से हम को विद्या बुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढाइये ॥ ६ ॥ (यतोय०) हे परमेश्वर ! आप जिस २ देश से जगत् के रचन और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं उस २ देश से भय से रहित करिये अर्थात् किसी देश से हम को किञ्चित् भी भय न हो (शन्नःकुरु०) वैसे ही सब दिशाओं में जो आप की प्रजा और पशु हैं उन से भी हम को भयरहित करें तथा हम से उन को सुख और उन को भी हम से भय न हो तथा आप की प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि है उन सब से जो धर्म अर्थ काम और मोक्ष पदार्थ हैं उन को आप के अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों जिस से मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं वे सुख से सिद्ध हों॥७॥ (यस्मिन्नृचः ०) हे भगवन् कृपानिधे ! (ऋच)ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूंषि) यजुर्वेद और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी ये सब जिस में स्थिर होते हैं तथा जिस में मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या सत्यासत्य का प्रकाश होता है (यस्मिँश्चि०) जिस में सब प्रजा का चित्त जो स्मरण करने की वृत्ति है सो सब गठी हुई है जैसे माला के मणिए सूत्र में गठे हुये होते हैं और जैसे रथ के पहिये के बीच के भाग में आरे लगे रहते हैं कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते हैं ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से शुद्ध हो तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्यधर्म का अनुष्ठान तथा असत्य के परित्याग करने का सङ्कल्प जो इच्छा है इस से स-दा युक्त हो जिस मन से हम लोगों को आप के किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो। हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर ! हम पर आप कृपा धारण करें जिससे हम लोग विघ्नों से सदा अलग रहें और सत्य अर्थ सहित इस वेदभाष्य को सपूर्ण बना के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्त्ति है उस को जगत् में सदा के लिये बढावें और इस भाष्य को देख के वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम सब लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा हों

इसलिये हम लोग आप की प्रार्थना प्रेम से सदा करते हैं इसको आप कृपा से शीघ्र सुनें जिस से यह जो सब का उपकार करनेवाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो ॥

इतीश्वरप्रार्थनाविषय

अथ वेदोत्पत्तिविषयः

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥ यजुः० अ० ३१ मं० ७ ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १० प्रपा० २३ अनु० ४ मं० २०

(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात्सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्। सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति वेदाः सर्वहुतः। यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः। जज्ञिरे अजायतेति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम्। तथा तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम् ॥ वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम्। यज्ञो वै विष्णुः। श० कां० १। अ० १। ब्रा० १। कं० १३। इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। य० अ० ५। मं० १५। इति सर्वजगत्कर्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते नान्यत्र। वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ॥ १ ॥ (यस्मादृचो०) यस्मात्सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः (अपातक्षन्) अपातक्षत् उत्पन्नोऽस्ति यस्मात् परब्रह्मणः (यजुः) यजुर्वेदः अपाकषन् प्रादुर्भूतोऽस्ति। तथैव यस्मात्सामानि सामवेदः (आङ्गिरसः) अथर्ववेदश्चोत्पन्नोऽस्ति।

एवमेव यस्येश्वरस्याऽऽङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुख मुखवत् मुख्योस्ति । सामानि लोमानीव सन्ति । यजुर्यस्य हृदयमृचः प्राणश्चेति रूपकालङ्कारः । यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्विद्देवोस्ति त त्वं ब्रूहीति प्रश्नः । अस्योत्तरम् (स्कम्भ त०) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति तस्मात्स्कम्भात्सर्वाधारात्परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्त्ता नैवास्तीति मन्तव्यम् ॥ २ ॥ एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः । श० कां० १४ अ० ५ ब्रा० ४ । क० १० ॥ अस्यायमभिप्रायः । याज्ञवल्क्योऽभिवदति । हे मैत्रेयि ! महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशादृग्वेदादिवेदचतुष्टयं (निः श्वसित) निःश्वासवत्सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम् । यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद्वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः ॥

प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं (तस्मात्यज्ञात्स०) सत् जिस का कभी नाशनहीं होता चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सब को सुख देने वाला है इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है उसी परब्रह्म से (ऋच) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों को ग्रहण करें और वेदोक्त रीति से ही चलें (जज्ञिरे) और (अजायत) इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं ऐसा जाना जाता है वैसेही (तस्मात्) इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं किसी मनुष्य से नहीं । वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं फिर (छन्दांसि) इसपद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है उस की उत्पत्ति का प्रकाश होता है । शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ शब्द से विष्णु का और विष्णु शब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है अन्यत्र नहीं ॥ १ ॥ (यस्मादृचो-अपा०) जो सर्वशक्तिमान परमेश्वर उसी से (ऋच) ऋग्वेद (यजु) यजुर्वेद

(सामानि) सामवेद (आङ्गिरस) अथर्ववेद ये चारों उत्पन्न हुए है इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाई है । (ब्रूहि कतम स्विदेव स) कि चारोंवेद जिससे उत्पन्न हुए है सो कौनसा देव है उसको तुम मुझ से कहो । इस प्रश्न का यह उत्तर है कि (स्कम्भ तं०) जो सब जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है उस का नाम स्कम्भ है उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो और यह भी जानो कि उस को छोड के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड के दूसर का परमेश्वर मान के उपासना करै ॥ २ ॥ (एवं वा अरेस्य०) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं वह अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते है कि हे मैत्रेयि ! जो आकाशादि से भी बडा सर्वव्यापक परमेश्वर है उससे ही ऋग् यजु साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए है जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर को आकर फिर भीतर को जाता है इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके ससार में प्रकाश करता है और प्रलय काल में ससार में वेद नहीं रहते, परन्तु उस के ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते है बीजाङ्कुरवत् जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है वही वृक्षरूप हो के फिर भी बीज के भीतर रहता है इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते है उन का नाश कभी नहीं होता क्यों कि वह ईश्वर की विद्या है इस से इनको नित्य ही जानना ॥

अत्र केचिदाहुः । निरवयवात्परमेश्वराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्येतेति । अत्र ब्रूमः । न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्केयमुपपद्यते । कुत । मुखप्राणादिसाधनमन्तरापि तस्य कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात् । अन्यच्च-यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारण भवति तथेश्वरेपि मन्यताम् । योस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायकार्य्यं कर्त्तुं गृह्णाति । यथास्मदादीना सहायेन विना कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यं नास्ति । न चैवमीश्वरे । यदा निरवयवेनेश्वरेण सकल जगद्रचित तदा वेदरचने का शङ्कास्ति । कुतः । वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूत रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यत ॥

भाषार्थ

इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार है उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सके है? इस का यह उत्तर है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है,

उस में ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है कि मुख के विना मुख का काम और प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् करसक्ता है । यह दोष तो हम जीव लोगों में आसक्ता है कि मुखादि के विना मुखादि का कार्य नहीं करसक्ते हैं क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं और इस में यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं है तथापि जैसे उस के भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है वैसे ही परमेश्वर भी जानना चाहिये और जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है सो किसी कार्य्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्य्यों को कर सक्ता है । जैसे हम लोग विना सहाय से कोई काम नहीं कर सक्ते वैसे ईश्वर नहीं है । जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही । जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है । आश्चर्यरूप रचन किया तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सक्ता ॥

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति वेदरचने त्वन्यस्यग्रन्थरचनवत् स्यादिति । अत्रोच्यते । ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यान्न चान्यथा । नैव कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति । यथेदानीम् । किञ्चिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति । तद्यथा कस्यचित्सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वाऽन्नपानादिकं युक्त्या दद्यात्तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्य्याद्यावत्तस्य मरणं न स्यात् । यथा तस्य किञ्चिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति । यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत्प्रवृत्तिर्भवति । तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत् । पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा ॥

भाषार्थ

प्रश्न—जगत् के रचने में तो ईश्वर के विना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है । उत्तर—नहीं, किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं उन को पढ़ने के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी

मनुष्य को हो सकता है उसके पढने और ज्ञान से विना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ के किसी का उपदेश सुनके और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखके उस को अन्न और जल युक्ति से देवै उस के साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे कि जब तक उस का मरण न हो तब तक उस को इसी प्रकार से रक्खै तो मनुष्यपने का भी ज्ञान नहीं होसकता तथा जैसे बडे वन में मनुष्यों को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता किन्तु पशुओं की नाईं उन की प्रवृत्ति देखने में आती है वैसे ही वेदों के उपदेश विना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा क्या ही कहनी है। इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है अन्यथा नहीं ॥

नैव वाच्यम्। ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं तच्च सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञानं भवितुमर्हति तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव पुनः किमर्थं मन्यते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति। एवं प्राप्ते वदामहे। नैव पूर्वोक्तायाशिक्षितायैकान्ते रक्षिताय बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम्। कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पण्डिता भवन्ति। तस्मात् किमागतं न शिक्षया विनाऽध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति। यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते। तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षावश्यं भवति। किञ्च न सृष्टेरारम्भसमये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदप्यासीत्तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं रचयेत्। मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात्। स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च। यच्चोक्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि तदप्यसमञ्जसम्। तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात्। चक्षुर्वत्। यथा चक्षुर्मनःसाहित्येन विना न किञ्चित्करमस्ति, तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञानस्य च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चित्करमेव भवतीति ॥

भाषार्थ

प्र०—ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है सो सब ग्रन्थों से उत्तम है क्योंकि उस के विना वेदों के शब्द अर्थ और सबन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता और जब

उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी तब मनुष्य लोग विद्या पुस्तकों को भी रच लेंगे, पुन वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी ? उ०-जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का और दूसरा वनवासियों का भी कहा था क्या उन को स्वाभाविकज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है ? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते ? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है उस के विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे हम लोग वेदों के पढने, विद्वानों की शिक्षा और उन के लिये ग्रन्थों को पढ़े विना पण्डित नहीं होते वैसे ही सृष्टि की आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ विद्या नहीं होती। इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढने के विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता। जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं वैसे ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अवश्य है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के विना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे करसकता क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं होसकती इसी से ईश्वर ने सब मनुष्यों के हितके लिये वेदों की उत्पत्ति की है और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है सो भी अन्यथा है क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है, जैसे मनके संयोग के विना आंख से कुछ भी नहीं दीख पडता तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता, वैसेही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म अर्थ काम और मोक्ष विद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता ॥

वेदोत्पादने ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम्। उच्यते वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति। अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः। सत्यमेवमेतत्। तावद्वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत। ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा। अस्ति। सा किमर्थास्ति। स्वार्था। ईश्वरः परोपकारं न करोति किम्। करोति। तेन किम्। तेनेदमस्ति विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्तद्विषयत्वात्। यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात्तदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात्। तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूत-

उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी तब मनुष्य लोग विद्या पुस्तकों को भी रच लेंगे, पुन वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी ? उ०-जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का और दूसरा वनवासियों का भी कहा था क्या उन को स्वाभाविकज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है ? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते ? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है उस के विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे हम लोग वेदों के पढने, विद्वानों की शिक्षा और उन के लिये ग्रन्थों को पढे विना पण्डित नहीं होते वैसे ही सृष्टि की आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ विद्या नहीं होती। इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढने के विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता। जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं वैसे ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अवश्य है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढने और पढाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के विना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे करसकता क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं होसकती इसी से ईश्वर ने सब मनुष्यों के हितके लिये वेदों की उत्पत्ति की है और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है सो भी अन्यथा है क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है, जैसे मनके संयोग के विना आंख से कुछ भी नहीं दीख पडता तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता, वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म अर्थ काम और मोक्ष विद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता ॥

वेदोत्पादने ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम्। उच्यते वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति। अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः। सत्यमेवमेतत्। तावद्वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत। ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा। अस्ति। सा किमर्थास्ति। स्वार्था। ईश्वरः परोपकारं न करोति किम्। करोति तेन किम्। तेनेदमस्ति विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्तद्विषयत्वात्। यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात्तदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात्। तस्मादीश्वरेण स्वविद्यामूल-

है इससे ऐसी शङ्का उस में आप को करनी योग्य नहीं परन्तु इस के उत्तर में इस बात को जानों कि वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे। प्र०—तो किस प्रकार से किये थे? उ०—ज्ञान के बीच में। प्र०—किन के ज्ञान में? उ०—अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा के। प्र०—वे तो जड़ पदार्थ है। उ०—ऐसा मत कहो, वे सृष्टि की आदि में मनुष्यदेहधारी हुए थे क्योंकि जड में ज्ञान के कार्य का असम्भव है और जहा २ असम्भव होता है वहा २ लक्षणा होती है, जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मचान पुकारते है इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मचान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे है इसी प्रकार से यहा भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है अन्यत्र नहीं। इस में (तेभ्य०) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उन से ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था। प्र०—सत्य बात है कि ईश्वर ने उन को ज्ञान दिया होगा और उन ने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा। उ०—ऐसा तुमको कहना उचित नहीं क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उन को ज्ञान किस प्रकार का दिया था? उ०—उन को वेदरूप ज्ञान दिया था। प्र०—अच्छा तो मैं आप से पूछता हू कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उन का। उ०—वह ज्ञान ईश्वर का ही है। प्र०—फिर आप से मैं पूछता हू कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उन के? उ०—जिस का ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया। प्र०—फिर उन्हों ने वेद रचे हैं यह शङ्का आपने क्यों की थी? उ०—निश्चय करने और कराने के लिये ॥

ईश्वरो न्यायकार्य्यस्ति वा पक्षपाती। न्यायकारी। तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति। अत्राह। अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैवागच्छति किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यग्न्यायः प्रकाशितो भवति कुतः न्यायेत्यस्यैव नामास्ति यो यादृशं कर्म कुर्य्यात्तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात्। अत्रैवं वेदितव्यम् तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशं कर्तुं योग्योऽस्ति। किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम्। अत्र ब्रूमः। सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनादयस्तेषां कर्म्माणि सर्वं कार्य्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति। एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते ॥

भाषार्थ

प्र०—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती? उ०—न्यायकारी। प्र०—जब परमेश्वर न्याय-

वाली सब सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता। क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं उन की प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख के हजारहवें अंश के भी तुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्यापदार्थ जो वेद है उस का उपदेश परमेश्वर क्यों न करता। इस से निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं ॥

ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि। अत्रोच्यते। अहहह! महतीयं शङ्का भवता कृता विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ठलोष्टादिसामग्रीसाधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं तथा वेदा अपि रचिताः सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं माशङ्कि। किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः। किं तर्हि ज्ञानमध्ये प्रेरिताः। केषाम्। अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम्। ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति। नैवं वाच्यं सृष्ट्यादौ मनुष्यदेहधारिणस्तेऽत्यासन्। कुतः जडे ज्ञानकार्यासम्भवात्। यत्रार्थासंभवोऽस्ति तत्र लक्षणा भवति। तद्यथा। कश्चिदाप्तः कञ्चित्प्रति वदति मञ्चाः क्रोशन्तीति। अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते। तथैवात्रापि विज्ञायताम्। विद्याप्रकाशसम्भवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति। अत्र प्रमाणम्। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः। [श०का०११अ०५ब्रा०८म०३] एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाःप्रकाशिताः। सत्यमेवमेतत्। परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते नैवं विज्ञायि। ज्ञानं किं प्रकारकं दत्तम्। वेदप्रकारकम्। तदीश्वरस्य वा तेषाम्। ईश्वरस्यैव। पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्तैश्च। यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः। पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति। निश्चयकरणार्था ॥

भाषार्थ

प्र०—वेदों के रचने और वेद पुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी स्याही और दवात आदि साधन कहा से लिये क्योंकि उस समय में कागज आदि पदार्थ तो बने ही न थे?

उ०—वाह वाह वाह? जी आप ने वडी शङ्का करी, आप की बुद्धि की क्या स्तुति करें! अच्छा आप से मैं पूछता हू कि आप पग आदि अगों से विना तथा काष्ठ लोह आदि सामग्री साधनों के विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है। जैसे हाथ आदि अवयवों से विना उस ने सब जगत् को रचा है वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्

वाली सब सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता। क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं उन की प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख के हजारहवें अंश के भी तुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्यापदार्थ जो वेद है उस का उपदेश परमेश्वर क्यों न करता। इस से निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये है॥

ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि। अत्रोच्यते। अहहह! महतीयं शङ्का भवता कृता विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ठलोष्टादिसामग्रीसाधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं तथा वेदा अपि रचिताः सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं माशङ्कि। किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः। किं तर्हि ज्ञानमध्ये प्रेरिताः। केषाम्। अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम्। ते तु ज्ञानरहिता जडा सन्ति। मैवं वाच्यं सृष्ट्यादौ मनुष्यदेहधारिणस्तेह्यासन्। कुतः जडे ज्ञानकार्यासम्भवात्। यत्रार्थासंभवोस्ति तत्र लक्षणा भवति। तद्यथा। कश्चिदाप्तः कञ्चित्प्रति वदति मञ्चाः क्रोशन्तीति। अत्रमञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते। तथैवात्रापि विज्ञायताम्। विद्याप्रकाशसम्भवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति। अत्र प्रमाणम्। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः। [श०कां०११अ०५ब्रा०८मं०३] एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदा प्रकाशिताः। सत्यमेवमेतत्। परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते मैवं विज्ञायि। ज्ञानं किं प्रकारकं दत्तम्। वेदप्रकारकम्। तदीश्वरस्य वा तेषाम्। ईश्वरस्यैव। पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्तैश्च। यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः। पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति। निश्चयकरणार्था॥

भाषार्थ

प्र०—वेदों के रचने और वेद पुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी स्याही और दवात आदि साधन कहां से लिये क्योंकि उस समय में कागज आदि पदार्थ तो बने ही न थे?

उ०—वाह वाह वाह? जी आप ने बड़ी शङ्का करी, आप की बुद्धि की क्या स्तुति करैं! अच्छा आप से मैं पूछता हूं कि आप पग आदि अंगों से विना तथा काष्ठ लोह आदि सामग्री साधनों के विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है। जैसे हाथ आदि अवयवों से बिना उस ने सब जगत् को रचा है वैसेही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्

है इससे ऐसी शङ्का उस में आप को करनी योग्य नहीं परन्तु इस के उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे। प्र०—तो किस प्रकार से किये थे? उ०—ज्ञान के बीच में। प्र०—किन के ज्ञान में? उ०—अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा के। प्र०—वे तो जड़ पदार्थ हैं। उ०—ऐसा मत कहो, वे सृष्टि की आदि में मनुष्यदेहधारी हुए थे क्योंकि जड में ज्ञान के कार्य का असम्भव है और जहां २ असम्भव होता है वहां २ लक्षणा होती है, जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मचान पुकारते हैं इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मचान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं इसी प्रकार से यहां भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है अन्यत्र नहीं। इस में (तेभ्य०) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उन से ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था। प्र०—सत्य बात है कि ईश्वर ने उन को ज्ञान दिया होगा और उन ने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा। उ०—ऐसा तुमको कहना उचित नहीं क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उन को ज्ञान किस प्रकार का दिया था? उ०—उन को वेदरूप ज्ञान दिया था। प्र०—अच्छा तो मैं आप से पूछता हूं कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उन का। उ०—वह ज्ञान ईश्वर का ही है। प्र०—फिर आप से मैं पूछता हूं कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उन के? उ०—जिस का ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया। प्र०—फिर उन्हों ने वेद रचे हैं यह शंका आपने क्यों की थी? उ०—निश्चय करने और कराने के लिये ॥

ईश्वरो न्यायकार्य्यस्ति वा पक्षपाती। न्यायकारी। तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति। अत्राह। अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैवागच्छति किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यान्याय प्रकाशितो भवति कुतः न्यायेत्यस्यैव नामास्ति यो यादृशं कर्म कुर्य्यात्तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात्। अत्रैव बोद्धितव्यम् तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्त्तुं योग्योऽस्ति। किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम्। अत्रब्रूमः। सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनादयस्तेषां कर्म्माणि सर्वं कार्य्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति। एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते ॥

भाषार्थ

प्र०—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती? उ०—न्यायकारी। प्र०—जब परमेश्वर न्याय-

कारी है तो सब के हृदय में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया क्योंकि चारों के हृदयों में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है। उ०—इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश कदापि नहीं आता किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है क्योंकि न्याय उस को कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उस को वैसा ही फल दिया जाय। अब जानना चाहिये कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्वपुण्य था कि उन के हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया? प्र०—वे चार पुरुष तो सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन का पूर्वपुण्य कहा से आया? उ०—जीव जीवों के कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् ये तीनों अनादि हैं जीव और कारण जगत् स्वरूप से अनादि हैं कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् प्रवाह से अनादि है इस की व्याख्या प्रमाणपूर्वक आगे लिखी जायगी॥

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीश्वरेणैव कृतं इयं कुत शङ्काभूत्। किमीश्वरस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरचनज्ञानं नास्ति। अस्त्येव तस्य सर्वविद्यावत्त्वात्। अतो निर्मूला सा शङ्कास्ति। चतुर्मुखेण ब्रह्मणा वेदा निरमायिषतेत्यैतिह्यम्। मैव वाच्यम्। ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात्। आप्तोपदेशः शब्दः॥ न्यायशास्त्रे अ० १ सू० ७ इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात्। शब्द ऐतिह्यमित्यादि च। अस्यैवोपरि। आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्म्मा यथा दृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्त्तत इत्याप्तः। इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनोक्तेः। अतः सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य। यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं नातो विपरीतमिति अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात्। एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम्। नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थ्यापत्तेश्चेति॥

भाषार्थ

प्र०—क्या गायत्र्यादि छन्दों का भी रचन ईश्वर ने ही किया है? उ०—यह शंका आप को कहा से हुई? प्र०—मैं तुम से पूछता हू क्या गायत्र्यादि छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है? उ०—ईश्वर को सब ज्ञान है। अच्छा तो ईश्वर के समस्तविद्यायुक्त होने से आप की यह शंका भी निर्मूल है। प्र०—चार मुख के ब्रह्मा जी ने वेदों को रचा ऐसे इतिहास को हमलोग सुनते हैं। उ०—ऐसा मत कहो क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है (आप्तो०) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उस को शब्दप्रमाण में गिनते हैं ऐसा न्यायदर्शन में गोतमाचार्य ने लिखा है तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य

है अन्य नहीं इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण कहा है जो कि साक्षात् सब पदार्थविद्याओं का जाननेवाला कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है कि जो सदा सत्यवादी सत्यमानी और सत्यकारी है जिसको पूर्णविद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है उस के कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करने वाला है और जो पृथिवी से ले के परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्त्तना इसी का नाम आप्ति है इस आप्ति से जो युक्त हो उस को आप्त कहते हैं उसी के उपदेश का प्रमाण होता है इस से विपरीत मनुष्य का नहीं क्योंकि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है अनृत का नहीं। सत्यप्रमाणयुक्त जो इतिहास है वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है इससे विपरीत इतिहास का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता इसी प्रकार व्यासजी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिये जो आज कल के बने ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्रग्रन्थ हैं इन में कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं क्योंकि इन में असम्भव और अप्रमाण कपोलकल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं और जो सत्यग्रन्थ शतपथ ब्राह्मणादि हैं उन के इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये ॥

यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात्। मैव वादि। ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात् यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०। इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य विद्यमानत्वात्। एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत्तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात्। तद्यथा। अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥ १ ॥ अ० १। अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः अ० २। इति मनुसाक्ष्यत्वात्। अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा ॥

भाषार्थ

प्र०—जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं उन्हों ने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय? उ०—ऐसा मत कहो क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है सो श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि जिस ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि की आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है उसी

परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते है इसी प्रकार ऋषियोंने भी वेदों को पढा है क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेद वर्त्तमान थे इस में मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि पूर्वोक्त अग्नि वायु रवि और अंगिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था जब ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है ॥

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति । अर्थभेदात् (विद) ज्ञाने (विद) सत्तायाम् । (विद्लृ) लाभे (विद) विचारणे । एतेभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते । तथा (श्रु) श्रवणे इत्यस्माद्धातोः करणकारके क्तिन्प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पाद्यते । विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्याः यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः । तथ ऽऽदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्या श्रूयतेऽनया सा श्रुतिः । न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात्कदाचित्कोपि वेदानां रचनम् दृष्टवान् कुतः । निरवयवेश्वरात्तेषां प्रादुर्भावात् । अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम् । तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः । वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णविद्यावत्वात् । अतः किं सिद्धमग्निवाय्वाद्यङ्गिरोमनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम् ॥

भाषार्थ

प्र०—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं? उ०—अर्थभेद से क्योंकि एक (विद) धातु ज्ञानार्थ है दूसरा (विद) सत्तार्थ है तीसरे (विद्लृ) का लाभ अर्थ है चौथे (विद) का अर्थ विचार है, इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में घञ् प्रत्यय करने से वेदशब्द सिद्ध होता है तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है इस से करण कारक में क्तिन् प्रत्यय के होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है जिन के पढने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिन को पढ के विद्वान् होते हैं, जिन से सब सुखों का लाभ होता हैं और जिन से ठीक २ सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है इस से ऋक्संहितादि का वेद नाम है वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिस से सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं इस से वेदों का श्रुति नाम पड़ा है

क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा इसकारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और उनको सुनते सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं तथा अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा इन चारों मनुष्यों को जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था क्योंकि उन के ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई किन्तु इस से यह जानना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे सब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं ॥

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि । अत्रोच्यते एको वृन्दः षण्णवतिः कोटयोऽष्टौलक्षाणि द्विपञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्चैतावन्ति १९६०८५२९७६ वर्षाणि व्यतीतानि सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तत इति वेदितव्यम् । एतावन्त्येव वर्षाणि वर्त्तमानकल्पसृष्टेश्चेति । कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति । अत्राह्लास्यां वर्त्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्त्तमानत्वादस्मात्पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति । तद्यथा स्वायम्भवः स्वारोचिष औत्तमिस्तामसो रैवतश्चाक्षुषो वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त चैते मिलित्वा १४ चतुर्दशैव भवन्ति । तत्रैकसप्ततिश्चतुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति । ते चैकस्मिन्ब्राह्मदिने १४ चतुर्दशभुक्तभोगा भवन्ति । एकसहस्रं १००० चातुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति ब्राह्म्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम् । सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति । अस्मिन्ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोऽयं कलिर्वर्त्तते । तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति ४९७६ चत्वारि सहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते । यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं संवत्सरं वदन्ति ॥

अत्र विषये प्रमाणम्

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः । एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ १ ॥ चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् । तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ २ ॥ इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु । एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ३ ॥ यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् । एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते

॥४॥ दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिरेव च ॥५॥ तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः। रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदोजनाः ॥६॥ यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्। तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥७॥ मन्वन्तराण्यसंख्यानि सृष्टिः संहार एव च। क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥८॥ मनु० अध्याये १ ॥

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयःसुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते। यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत्। मन्वन्तरपर्य्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किञ्चित् किञ्चिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते।अत्रैव संख्यातव्यम्।एकं दशशतं चैव सहस्रमयुतं तथा। लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥१॥ वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः। अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥२॥ इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते। अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति ॥ सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि ॥ य० अ० १५ मं० ६५। सर्वं वै सहस्रम्। सर्वस्य दातासि। श० कां० ७ अ० ५ ॥ सर्वस्य जगतः सर्वमिति नामास्ति कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्यचब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्यकर्त्ता परमेश्वरोस्ति मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात्सर्वमभिवदतीति। एवमेवाग्रेपि योजनीयम्। जोतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिताऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतमद्यपर्यंतमपि क्रियते प्रतिदिनमुच्चार्य्यते ज्ञायते चातः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकर्तुं योग्यास्ति नान्येति निश्चयः। कुतो ह्यार्य्यैर्नित्यमोंतत् सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदंकृतं क्रियते चेत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वादितिहासस्यास्य सर्वत्रार्य्यावर्त्तदेशे वर्त्तमानत्वात्सार्वत्रैकरसत्वादशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम्। अन्यद्युगव्याख्यानमग्रे करिष्यते तत्र द्रष्टव्यम् ॥

भाषार्थ

प्र०—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं? उ०—एक वृन्द छानवे

करोड आठ लाख बावन हजार नव सौ छहत्तर अर्थात् (१९६०८५२९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में होगये हैं और यह संवत् ७७ सतहत्तरवां वर्त्त रहा है ।

प्र०—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में वीत गये हैं ।

उ०—यह जो वर्त्तमान सृष्टि है इस में सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्त्तमान है इस से पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं स्वायम्भव १ स्वारोचिष २ औत्तमि ३ तामस ४ रैवत ५ चाक्षुष ६ ये छः तो बीतगये हैं और ७ सातवां वैवस्वत वर्त्तरहा है और सावर्णि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे ये सब मिलकर १४ मन्वन्तर होते हैं और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है सो उस की गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्षों का नाम सतयुग रक्खा है (१२९६०००) बारह लाख छानवे हजार वर्षों का नाम त्रेता (८६४०००) आठ लाख चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख वत्तीस हजार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं जिन का चतुर्युगी नाम है । एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड सरसठ लाख बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे ६ छः मन्वन्तर मिल कर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब चौरासी करोड तीन लाख बीस हजार वर्ष हुए और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हजार नवसौ छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख सत्ताईस हजार चौवीस वर्षों का भोग होनेवाला है । जानना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह करोड पांच लाख बत्तीस हजार नव सौ छहत्तर वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़ एकसठ लाख सत्तासी हजार चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं । इन में से यह वर्त्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवां है जिस को आर्य लोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेतीसवां संवत् कहते हैं । जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं उन एक हजार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रक्खी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जानना चाहिये सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इस को बना रखता है इसी का नाम ब्राह्मदिन रक्खा है और हजार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटा के प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है उस का नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है अर्थात् सृष्टि के वर्त्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है यह जो वर्त्तमान

ब्राह्मदिन है इस के (१९६०८५२९७६) एक अर्ब छानवे करोड़ आठलाख बावन हज़ार नवसौ छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं और (२३३३२२७०२४) दो अर्ब तेतीस करोड़ बत्तीस लाख सत्ताईस हज़ार चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे है इन में से अन्त का यह चौबीसवा वर्ष भोग रहा है आगे आनेवाले भोग के वर्षों में से एक २ घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक २ वर्ष मिलाते जाना चाहिये जैसे आजपर्य्यन्त घटाते बढाते आये हैं। ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने ससार के वर्त्तमान और प्रलय की सज्ञा की है इसीलिये इसका नाम ब्राह्मदिन है इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्ष्य के लिये लिख चुके है सो देख लेना इन श्लोकों में दैववर्षों की गणना की है अर्थात् चारों युगों के बारह हज़ार (१२०००) वर्षों की देवयुग सज्ञा की है इसी प्रकार असख्यात मन्वन्तरों में कि जिन की सख्या नहीं हो सकती अनेक वार सृष्टि हो चुकी है और अनेक वार होगी सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्यलोग सुख से गिन लें इसीलिये यह ब्राह्मदिन आदि सज्ञा बाधी हैं और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रतिमन्वन्तर में बदलता जाता है इसीलिये मन्वन्तर सज्ञा बाधी है वर्त्तमान सृष्टि की कल्पसज्ञा और प्रलय की विकल्पसज्ञा की है और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करना चाहिये कि (एक दशशतं चैव०) एक (१) दश (१०) शत (१००) हज़ार (१०००) दशहज़ार (१००००) लाख (१०००००) नियुत (१००००००) करोड़ (१०००००००) अर्बुद (१०००००००००) वृन्द (१००००००००००) खर्व (१०००००००००००) निखर्व (१००००००००००००) शख (१०००००००००००००) पद्म (१००००००००००००००) सागर (१०००००००००००००००) अन्त्य (१००००००००००००००००) मध्य (१०००००००००००००००००) और परार्द्ध्य (१००००००००००००००००००) और दश २ गुणा बढा कर इसी गणित से सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिष् ग्रन्थों में गिनती की है * (सहस्रस्यप्र०) सब ससार की सहस्र सज्ञा है तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी सहस्रसज्ञा लीजाती है क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्त्तमान है सो हे परमेश्वर ! आप इस हज़ार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो इसी प्रकार ज्योतिष्शास्त्र में यथावत् वर्षों की सख्या आर्यलोगों ने गिनी है

*कहीं २ इसी सख्या को १९ उन्नीस अक पर्यन्त गिनते है सो यहा भी जान लेना।

सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन२ गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणितविद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं अर्थात् परम्परा से सुनते सुनाते लिखते लिखाते और पढते पढाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते है। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है क्योंकि आर्य्य लोग नित्यप्रति ओं तत्सत् परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते है कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए है और बही खाते की नाईं लिखते लिखाते पढते पढाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्यान्ह के निकट दिन आया है और जितने वर्ष वैवस्वत मनु के भोग होने को बाकी है उतने ही मध्याह्न में बाकी रहे है इसीलिये यह लेख है (श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे०) यह वैवस्वत मनु का वर्त्तमान है इस के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवा कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष ऋतु अयन मास पक्ष दिन नक्षत्र मुहूर्त लग्न और पल आदि समय में हम ने फलाना काम किया था और करते हैं अर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १९३३ फाल्गुन मास कृष्णपक्ष षष्ठी शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हम ने लिखी है इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य्यलोग बालक से वृद्ध पर्य्यन्त करते और जानते चले आये हैं। जैसे बही खाते में मिती डालते हैं वैसे ही महीना और वर्ष बढाते घटाते चले जाते हैं इसी प्रकार आर्य्य लोग तिथिपत्र में भी वर्ष मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं और यही इतिहास आज पर्य्यन्त सब आर्य्यावर्त्त देश में एकसा वर्त्तमान हो रहा है और सब पुस्तकों में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है इसी लिये इस को अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके बराबर-मिती वार लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक २ आर्य्य लोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है और इस से यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त आर्य्य लोग ही बड़े २ विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं। जब जैन और मुसल्मान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे तब आर्य्य लोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया और जो पुस्तक ज्योतिषशास्त्र के बच गये हैं उन में और उन के अनुसार जो वार्षिकपञ्चाङ्ग पत्र बनते जाते है इन में भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती है, इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता। यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिये है कि पूर्वापर

काल का प्रमाण यथावत् सब को विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो सो यह बड़ा उत्तम काम है इस को सब लोग यथावत् जान लेवें परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिये बिगाड रक्खा है यह शोक की बात है और टके के लोभ ने भी जो इस के पुस्तकव्यवहार को बना रक्खा नष्ट न होने दिया यह बड़े हर्ष की बात है। चारों युगों के चार भेद और उन के वर्षों की घट बढ संख्या क्यों हुई है इस की व्याख्या आगे करेंगे वहा देख लेना चाहिये यहा इस का प्रसग नहीं है इसलिये नहीं लिखा ॥

एतावता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलराद्यभिधैर्यूरोपाख्यखण्डस्थैर्मनुष्यरचितो वेदोस्ति श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तयच्चोक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति तत्सर्वं भ्रममूलमस्तीति वेद्यम् तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च ॥

इति वेदोत्पत्तिविचार ॥

भाषार्थ

इस से जो अध्यापक विलसन साहब और अध्यापक मोक्षमूलर साहब आदि यूरोपखण्ड वासी विद्वानों ने बात कही है कि वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उन की यह बात ठीक नहीं है और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए कोई (२९००) उनतीस सौ वर्ष कोई (३०००) तीन हज़ार वर्ष और कोई कहता है (३१००) एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, उन की यह भी बात झूठी है क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्प पठन विद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उन को नहीं होता इस से यह जानना अवश्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके है इस से क्या सिद्ध हुआ कि जिन २ ने अपनी २ देशभाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है उन २ का भी व्याख्यान मिथ्या है क्योंकि जैसा प्रथम लिख आये हैं जब पर्यन्त हजार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे ॥

इति वेदोत्पत्तिविचार ॥

अथ वेदानां नित्यत्वविचारः

ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् ॥

भाषार्थ

अब वेदों के नित्य होने का विचार किया जाता है सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इस से वे स्वतः नित्यस्वरूप ही है क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है ॥

अत्र केचिदाहुः । न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति । शब्दोऽनित्यः कार्य्यत्वात् । घटवत् । यथा घटः कृतोस्ति तथा शब्दोपि । तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्य्यम् । नैवं मन्यताम् । शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात् । ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति । येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्य्याश्च कुतः । यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तस्तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति । तद्विद्यामयत्वाद्वेदानामनित्यत्वं नैव घटते ॥

भाषार्थ

प्र०—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते है कि वेदों में शब्द छन्द पद और वाक्यों के योग होने से नित्य नहीं हो सकते जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा क्योंकि बनाने के पहिले नहीं थे और प्रलय के अन्त में भी न रहेंगे इस से वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है । उ०—ऐसा आप को कहना उचित नहीं क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है एक नित्य और दूसरा कार्य, इन में से जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते है वे कार्य होते है क्योंकि जिस का ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है उस का सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है इस से वेद भी उस की विद्यास्वरूप होने से नित्य ही है क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं होसकती ॥

किं च भो सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्य्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते । अत्रोच्यते । इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते तथास्मत् क्रि-

काल का प्रमाण यथावत् सब को विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो सो यह बड़ा उत्तम काम है इस को सब लोग यथावत् जान लेवें परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिये बिगाड रक्खा है यह शोक की बात है और टके के लोभ ने भी जो इस के पुस्तकव्यवहार को बना रक्खा नष्ट न होने दिया यह बड़े हर्ष की बात है। चारों युगों के चार भेद और उन के वर्षों की घट बढ़ संख्या क्यों हुई है इस की व्याख्या आगे करेंगे वहां देख लेना चाहिये यहां इस का प्रसंग नहीं है इसलिये नहीं लिखा ॥

एतावता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलराद्यभिधैर्य्यूरोपाख्यखण्डस्थैर्मनुष्यरचितो वेदोऽस्ति श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं यच्चोक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति तत्सर्वं भ्रममूलमस्तीति वेद्यम्। तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च ॥

इति वेदोत्पत्तिविचारः ॥

भाषार्थ

इस से जो अध्यापक विलसन साहब और अध्यापक मोक्षमूलर साहब आदि यूरोपखण्ड वासी विद्वानों ने बात कही है कि वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उन की यह बात ठीक नहीं है और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए कोई (२९००) उनतीस सौ वर्ष कोई (३०००) तीन हज़ार वर्ष और कोई कहता है (३१००) एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, उन की यह भी बात झूठी है क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्प पठन विद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उन को नहीं होता इस से यह जानना अवश्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं इस से क्या सिद्ध हुआ कि जिन २ ने अपनी २ देशभाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है उन २ का भी व्याख्यान मिथ्या है क्योंकि जैसा प्रथम लिख आये हैं जब पर्यन्त हजार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे ॥

इति वेदोत्पत्तिविचारः ॥

अथ वेदानां नित्यत्वविचारः

ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् ॥

भाषार्थ

अब वेदों के नित्य होने का विचार किया जाता है सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इस से वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है ॥

अत्र केचिदाहुः । न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति । शब्दोऽनित्यः कार्य्यत्वात् । घटवत् । यथा घटः कृतोस्ति तथा शब्दोपि । तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्य्यम् । नैवं मन्यताम् । शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात् । ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति । येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्य्याश्च कुतः । यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तस्तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति । तद्विद्यामयत्वाद्वेदानामनित्यत्वं नैव घटते ॥

भाषार्थ

प्र०–इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते है कि वेदों में शब्द छन्द पद और वाक्यों के योग होने से नित्यनहीं हो सकते जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा क्योंकि बनाने के पहिले नहीं थे और प्रलय के अन्त में भी न रहेंगे इस से वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है । उ०–ऐसा आप को कहना उचित नहीं क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है एक नित्य और दूसरा कार्य, इन में से जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में है वे सब नित्य ही होते हैं और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे कार्य होते है क्योंकि जिस का ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है उस का सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है इस से वेद भी उस की विद्यास्वरूप होने से नित्य ही है क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं होसकती ॥

किं च भो सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्य्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते । अत्रोच्यते । इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते तथास्मत् क्रि-

यापक्षे च नेतरस्मिन् । अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं वयं मन्यामहे । किं च न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते । तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात् । यथास्मिन्कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति तथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च । कुतः । ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च । अतएवेदमुक्तमृग्वेदे । सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदिति । अस्यायमर्थः । सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थं यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत्तथैव तेनास्मिन्कल्पेपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते । कुतः । ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्य्यं वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात् ॥

भाषार्थ

प्र०—जब सब जगत् के परमाणु अलग २ हो के कारणरूप होजाते हैं तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् है उसका अभाव हो जाता है, उससमय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव होजाता है फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो ? उ०—यह बात पुस्तक पत्र मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है तथा हमलोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है। वेदपक्ष में नहीं घटती क्योंकि वेद तो शब्द अर्थ और सम्बन्धस्वरूप ही है मसी कागज पत्र पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप नहीं है। यह जो मसी लेखनादि क्रिया है सो मनुष्यों की बनाई है इस से यह अनित्य है और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं इस से क्या सिद्ध हुआ कि पढने पढाने और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते क्योंकि वे बीजाङ्कुरन्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्त्तमान रहते हैं सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत् के नहीं रहने से उन की अप्रसिद्धि होती है इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ और सम्बन्ध वेदों मे है इसी प्रकार से पूर्वकल्प में थे और आगे भी होंगे क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है उन के एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता, सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की है कि इन में शब्द अर्थ सम्बन्ध पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्त्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है उसकी वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये ॥

अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते । तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः । नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति । इदं वचनं प्रथमाह्निकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येऽस्ति तथा श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः । इदम् अइउण् सूत्रभाष्ये चोक्तमिति । अस्यायमर्थः । वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति । कुतः । शब्दानां मध्ये कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजाना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः । अपायो लोपो निवृत्तिर्ग्रहणम् उपजन आगमः । विकार आदेशः एते न विद्यन्ते येषु शब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः ॥

भाषार्थ

यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इस में व्याकरणादि शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं इन में से जो व्याकरण शास्त्र है सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्दविद्या का मुख्य मूल प्रमाण है उस के बनाने वाले महामुनि पाणिनि और और पतञ्जलि है उन का ऐसा मत है कि सब शब्द नित्य हैं क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं उन का अभाव वा आगम कभी नहीं होता तथा कान से सुन के जिन का ग्रहण होता है बुद्धि से जो जाने जाते हैं जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं और जिन का निवास का स्थान आकाश है उन को शब्द कहते है इस से वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द और वेदों से जो शब्द लोक में आये है वे लौकिक कहाते हैं वे भी सब नित्य ही होते है क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं तथा इन में लोप आगम और विकार नहीं बन सकते इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य है ॥

ननु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं सगच्छते । इत्येव प्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः । सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ॥ एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥ १ ॥ दाधाध्वदावित्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम् । अस्यायमर्थः सर्वे सघाता सर्वेषां पदानां स्थाने आदेशा भवन्ति । अर्थाच्छब्दसंघातान्तराणां स्थानेऽन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते । तद्यथा । वेदपार । गम् । ङ । सुँ । भू । शप् । तिप् । इत्येतस्य वाक्यसमुदायस्य स्थाने वेदपारगोऽभवदितीदं समुदायान्तरं प्रयुज्यते । अस्मिन्प्रयुक्तसमुदाये गम् ङ सुँ शप् तिप् इत्येतेषाम् अस्

इ् उँ श् प् इ प् इत्येतेऽपयन्तीति केषांचिद्बुद्धिर्भवति सा भ्रममूलैवास्ति। कुतः। शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणात्। नैव शब्दस्यैकदेशापाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्य्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमुपपन्नं भवत्यतः। तथैवाडागमो भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकारे चैवं संगति कार्य्येति। (श्रोत्रोपलब्धिरिति) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं योग्य उच्चारणेनाभिप्रकाशितो य आकाशे देशेऽधिकरणे वर्त्तते स शब्दो भवतीति बोध्यम्। अनेन शब्दलक्षणेनापि शब्दो नित्य एवास्तीत्यवगम्यते। कथम्। उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नक्रियायाः क्षणप्रध्वंसित्वात्। एकैकवर्णवर्त्तिनी वाक् इति महाभाष्यप्रामाण्यात्। प्रतिवर्णं वाक्क्रिया परिणमते अतस्तस्या एवानित्यत्वं गम्यते न च शब्दस्येति ॥

भाषार्थ

प्र०-गणपाठ अष्टाध्यायी और महाभाष्य में अक्षरों के लोप आगम और विकार आदि कहे हैं फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे होसकता है इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि शब्दों के समुदायों के स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोग मात्र होता है जैसे वेदपारगम् ड सुँ भू शप् तिप् इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में वेदपारगोऽभवत् इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है इस में किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि अम् ड् उँ श् प् इप् इन की निवृत्ति होजाती है सो उस की बुद्धि में भ्रममात्र है क्योंकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनि मुनि जी का है जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ किये हैं सो मत इस प्रकार से है कि शब्द नित्य ही होते हैं क्योंकि जो उच्चारण और श्रवणादि हम लोगों की क्रिया है उस के क्षणभङ्ग होने से अनित्य गिनी जाती है इससे शब्द अनित्य नहीं होते क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है वही वर्ण २ के प्रति अन्य २ होती जाती है परन्तु शब्द तो सदा अखण्ड एकरस ही बने रहते हैं ॥

ननु च भोः शब्दोऽप्युपरतागतो भवति। उच्चारित उपागच्छति। अनुच्चारितोऽनागतो भवति। वाक्क्रियावत्। पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं भवेत्। अत्रोच्यते। नाकाशवत् पूर्वंस्थितस्य शब्दस्य साधनाभावादभिव्यक्तिर्भवति। किन्तु तस्य प्राणवाक्क्रियया अभिव्यक्तिश्च। तद्यथा। गौरित्यत्र यावद्वाग्गकारेऽस्ति न तावदौकारे यावदौकारे न तावद्विसर्जनीये। एवं वाक्क्रियोच्चारणस्यापायोपजनौ भवतः न च शब्दस्याखण्डस्यैकरसस्य सर्वत्रोपलब्ध-

त्वात् । यत्र खलु वायुवाक्क्रिये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे अपि न भवतः। अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्तीत्यादि व्याकरणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति किमुत वैदिकानामिति ॥

भाषार्थ

प्र०— शब्द भी उच्चारण किये के पश्चात् नष्ट हो जाता है और उच्चारण के पूर्व सुना नहीं जाता है जैसे उच्चारणक्रिया अनित्य है वैसे ही शब्द भी अनित्य हो सकता है फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो? उ०—शब्द तो आकाश की नाईं सर्वत्र एकरस भर रहे है परन्तु जब उच्चारणक्रिया नहीं होती तब प्रसिद्ध सुनने मे नहीं आते। जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं तब शब्द प्रसिद्ध होते हे। जैसे गौ इस के उच्चारण में जब पर्यन्त उच्चारणक्रिया गकार में रहती है तब पर्यन्त औकार में नहीं, जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है शब्दों का नहीं किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे है परन्तु जब पर्यन्त वायु और वाक् इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती तब पर्यन्त शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता इस से यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की नाईं नित्य ही है जब व्याकरण शास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते है तो वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही बने रहते हैं ॥

एवं जैमिनिमुनिनापि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम् । नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । पूर्वमीमांसा । अ० १ पा० १ सू० १८ अस्यायमर्थः । (तु) शब्देनानित्यशङ्का निवार्य्यते । विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति कस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात् । शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति । अन्यथाऽयं गोशब्दार्थोऽस्तीत्यभिज्ञाऽनित्येन शब्देन भवितुमयोग्यास्ति । नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् । सर्वमेतत्सङ्गतं स्यात् । अतश्चैकमेव गोशब्दं युगपदनेकेषु स्थलेष्वनेक उच्चारका उपलभन्ते पुनः पुनस्तमेव चेति । एवं जैमिनिना शब्दनित्यत्वेऽनेके हेतवः प्रदर्शिताः ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है शब्द में जो अनित्य होने की शङ्का आती है उस का (तु) शब्द से निवारण किया है शब्द नित्य ही है अर्थात् नाशरहित है क्योंकि उच्चारणक्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है सो अर्थ

के जनाने ही के लिये है इस से शब्द अनित्य नहीं हो सकता जो शब्द का उच्चारण किया जाता है उस की ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्रद्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। जो शब्द अनित्य होता तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा फिर अर्थ को कौन जनावे और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण वारवार भी होता है इस कारण से भी शब्द नित्य हैं जो शब्द अनित्य होता तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सक्ती, सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमीमांसा शास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है ॥

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह । तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । वैशेषिके । अ० १ आ० १ सू० ३ अस्यायमर्थः तद्वचनात्तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद्धर्मस्यैव कर्त्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम् ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र में कणाद मुनि ने भी कहा है (तद्वचना०) वेद ईश्वरोक्त हैं इन में सत्य विद्या और पक्षपातरहित धर्मका ही प्रतिपादन है इससे चारों वेद नित्य हैं ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है क्योंकि ईश्वर नित्य है इससे उस की विद्या भी नित्य हैं ॥

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह । मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् । अ० २ आ० १ सू० ६७ अस्यायमर्थः । तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्य्यम् । कुतः । आप्तप्रामाण्यात् धर्मात्मभिः कपटछलादिदोषरहितैर्दयालुभिः सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतः किंवत् । मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् । यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति । यथा चायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्तौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नस्यापि भागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति । तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्यापि प्रामाण्यमङ्गीकार्य्यम् । एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम् । द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम् । य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति । नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम् । अस्यायमभिप्रायः यथाप्तोपदेशस्य

शब्दस्य प्रामाण्यं भवति । तथा सर्वेषामेतेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां शब्दानां प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद्वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम् । अत ईश्वरविद्यामयत्वाद्वेदानां नित्यत्वमेवोपपन्नं भवतीति दिक् ॥

भाषार्थ

वैसे ही न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं (मन्त्रायु०) वेदों को नित्य ही मानना चाहिये क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्यही मानते आये हैं उन आप्तों का अवश्य ही प्रमाण करना चाहिये क्योंकि आप्त लोग वे होते हैं जो धर्मात्मा कपट छलादि दोषों से रहित सब विद्याओं से युक्त महायोगी और सब मनुष्यों के सुख होने के लिये सत्य का उपदेश करनेवाले हैं जिन में लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता उन्हों ने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है जिन्हों ने आयुर्वेद को बनाया है जैसे आयुर्वेद वैद्यक शास्त्र के एकदेश में कहे औषध और पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, जैसे उस के एकदेश के कहे के सत्य होने से उस के दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है इसी प्रकार वेदों का भी प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है क्योंकि वेद के एक देश में कहे अर्थ का सत्यपन विदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं कि जिन का अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो उन का भी नित्य प्रमाण अवश्य करना चाहिये क्योंकि आप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता (मन्त्रायु०) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो आप्त लोग हैं वे वेदों के अर्थ को देखने दिखाने और जनाने वाले हैं जो २ उस २ मन्त्र के अर्थ के द्रष्टा वक्ता होते हैं वे ही आयुर्वेद आदि के बनानेवाले हैं जैसे उन का कथन आयुर्वेद में सत्य है वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है सो भी सत्य ही है ऐसा मानना चाहिये क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त सब का गुरु परमेश्वर है उस के किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये ॥

अत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जलिमुनिरप्याह । स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ पातञ्जलयोगशास्त्रे । अ० १ पा० १ सू० २६ । यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानामस्मदादीनामिदानींतनानामग्रे भविष्यतां च सर्वेषामेव ईश्वर एव गुरुरस्ति । गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स गुरुः । स च सर्वदा नित्योऽस्ति ।

तत्र कालगतेरप्रचारत्वात् । न स ईश्वरोऽविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो भवति । यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्तत्वाद्वेदानामपि सत्यार्थवत्वनित्यत्वे वेद्ये इति ॥

भाषार्थ

इस विषय में योगशास्त्र के कर्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं (स एष०) जो कि प्राचीन अग्नि वायु आदित्य अंगिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन से लेके हमलोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं इन सब का गुरु परमेश्वर ही है क्योंकि वेदद्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है सो ईश्वर नित्य ही है क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है और वह अविद्या आदि क्लेशों से और पाप कर्म तथा उन की वासनाओं के भोगों से अलग है । जिसमें अनन्तविज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये ॥

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्याये कपिलाचार्योऽप्यत्राह । निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ॥ सू० ५१ ॥ अस्यायमर्थः । वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात्स्वतः प्रामाण्यनित्यत्वे स्वीकार्ये इति ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में कपिलाचार्य्य भी कहते हैं कि (निज०) परमेश्वर की (निज) अर्थात् स्वाभाविक जो विद्या शक्ति है उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतः प्रमाण सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये ॥

अस्मिन्विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिरप्याह । सू० शास्त्रयोनित्वात् अ०१ पा०१ सू०३ । अस्यायमर्थः । ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति । यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति सिद्धं लोके किमु वक्तव्यमित्तीदं वचनं शङ्कराचार्य्यैः शास्त्रसूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम् । अतः किमागतं

सर्वज्ञस्येश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमर्हतीति । अन्य-
च्च । तस्मिन्नेवाध्याये । सू० अतएव च नित्यत्वम् । पा०३ सू० २९ । अस्याय-
मर्थः अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद्वेदानां स्वतःप्रामाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं
सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नित्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम् । न वे-
दस्य प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमन्यत्प्रमाणं स्वीक्रियते । किन्त्वेतत्साक्षिवद्विज्ञेयम् । वे-
दानां स्वतःप्रमाणत्वात् । सूर्यवत् । यथा सूर्यः स्वप्रकाशः सन् संसारस्था-
न्महतोऽल्पांश्च पर्वतादीन् त्रसरेण्वन्तान्पदार्थान्प्रकाशयति तथा वेदोपि
स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम् ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यास जी ने भी लिखा है (शास्त्र०) इस सूत्र के अर्थ में शङ्कराचार्य्य ने भी वेदों को नित्य मान के व्याख्यान किया है कि ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं सूर्य्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करनेवाले हैं उनका बनाने वाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बनासके ऐसा सम्भव कभी नहीं हो सकता किन्तु वेदार्थविस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का सम्भव होता है। जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है उन में विद्या के एक२ देश का प्रकाश किया है सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं उन को सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढने विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है अन्यथा नहीं ऐसा शङ्कराचार्य्य ने भी कहा है इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य्य लोगों की साक्षी है और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है उस के किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं अन्य का बनाया ऐसा ग्रन्थ कभी नहीं हो सकता (अतएव०) इस सूत्र से भी यही आता है कि वेद नित्य हैं और सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के समान जानना चाहिये क्योंकि वे अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है अन्य का नहीं और जैसे सूर्य्य प्रकाशस्वरूप है पर्वत से लेके त्रसरेणु पर्य्यन्त पदार्थों का प्रकाश करता है वैसे वेद भी स्वयंप्रकाश हैं और सब सत्यविद्याओं का भी प्रकाश कर रहे हैं ॥

अतएव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह ।
सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम् ॥ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥१॥ य० अ०४० मं०८ ॥

अस्यायमभिप्रायः यः पूर्वोक्तः सर्वव्यापकादिविशेषणयुक्त ईश्वरोस्ति (स पर्य्यगात्) परितः सर्वतोऽगात् गतवान्प्राप्तवानस्ति । नैवैकः परमाणुरपि तद्व्याप्त्या विनास्ति (शुक्र) तद्ब्रह्म सर्वजगत्कर्त्तृवीर्य्यवदनन्तबलवदस्ति (अकायं) तत्स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम् (अव्रणं) नैवैतस्मिँश्छिद्रं कर्त्तुं परमाणुरपि शक्नोति । अतएव छेदरहितत्वादक्षतम् (अस्नाविरं) तन्नाडीसम्बन्धरहितत्वाद्बन्धनावरणविमुक्तम् (शुद्धं) तदविद्यादिदोषेभ्यः सर्वदा पृथग्वर्त्तमानम् (अपापविद्धम्) नैव तत्पापयुक्तं पापकारि च कदाचिद्भवति (कविः) सर्वज्ञः (मनीषी) यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति (परिभूः) सर्वेषामुपरि विराजमानः (स्वयम्भूः)यो निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः । स एव सर्वेषां पिता नह्यस्य कश्चित् जनकः स्वसामर्थ्येन सहैव सदा वर्त्तमानोस्ति । (शाश्वतीभ्यः) य एवंभूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा (सः) सर्गादौ स्वकीयाभ्यः शाश्वतीभ्यो निरंतराभ्यः समाभ्यः प्रजाभ्यो याथातथ्यतो यथार्थस्वरूपेण वेदोपदेशेन (अर्थान् व्यदधात्) विधत्तवानर्थाद्यदा यदा सृष्टिं करोति तदा तदा प्रजाभ्यो हितायादिसृष्टौ सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुपदिशति। अतएव नैव वेदानामनित्यत्वं केनापि मन्तव्यम् । तस्य विद्यायाः सर्वदैकरसवर्त्तमानत्वात् ॥

भाषार्थः

ऐसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्वतः प्रमाण होने का उपदेश किया है सो आगे लिखते हैं (स पर्यगात्) यह मन्त्र ईश्वर और उस के किये वेदों का प्रकाश करता है कि जो ईश्वर सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त है सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है उस की व्याप्ति से एक परमाणु भी रहित नहीं है सो ब्रह्म (शुक्र) सब जगत् का करने वाला और अनन्त विद्यादिबल से युक्त है (अकाय) जो स्थूल सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता (अव्रण) जिस में एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता इसी से वह सर्वथा छेदरहित है (अस्नाविरं) वह नाडियों के बन्धन से अलग है जैसा वायु और रुधिर

नाड़ियों में बंधा रहता है ऐसा बन्धन परमेश्वर में नहीं होता (शुद्ध) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश और सब दोषों से पृथक् है (अपापविद्धम्) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करने वाला कभी नहीं होता क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है (कवि) जो सब का जानने वाला है (मनीषी) जो सब का अन्तर्यामी है और भूत भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है (परिभू) जो सब के ऊपर विराजमान हो रहा है (स्वयभू) जो कभी उत्पन्न नहीं होता और उस का कारण भी कोई नहीं किन्तु वही सब का कारण अनादि और अनन्त है, इस से वही सब का माता पिता है और अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्त्तमान रहता है; इत्यादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है (शाश्वतीभ्य०) उसने सृष्टि की आदि में अपनी प्रजा को जो कि उस के सामर्थ्य में सदा से वर्त्तमान है उस के सब सुखों के लिये (अर्थान् व्यदधात्) सत्य अर्थों का उपदेश किया है इसी प्रकार जब २ परमेश्वर सृष्टि को रचता है तब २ प्रजा के हित के लिये सृष्टि की आदि में सब विद्याओं से युक्त वेदों का भी उपदेश करता है और जब २ सृष्टि का प्रलय होता है तब २ वेद उस के ज्ञान में सदा बने रहते हैं इस से इन को सदैव नित्य मानना चाहिये ॥

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोस्ति । तथा युक्त्यापि । तद्यथा । नासत आत्मलाभो न सत आत्महानम् । योस्ति स भविष्यति । इति न्यायेन वेदाना नित्यत्वं स्वीकार्य्यम् । कुत । यस्य मूलं नास्ति नैव तस्य शाखादयः सभवितुमर्हन्ति । बन्ध्यापुत्रविवाहदर्शनवत् पुत्रो भवेच्च तदा बन्ध्यात्व न सिध्येत् स नास्ति चेत्पुनस्तस्य विवाहदर्शने कथं भवतः । एवमेवात्रापि विचारणीयम् । यदीश्वरे विद्यानन्ता न भवेत्कथमुपदिशेत् । स नोपदिशेच्चेन्नैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासबन्धो दर्शनञ्च स्याताम् । निर्मूलस्य प्ररोहाभावात् । नह्यस्मिन् जगति निर्मूलमुत्पन्न किञ्चिद् दृश्यते । यस्य सर्वेषा मनुष्याणा साक्षादनुभवोऽस्ति सोऽत्र प्रकाश्यते । यस्य प्रत्यक्षोऽनुभवस्तस्यैव सस्कारो यस्य सस्कारस्तस्यैव स्मरण ज्ञान तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो नान्यथेति । तद्यथा । येन सस्कृतभाषा पठ्यते तस्याऽस्या एव सस्कारो भवति नाऽन्यस्या । येन देशभाषाधीयते तस्या एव सस्कारो भवति नातोऽन्यथा । एव सृष्ट्यादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्या विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभव स्यात् । पुनः कथ सस्कारस्तेन विना कुत स्मरण न च स्मरणेन विना विद्याया लेशोपि कस्यचिद्भवितुमर्हति ॥

भाषार्थ

जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य है वैसे ही युक्ति से भी उन का नित्यपन सिद्ध होता है क्योंकि असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सकता तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता। जो सत्य है उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है और जो वस्तु ही नहीं है उससे दूसरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती। इस न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है क्योंकि जिस का मूल नहीं होता है उस की डाली पत्र पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते जैसे कोई कहे कि बन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा, यह उस की बात हंसने की है क्योंकि जो उस के पुत्र होता तो वह बन्ध्या ही क्यों होती और जब पुत्र ही नहीं है तो उस का विवह और दर्शन कैसे हो सकते हैं, वैसे ही जब ईश्वर में अनन्तविद्या है तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती तो वह उपदेश कैसे कर सकता और वह जगत् को भी कैसे रच सकता। जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या जो यथार्थ ज्ञान है सो कभी नहीं होता क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा असम्भव है इस से यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूल को प्राप्त होके मनुष्यों में विद्यारूप वृक्ष विस्तृत हुआ है इस को और भी युक्ति है कि जिस का संसार में मनुष्यों को अनुभव और प्रत्यक्षज्ञान होता है उसी का दृष्टान्त देते हैं देखो कि जिस का साक्षात् अनुभव होता है उसी का ज्ञान में संस्कार होता है, संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है अन्यथा नहीं। जो संस्कृतभाषा को पढता है उस के मन में उसी का संस्कार होता है अन्यभाषा का नहीं और जो किसी देशभाषा को पढता है उस को देशभाषा का संस्कार होता है अन्य का नहीं, इस प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता तो किसी मनुष्य को विद्या का संस्कार नहीं होता, जब विद्या का संस्कार न होता तो उस का स्मरण भी नहीं होता, स्मरण से बिना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सकता। इस युक्ति से क्या जाना जाता है कि ईश्वर के उपदेश से वेदों को सुन पढ और विचार के ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार आज पर्यन्त होता चला आया है अन्यथा कभी नहीं हो सकता॥

किञ्च भोः मनुष्याणां स्वाभाविकी या प्रवृत्तिर्भवति तत्र सुखदुःखानुभवः तयोत्तरोत्तरकाले क्रमानुक्रमाद्विद्यावृद्धिर्भविष्यत्येवपुनः किमर्थं मीश्वरोक्तेर्वेदो स्वीकारः कर्त्तव्य इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः। एतद्वेदोत्पत्तिप्रकरणे परिहृतं तत्रैव निर्णय

यथानेदानीमन्येभ्यः पठनेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवति तस्य ज्ञानोन्नतिश्च ।तथा नैवेश्वरोपदेशागमेन विना कस्यापि विद्याज्ञानोन्नतिर्भवेत्। अशिक्षितबालकवनस्थवत् । यथोपदेशमन्तरा न बालकानां वनस्थानां च विद्यासनुष्यभावाविज्ञाने अपि भवतः पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा तस्मादीश्वरादेव या वेदविद्याऽऽगता सा नित्यैवास्ति तस्य सत्यगुणवत्त्वात् । यन्नित्यं वस्तु वर्त्तते तस्य नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति तदाधारस्य नित्यत्वात् । नैवाधिष्ठानमन्तरा नामगुणकर्मादयो गुणाः स्थितिं लभन्ते तेषां पराश्रितत्वात् । यन्नित्यं नास्ति न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति । नित्यं चोत्पत्तिविनाशाभ्यामितरद्भवितुमर्हति । उत्पत्तिर्हि पृथग्भूतानां द्रव्याणां यः संयोगविशेषाद्भवति । तेषामुत्पन्नानां कार्य्यद्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संघाताभावात् । अदर्शनं च विनाशः । ईश्वरस्यैकरसत्वान्नैव तस्य संयोगवियोगाभ्यां स्पर्शोपि भवति । अत्र कणादमुनिकृतं सूत्रं प्रमाणमस्ति । सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥ वैशेषिके । अ० ४ आ० ४ सू० १ ॥ अस्यायमर्थः । यत्कार्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवति तदनित्यमुच्यते तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात् । यत्तु कस्यापि कार्यं नैव भवति किन्तु सदैव कारणरूपमेव तिष्ठति । तन्नित्यं कथ्यते । यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कर्त्रपेक्षं भवति कर्त्तापि संयोगजन्यश्चेत्तर्हि तस्याप्यन्योन्यः कर्त्तास्तीत्यागच्छेत् । एवं पुनः पुनः प्रसङ्गादनवस्थापत्तिः । यच्च संयोगेन प्रादुर्भूतं नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगकरणे सामर्थ्यं भवितुमर्हति तस्मात्तेषां सूक्ष्मत्वात् । यद्यस्मात्सूक्ष्मं तत्तस्यात्मा भवति स्थूले सूक्ष्मस्य प्रवेशार्हत्वात् । अयोग्निवत् । यथा सूक्ष्मत्वादग्निः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति । तथा जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वात्तत्कणान् प्रविश्य संयुक्तमेकं पिण्डं करोति छिनत्ति च । तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भूतो विभुरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्त्तुमर्हति न चान्यथा । यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति । तथेश्वरेपि भवेत् । अन्यच्च । यतः संयोगवियोगारम्भो भवति । स तस्मात्पृथग्भूतोस्ति तस्य संयोगवियोगारब्धस्यादिकारणत्वात् । आदिकारणस्याभावात्संयोगवियोगारम्भस्यानुत्पत्तेश्च । एवंभूतस्य सदा निर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद्वेदानां प्रादुर्भावात्तस्य ज्ञाने सदैव वर्त्तमानत्वात्सत्यार्थत्वं नित्यत्वं चैतेषामस्तीति सिद्धम् ॥

इति वेदानां नित्यत्वविचारः ॥

भाषार्थ

प्र०—मनुष्यों की स्वभाव से जो चेष्टा है उस में सुख और दुःख का अनुभव भी होता है उस से उत्तर २ काल में क्रमानुसार से विद्या की वृद्धि भी अवश्य होगी तब वेदों को भी मनुष्य लोग रचलेंगे फिर ईश्वर ने वेद रचे ऐसा क्यों मानना ? उ०—इस का समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया है वहा यही निर्णय किया है कि जैसे इस समय में अन्य विद्वानों से पढ़े विना कोई भी विद्यावान् नहीं होता और इसी के विना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी देखने में नहीं आती वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के विना किसी मनुष्य की विद्या और ज्ञान की बढती कभी नहीं हो सकती। इस में अशिक्षित बालक और वनवासियों का दृष्टान्त दिया था कि जैसे उस बालक और वन में रहने वाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता तथा अच्छे प्रकार उपदेश के विना उन को लोकव्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता फिर विद्या की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है। इससे क्या जानना चाहिये कि परमेश्वर के उपदेश वेदविद्या आने के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या और ज्ञान की उन्नति करनी भी सहज हुई है क्योंकि उस के सभी गुण सत्य है इससे उस की विद्या जो वेद है वह भी नित्य ही है जो नित्य वस्तु है उस के नाम गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं क्योंकि उन का आधार नित्य है और विना आधार से नाम गुण और कर्मादि स्थिर नहीं हो सकते क्योंकि वे द्रव्यों के आश्रय सदा रहते हैं। जो अनित्य वस्तु है उस के नाम गुण और कर्म भी अनित्य होते हैं सो नित्य किस को कहना ? जो उत्पत्ति और विनाश से पृथक् है तथा उत्पत्ति क्या कहाती है कि जो अनेक द्रव्यों के संयोग विशेष से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना और जब वे पृथक् २ होके उन द्रव्यों के वियोग से जो कारण में उन की परमाणुरूप अवस्था होती है उस को विनाश कहते हैं और जो द्रव्य सयोग से स्थूल होते हैं वे चक्षु आदि इन्द्रियों से देखने में आते हैं फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमाणुओं का जब वियोग हो जाता है तब सूक्ष्म के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते इस का नाम नाश है क्योंकि अदर्शन को ही नाश कहते हैं जो द्रव्यसंयोग और वियोग से उत्पन्न और नष्ट होता है उसी को कार्य्य और अनित्य कहते हैं और जो सयोग वियोग से अलग है उस की न कभी उत्पत्ति और न कभी नाश होता है इस प्रकार का पदार्थ एक परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण है क्योंकि वह सदा अखण्ड एकरस ही बना रहता है इसी से उस को नित्य कहते हैं इस में कणाद मुनि के सूत्र का भी प्रमाण है (सत्कार०) जो किसी का कार्य्य है कि कारण से उत्पन्न हो के विद्यमान होता है उस को अनित्य कहते हैं जैसे मट्टी से घड़ा हो के वह नष्ट भी हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य कारण से सब जगत् उत्पन्न हो के

विद्यमान होता है फिर प्रलय में स्थूलाकार नहीं रहता किन्तु वह कारणरूप तो सदा ही बना रहता है इससे क्या आया कि जो विद्यमान हो और जिस का कारण कोई भी न हो अर्थात् स्वय कारणरूप ही हो उस को नित्य कहते है क्योंकि जो २ सयोग से उत्पन्न होता है सो २ बनाने वाले की अपेक्षा अवश्य रखता है, जैसे कर्म नियम और कार्य्य ये सब कर्त्ता नियन्ता और कारण को ही सदा जनाते हैं और जो कोई ऐसा कहे कि कर्ता को भी किसी ने बनाया होगा तो उससे पूछना चाहिये उस कर्त्ताके कर्त्ता को किस ने बनाया है इसी प्रकार यह अनवस्थाप्रसग अर्थात् मर्यादारहित होता है जिस की मर्यादा नहीं है वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सक्ता और जो सयोग से उत्पन्न होता है वह प्रकृति और परमाणु आदि के सयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सक्ता-इस से क्या आया कि जो जिस से सूक्ष्म होता है वही उस का आत्मा होता है अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट हो के उस के सब अवयवों में व्याप्त होता है और जैसे जल पृथ्वी में प्रविष्ट होके उस के कणों के सयोग से पिंडा करने में हेतु होता है तथा उस का छेदन भी करता है वैसे ही परमेश्वर सब सयोग और वियोग से पृथक् सब में व्यापक प्रकृति और परमाणु आदि से भी अत्यन्त सूक्ष्म और चेतन है इसीकारण से प्रकृति और परमाणु आदि द्रव्यों के सयोग करके जगत् को रच सक्ता है जो ईश्वर उन से स्थूल होता तो उन का ग्रहण और रचन कभी नहीं कर सक्ता क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं वे सूक्ष्म पदार्थ के नियम करने में समर्थ नहीं होते जैसे हम लोग प्रकृति और परमाणु आदि के सयोग और वियोग करने में समर्थ नहीं है क्योंकि जो सयोग वियोग के भीतर है वह उस के संयोग वियोग करने में समर्थ नहीं हो सकता तथा जिस वस्तु से सयोग वियोग का आरम्भ होता वह वस्तु सयोग और वियोग से अलग ही होता है क्योंकि वह सयोग और वियोग के आरम्भ के नियमों का कर्त्ता और आदिकारण होता है तथा आदिकारण के अभाव से सयोग और वियोग का होना ही असम्भव है। इससे क्या जानना चाहिये कि जो सदा निर्विकारस्वरूप अज अनादि नित्य सत्यसामर्थ्य से युक्त और अनन्तविद्यावाला ईश्वर है उस की विद्या से वेदों के प्रकट होने और उस के ज्ञान में वेदों के सदैववर्त्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त और नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है। यह संक्षेप से वेदों के नित्य होने का विचार किया ॥

इति वेदानां नित्यत्वविचार

अथ वेदविषयविचारः

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति । विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात् । तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति । तस्य परमेश्वरादारभ्य तृ

णपर्य्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात् । तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योस्ति । कुत अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्यखलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात् । अत्र प्रमाणानि । सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाᳬसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ कठोपनि० वल्ली२ म० १५ ॥ तस्य वाचकः प्रणवः । योगशास्त्रे । अ० १ पा० १ सू० २७ । ओ३म् खं ब्रह्म । यजु० अ० ४० । ओमिति ब्रह्म । तैत्तिरीयारण्यके । प्र० ७ अनु० ८ ॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ १ ॥ यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ २ ॥ मुण्डके १ खण्डे १ म० ५ । ६ ॥ एषामर्थः । (सर्वे वेदाः०) यत्परमपदं मोक्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति तदेवोंकारवाच्यमस्ति (तस्य०) तस्येश्वरस्य प्रणव ओंकारो वाचकोस्ति वाच्यश्चेश्वरः (ओम्०) ओमितिपरमेश्वरस्य नामास्ति तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनन्ति । आसमन्तादभ्यस्यन्ति मुख्यतया प्रतिपादयन्ति (तपांसि) सत्यधर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्य्यग्रहणमुपलक्षणार्थं ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि । तदेवामनन्ति । ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति । यद्ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमाना यदन्त्युपदिशन्ति च । हे नचिकेतः अहं यमो यदीदृशपदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि ॥ १ ॥ (तत्रापरा०) वेदेषु द्वे विद्ये वर्त्तेते अपरा परा चेति । तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम् ॥

भाषार्थ

अब वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन २ विषय किस २ प्रकार के हैं इस का विचार किया जाता है । वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं परन्तु उन में से चार मुख्य हैं (१) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना (२) दूसरा कर्म (३) तीसरा उपासना और (४) चौथा ज्ञान है । विज्ञान उस को कहते हैं कि जो कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों से

यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेके तृणपर्य्यन्त पदार्थों के साक्षाद्बोध का होना उन से यथावत् उपयोग का करना, इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है सो भी दो प्रकार का है एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उस की आज्ञा का बराबर पालन करना और दूसरा यह है कि उस के रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उन से कार्य्य सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन २ पदार्थ किस २ प्रयोजन के लिये रचे हैं और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है इस में आगे कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं (सर्वे वेदा ०) परम पद अर्थात् जिस का नाम मोक्ष है जिस में परब्रह्म को प्राप्त हो के सदा सुख में ही रहना जो सब आनन्दों से युक्त सब दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है जिस के नाम (ओं) आदि है उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है इस में योगसूत्र का भी प्रमाण है (तस्य०) परमेश्वर का ही ओंकार नाम है (ओंखं०) तथा (ओमिति०) ओं और ख ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं और उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं, उस की प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है क्योंकि जगत् का वर्णन दृष्टान्त और उपयोगादि का करना ये सब परमब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं तथा सत्यधर्म के अनुष्ठान जिन को तप कहते है वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये हैं तथा ब्रह्मचर्य्य गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम के सत्याचरण रूप जो कर्म है वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिये है जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते हैं। नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह सम्वाद है कि हे नचिकेत! जो अवश्य प्राप्त करने के योग्य परब्रह्म है उसी का मैं तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता हूं और यहां यह भी जानना उचित है कि अलंकार रूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्य्यामी परमात्मा को समझना चाहिये (तत्रापरा०) वेदों में दो विद्या है एक अपरा दूसरी परा इन में से अपरा यह है कि जिस से पृथिवी और तृण से ले के प्रकृतिपर्य्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक २ कार्य्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल पराविद्या है ॥

अन्यच्च । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ॥ दिवीव चक्षुराततम् ॥ १ ॥ ऋग्वेदे । अष्टके १ अध्याये २ वर्गे ७ मन्त्रः ५ ॥ भाषार्थः । तत् (वि-

ष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (परमं) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं (पदं-) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति तत् (सूरयः) विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति कीदृश तत् (आततम्) आसमन्तात्तत विस्तृतं यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति। अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्। कस्मा किमिव (दिवीवचक्षुराततम्) दिवि मार्त्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति तथैव तत्पद ब्रह्मापि वर्त्तते मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात्। तदेव द्रष्टु प्राप्तुमिच्छन्ति। अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादन कुर्वन्ति एतद्विषयक वेदान्तसूत्रं व्यासोप्याह। तत्तु समन्वयात्। अ० १ पा० १ सू० ४ अस्यायमर्थः। तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वित प्रतिपादितमस्ति। क्वचित्साक्षात्क्वचित्परम्परया च। अतः परमोर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति। तथा यजुर्वेदे प्रमाणम्। यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा॥ प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥ य० अ० ८ म० ३६ एतस्यार्थः (यस्मात्) नैव परब्रह्मणः सकाशात् (परः) उत्तमः पदार्थः (जातः) प्रादुर्भूतः प्रकटः (अन्यः) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति (प्रजापतिः) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति प्रजापालकत्वात् (य आविवेश भु०) यः परमेश्वर (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वलोकान् (आविवेश) व्याप्तवानस्ति (सꣳरराणः) सर्वप्राणिभ्योऽत्यन्त सुखं दत्तवान्सन् (त्रीणि ज्योतीꣳषि) त्रीण्यग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्प्रकाशकानि (प्रजया) ज्योतिषोऽन्यया सृष्ट्या सह तानि (सचते) समवेतानि करोति कृतवानस्ति (सः) अत स एवेश्वरः (षोडशी) येन षोडशकला जगति रचितास्ता विद्यन्ते यस्मिन्यस्य वा तस्मात्स षोडशीत्युच्यते। अतोऽयमेव परमोर्थो वेदितव्यः॥ ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानम्॥ इदं माण्डूक्योपनिषद्वचनमस्ति। अस्यायमर्थः ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम्। यन्नक्षीयते कदाचिद्यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद्ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम्। अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगतावोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेऽतोऽयं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्य्यम्। किं च नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति। प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्य्यसम्प्रत्ययइतिव्याकरणमहाभाष्यवचनप्रामाण्यात्। एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति। तत्प्राप्तिप्रयोजनाएव सर्वउपदेशाः सन्ति। अतस्तदुपदेशपुरःसरेणैवत्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानांपारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानमस्ति मनुष्यैर्यथावत्कर्त्तव्यमिति॥

भाषार्थ

और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि (तद्वि०) (विष्णोः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उस का (परम) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप(पद) जो प्राप्त होने के योग्य अर्थात् जिस का नाम मोक्ष है उस को (सूरय) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं वह कैसा है कि सब में व्याप्त हो रहा है और उस में देश काल और वस्तु का भेद नहीं है अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं इसी कारण से वह पद सब जगह में सब को प्राप्त होता है क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है इस में यह दृष्टान्त है कि (दिवीव चक्षुराततम्) जैसे सूर्य का प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयप्रकाश सर्वत्र व्याप्तवान् होरहा है, उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं इस विषय में वेदान्त शास्त्र में व्यास मुनि के सूत्र का भी प्रमाण है (तत्तुसमन्वयात्) सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है। कहीं २ साक्षात्रूप और कहीं २ परम्परा से, इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाण है कि (यस्मान्नजा०) जिस परब्रह्म से (अन्य) दूसरा कोई भी (प) उत्तम पदार्थ (जातः) प्रकट (नास्ति) अर्थात् नहीं है (य आविवेशभु०) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है (प्रजापति प्र०) वही सब जगत का पालनकर्त्ता और अध्यक्ष है जिस ने (त्रीणिज्योतींषि) अग्नि सूर्य और बिजली इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश होने के लिये (सचते) रचके संयुक्त किया है और जिस का नाम (षोडशी) है अर्थात् (१) ईक्षण जो यथार्थविचार (२) प्राण जो कि सब विश्व का धारण करनेवाला (३) श्रद्धा सत्य में विश्वास (४) आकाश (५) वायु (६) अग्नि (७) जल (८) पृथिवी (९) इन्द्रिय (१०) मन अर्थात् ज्ञान (११) अन्न (१२) वीर्य अर्थात् बल और पराक्रम (१३) तप अर्थात् धर्मानुष्ठान सत्याचार (१४) मन्त्र अर्थात् वेदविद्या (१५) कर्म अर्थात् सब चेष्टा (१६) नाम अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा ; येही सोलह कला कहाती हैं। ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं इस से उस को षोडशी कहते हैं। इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के ६ छठे प्रश्न में लिखा है, इन से परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है और उससे पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है और इन दोनों में से प्रधान का ही ग्रहण होता

है। इस से क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही के प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर के उपदेशरूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें, यही मनुष्यदेहधारण करने के फल है ॥

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः स सर्वःक्रियामयोऽस्ति। नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः। कुतः। बाह्यमानसव्यवहारयो र्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्। स चानेकविधोऽस्ति परन्तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः। एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थोऽर्थाद्य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्त्तते। अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते। स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते। अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात्। यदा चार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकामएव भवति। अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात्। स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्य्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते स तद्द्वारा सर्वजगत्सुखकार्य्येव भवति। यं च भोजनाच्छादनयानकलाकौशलयन्त्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखायैव भवति ॥

भाषार्थ

उन में से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है सो सब क्रियाप्रधान ही होता है, जिस के विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है वह अनेक प्रकार का है परन्तु उस के दो भेद मुख्य हैं। एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार अर्थात् पहिले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है। प्रथम जो परमपुरुषार्थरूप कहा उस में परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्वादि गुणों का कीर्त्तन, उपदेश और श्रवण करना (प्रार्थना) अर्थात जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उस की सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना, सो उपासना वेद और पातञ्जलयोगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है, न्यायाचरण उस को कहते हैं जो पक्षपात को छोड के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना, ... और ... का

यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ काम और उन की सिद्धि करनेवाले साधनों की प्राप्ति होती है सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से छूट के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना यही निष्काम मार्ग कहाता है क्योंकि इस में संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती, इसी कारण से इस का फल अक्षय है और जिस में संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं उस को सकाम कहते हैं इस हेतु से इस का फल नाशमान होता है क्योंकि सब कर्मों करके इन्द्रिय भोगों को प्राप्त हो के जन्ममरण से नहीं छूट सक्ता सो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त जो कर्मकाण्ड है उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है। एक सुगन्धगुणयुक्त जो कस्तूरी केशरादि है, दूसरा मिष्टगुणयुक्त जो कि गुड और सहत आदि कहाते हैं, तीसरा पुष्टिकारक गुणयुक्त जो घृत दुग्ध और अन्न आदि हैं और चौथा रोगनाशक गुणयुक्त जो कि सोमलतादि ओषधि आदि हैं; इन चारों का परस्पर शोधन संस्कार और यथायोग्य मिला के अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है वह वायु और वृष्टि जल की शुद्धि करनेवाला होता है इस से सब जगत् को सुख होता है और जिस को भोजन छादन विमानादि यान कलाकुशलता यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं वह अधिकांश से कर्त्ता को ही सुख देनेवाला होता है ॥

अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम्। द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्। अ० ४ पा० ३ सू० १ ॥ द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्। अ० ४ पा० ३ सू० ८ ॥ अनयोरर्थः। द्रव्य संस्कार कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम्। द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसंपादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः। यथा सूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचाळयेच्च तदा यः पूर्वं धूमवद्वाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन्सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति। तथैव यज्ञाद्यो बाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति। अत प्रोक्तम्। यज्ञोपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैव विद्वान् होता भवति। ऐ० ब्रा० प० १ अ० २। जनानां समूहो जनता तत्सुखायैव यज्ञो भवति यस्मिन्यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति। कुतः। तस्य परार्थत्वात्। यज्ञः परोपकारायैव भवति। अतएव फलस्य श्रुतिः

श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति । तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव क्रतुधर्मो बोध्यः । एव क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति ॥

भाषार्थ

इस में पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है। (द्रव्य०) एक तो द्रव्य, दूसरा संस्कार और तीसरा उन का यथावत् उपयोग करना ये तीनों बात यज्ञ के कर्त्ता को अवश्य करनी चाहियें, सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है। जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्ध द्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के उन में छोंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उन को सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुख करता है। इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है, इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि (यज्ञोपित०) अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है और संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है वह भी आनन्द को प्राप्त होता है क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा उस को उतनाही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा, इसलिये यज्ञ का अर्थवाद * यह है कि अनर्थ दोषों को हटा के जगत् में आनन्द को बढ़ाता है परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करने वाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य होनी चाहिये, सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सब को उत्तम फल प्राप्त होता है विशेष करके यज्ञकर्त्ता को, अन्यथा नहीं ॥

अत्र प्रमाणम् । अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति। श० कां० ५ अ० ३ । अस्यायमभिप्रायः अग्नेः सकाशाद्धूमवाष्पौ जायेते यदा यमग्निर्वृक्षौषधिवनस्पतिजलादिपदार्थान्प्रविश्य तान्संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति । पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्याकाशं गच्छन्ति । तत्र यावान् जलांशस्तावतो वाष्पसंज्ञास्ति । यश्च निःस्नेहो भागः स पृथिव्यंशोऽस्ति । एतदुभयभागयुक्तो धूम इत्युपचर्यते । पुनर्घनमण्डलान्तरमाकाशे जलसञ्चयो भवति । तस्मादभ्रा घना जायन्ते । तेभ्यो वायुद्वारेणो वृष्टिर्जायते । अतोऽग्नेरेवैता यवादय ओषधयो जायन्ते ताभ्योऽन्नमन्नाद्वीर्यं वीर्याच्छरीराणि भवन्तीति ॥

* इस शब्द का अर्थ आगे वेदसंज्ञा प्रकरण में लिखा जायगा ।

भाषार्थ

इस में शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है कि (अग्नेः०) जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं उन से धुआं और भाफ उत्पन्न होते हैं क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उन को भिन्न २ कर देता है फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं उन में जितना जलका अंश है वह भाफ कहाता है और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है। जब वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं फिर वे परस्पर मिल के बादल होके उन से वृष्टि, वृष्टि से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बनता है ॥

अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्यप्युक्तम् । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधय ओषधिभ्योऽन्नं अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषो ऽन्नरसमयः । आनन्दवल्ल्यां प्रथमेनुवाके ॥ स तपोतप्यत तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति विजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति भृगुवल्ल्या द्वितीयेनुवाके । अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते जीवनस्य बृहद्धेतुत्वात् शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति नातोन्यथेति ॥

भाषार्थ

इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि (तस्माद्वा०) परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश वायु अग्नि जल और पृथ्वी आदि तत्त्व उत्पन्न हुए हैं और उन में ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं। यहां ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है क्योंकि जिस का जो कार्य है वह उसी में मिलता है वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था होतीं हैं और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है इस से अन्न को ब्रह्म कहते हैं। जब होम से वायु जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होने से सब को दुःख होता है इस से इन की शुद्धि अवश्य करनी चाहिये ॥

तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च । ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति ।

तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्य गुणौ भवतस्तयो. सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात् । तज्जलवृष्टावोषध्यन्नरेतः शरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति । तन्मध्यमस्वाद्बलबुद्धिवीर्य्यपराक्रमधैर्य्यशौर्य्यादयोपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते । कुत । यस्य यादृश कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्य्यं भवतीति दर्शनात् । अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति । कुत । दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात् । यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति तस्मादस्य निवारणमपि मनुष्यैरेव करणीयमिति । यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतमिति यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान्भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति । तथा यज्ञः कर्त्तव्यइतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति तामपि य उल्लङ्घयति सोपि पापीयान्सन् क्लेशवांश्च भवति ॥

भाषार्थ

सो उन की शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है । एक तो ईश्वर का किया हुआ और दूसरा जीव का, उन में से ईश्वर का किया यह है कि उस ने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खैंचता है और जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम करदेते हैं। उस जल की वृष्टि से ओषधि अन्न वीर्य और शरीर आदि भी मध्यम गुणवाले हो जाते हैं और उन के योग से बुद्धि बल पराक्रम धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी निकृष्ट ही होते हैं क्योंकि जिस का जैसा कारण होता है उस का वैसाही कार्य होता है । यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है, सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है, इस कारण से उस का निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है । जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है मिथ्याभाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है वह अत्यन्त पापी होता है और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से क्लेश भी होता है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है इस को जो नहीं करता वह भी पापी हो के दुःख का भागी होता है ॥

कुत । सर्वोपकाराकरणात् । यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो-भवति तत्र तावानेव दुर्गन्धसमुदायो जायते न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो-

भवितुमर्हति । कुतः। तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात् । यत्तु खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्रबाहुल्यं कुर्वन्ति अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्तएव जायते । एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्याएव कर्तुमर्हन्ति ॥

भाषार्थ

क्योंकि सब के उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है । जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं वहां उतनाही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है क्योंकि हस्ति आदि के समुदायों को मनुष्य अपनेही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है, इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टिजल को बिगाडनेवाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उस का निवारण करना भी उन को ही योग्य है ॥

तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति । मननं विचारस्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते । परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात् । अतस्तएव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये । अस्मात्कारणात्सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव ॥

भाषार्थ

क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं उन में से मनुष्य ही उत्तम है इस से वेही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं। मनन नाम विचार का है जिस के होने से ही मनुष्य नाम होता है अन्यथा नहीं क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष इस प्रकार के रचे है कि जिन से उन को ज्ञान की उन्नति होती है, इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वेही योग्य होते हैं अन्य नहीं । इस मे सब के उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को

तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्य गुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात् । तज्जलवृष्टावोषध्यन्नरेतः शरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति । तन्मध्यमत्वाद्बलबुद्धिवीर्य्यपराक्रमधैर्य्यशौर्य्यादयोऽपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते । कुतः । यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्य्यं भवतीति दर्शनात् । अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति । कुतः । दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात् । यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति तस्मादस्य निवारणमपि मनुष्यैरेव करणीयमिति । यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतमिति यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान्भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति । तथा यज्ञः कर्त्तव्य इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति तामपि य उल्लङ्घयति सोऽपि पापीयान्सन् क्लेशवांश्च भवति ॥

भाषार्थ

सो उन की शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है । एक तो ईश्वर का किया हुआ और दूसरा जीव का, उन में से ईश्वर का किया यह है कि उस ने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खैंचता है और जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम करदेते है । उस जल की वृष्टि से ओषधि अन्न वीर्य और शरीर आदि भी मध्यम गुणवाले हो जाते हैं और उन के योग से बुद्धि बल पराक्रम धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी निकृष्ट ही होते है क्योंकि जिस का जैसा कारण होता है उस का वैसाही कार्य होता है । यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है, सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है, इस कारण से उस का निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है । जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है मिथ्याभाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है वह अत्यन्त पापी होता है और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से क्लेश भी होता है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है इस को जो नहीं करता वह भी पापी हो के दुःख का भागी होता है ॥

कुतः । सर्वोपकाराकरणात् । यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति तत्र तावानेव दुर्गन्धसमुदायो जायते न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो

भवितुमर्हति । कुतः। तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात् । यत्तु खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्रबाहुल्यं कुर्वन्ति अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्तएव जायते । एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्याएव कर्तुमर्हन्ति ॥

भाषार्थ

क्योंकि सब के उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है । जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं वहां उतनाही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है क्योंकि हस्ति आदि के समुदायों को मनुष्य अपनेही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है, इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टिजल को बिगाड़नेवाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उस का निवारण करना भी उन को ही योग्य है ॥

तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति । मननं विचारस्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते । परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात् । अतस्तएव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये । अस्मात्कारणात्सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव ॥

भाषार्थ

क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं उन में से मनुष्य ही उत्तम है इस से वेही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं। मनन नाम विचार का है जिस के होने से ही मनुष्य नाम होता है अन्यथा नहीं क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष इस प्रकार के रचे हैं कि जिन से उन को ज्ञान की उन्नति होती है, इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वेही योग्य होते हैं अन्य नहीं । इस से सब के उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है ॥

किच भोः कस्तूर्य्यादीनां सुरभियुक्तानां द्रव्याणामग्नौ प्रक्षेपणेन विनाशात्कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति । किन्त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति । अत्रोच्यते । नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति । विनाशो हि यद्दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते । परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते । अष्टविधं चेति । किंच तत् । अत्राहुर्गोतमाचार्य्या न्यायशास्त्रे । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ १ ॥ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ॥ २ ॥ प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ३ ॥ आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ४ ॥ अ० १ आह्निकम् । १ । सू० ४ । ५ । ६ । ७ । प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावभेदादष्टधाप्रमाणं मया मन्यत इति । तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात्सत्यमव्यभिचारिज्ञानमुत्पद्यते स तत्प्रत्यक्षम् । सन्निकटे दर्शनान्मनुष्योयं नान्य इत्याद्युदाहरणम् ॥ १ ॥ यत्र लिंगज्ञानेन लिङ्गिनो ज्ञानं जायते तदनुमानम् पुत्रं दृष्ट्वाऽऽसीदस्य पितेत्याद्युदाहरणम् । २ । उपमानं सादृश्यज्ञानं यथा देवदत्तोस्ति तथैव यज्ञदत्तोप्यस्तीति साधर्म्यादुपादिशतीत्याद्युदाहरणम् । ३ । शब्द्यते प्रत्याय्यते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः । ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ

प्र०—सुगन्धयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं उन को अन्य द्रव्यों में मिला के अग्नि में डालने मे उन का नाश होजाता है फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता किन्तु ऐसे उत्तम २ पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है फिर यज्ञ करना किस लिये चाहिये ? उ०—किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता केवल वियोगमात्र होता है, परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किस को कहते हैं । उ०—जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े उस को हम विनाश कहते हैं । प्र०—आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं ? उ०—आठ प्रकार का । प्र०—कौन २ से ? उ०—प्रत्यक्ष १ अनुमान २ उपमान ३ शब्द ४ ऐतिह्य ५ अर्थापत्ति ६ सम्भव ७ और अभाव ८ इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं । (इन्द्रियार्थ०) इन में से प्रत्यक्ष उस को कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो जैसे दूर से देखने में सन्देह हुआ कि वह मनुष्य है वा कुछ और फिर उस के समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है अन्य नहीं

इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं । १ । (अथतत्पू०) और जो किसी पदार्थ के चिन्ह देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो वह अनुमान कहाता है जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इस के माता पिता आदि है वा अवश्य थे इत्यादि उस के उदाहरण हैं ॥ २ ॥ (प्रसिद्ध०) तीसरा उपमान कि जिस से किसी का तुल्य धर्म देख के समान धर्मवाले का ज्ञान हो जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है। उस के पास जा के इस काम को कर ला, इस प्रकार के तुल्य धर्म से जो ज्ञान होता है उस को उपमान कहते है ॥३॥ (आप्तोप०) चौथा शब्दप्रमाण है कि जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय करानेवाला है, जैसे ज्ञान से मोक्ष होता है यह आप्तों के उपदेश शब्दप्रमाण का उदाहरण है ॥ ४ ॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ ५ ॥ शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसंभवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ ६ ॥ अ० २ आ० २ । सू० १ । २ । न चतुष्ट्वमिति सूत्रद्वयस्य संक्षिप्तोऽर्थः क्रियते । (ऐतिह्य) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टयाऽह्यम् । देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादि ॥ ५ ॥ (अर्थापत्तिः) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति किमत्र प्रसज्यते असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥६॥ (सम्भवः) सम्भवति येन यस्मिन्वा स सम्भवः केनचिदुक्तं मातापितृभ्यां संतानं जायते सम्भवोस्तीति वाच्यम् । परन्तु कश्चिद्ब्रूयात्कुम्भकरणस्य क्रोशचतुष्टयपर्य्यन्तं श्मश्रुणः केशाः ऊर्ध्वं स्थिता आसन् षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका चासंभवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते । इत्याद्युदाहरणम् ॥ ७ ॥ (अभावः) कोपि ब्रूयात् घटमानयेति स तत्र घटमपश्यन्नत्र घटो नास्तीत्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्त्तमानस्तस्मादानीयते ॥ ८ ॥ इति प्रत्यक्षादीनां संक्षेपतोऽर्थः । एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते सत्यमेवमेतत् । नैवमङ्गीकारेण विना समग्रौ व्यवहारपरमार्थौ कस्यापि सिध्येताम् ॥

भाषार्थ

(ऐतिह्य) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास है जैसा देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे जो यह इतिहास ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि सत्य ग्रन्थों में लिखा है उसी का ग्रहण होता है अन्य का नहीं यह पांचवा प्रमाण है । ५ । और छठा (अर्थापत्ति) जो एक बात किसी ने कही हो उस से विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे जैसे किसी ने कहा कि बदलों के होने से वृष्टि होती है दूसरे ने इतने ही कहने से जान लिया कि बादलों के विना वृष्टि कभी नहीं होसक-

ती इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है उस को अर्थापत्ति कहते है ॥६॥ सातवा (सम्भव) जैसे किसी ने किसी से कहा कि माता पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो सम्भव है परन्तु जो कोई ऐसा कहे कि रावण के भाई कुम्भकरण की मूछ चार कोश तक आकाश म ऊपर खडी रहती थी और उस की नाक (१६) सोलह कोश पर्यन्त लम्बी चौडी थी, उस की यह बात मिथ्या समझी जायगी क्योंकि ऐसी बात का सम्भव कभी नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ और आठवा (अभाव) जैसे किसीने किसी से कहा कि तुम घडा ले आओ और जब उसने वहा नहीं पाया तब वह जहा पर घडा था वहा से ले आया ॥ ८ ॥ इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हू यहा इन आठों का अर्थ संक्षेप से किया है* उ०—यह बात सत्य है कि इन के विना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता । इस से इन आठों को हम लोग भी मानते है ॥

यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्ड विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशं प्रतिक्षिपेत्तस्य नाशो भवतीत्युपचर्य्यते । चक्षुषा दर्शनाभावात् (णश्) अदर्शने अस्माद् घञ्प्रत्यये कृते नाश इति शब्द- सिध्यति । अतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति । किंच यदा परमाणवः पृथक् २ भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात् । यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्द्रव्य दृष्टिपथमागच्छति स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात् । यद्द्रव्य विभक्त विभागानर्ह भवति तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः तेहि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव ॥

भाषार्थ

नाश को समझने के लिये यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मट्टी के ढेले को पीस के वायु के बीच में बल से फेंक दे फिर जैसे वे छोटे २ कणों आख से नहीं दीखते क्योंकि (णश्) धातु का अदर्शन ही अर्थ है जब अणु अलग २ हो जाते हैं तब वे देखने में नहीं आते इसी का नाम नाश है और जब परमाणु के संयोग से स्थूल द्रव्य अर्थात् बडा होता है तब वह देखने में आता है और परमाणु इस को कहते है कि जिस का विभाग फिर कभी न होसके परन्तु यह बात केवल एक देशी है क्योंकि उस का भी ज्ञान से विभाग हो सकता है । जिस की परिधि और व्यास बन सकता है उस का भी टुकडा हो सकता है यहा तक कि

---

* कहीं २ शब्द म ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति सम्भव और अभाव को मानने से (४) चार प्रमाण रहते है ॥

जब पर्य्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्य्यन्त ज्ञान में बराबर कटता ही चला जायगा॥

तथैवाग्नौ यद्द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्त्तत एव न हि तस्याभावः कदाचिद्भवति । एवं यद्दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादिद्रव्यमस्ति तच्चाग्नौ हुतं सद्वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति ॥ तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महानुपकारो भवति सुखं चातः कारणाद्यज्ञः कर्त्तव्य एवेति । किञ्च भोः । वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां मध्ये सुगन्धद्रव्यरक्षणेनैतत्सेत्स्यति पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः । नैव शक्यम् । नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात् । तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्यवकाशाभावात् । तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्त्तमानत्वादारोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति ॥

भाषार्थ

वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है उसके अणु अलग २ हो के आकाश में रहते ही हैं क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता इस से वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है। फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये। प्र०—जो यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करना मात्र ही प्रयोजन है तो इस की सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना ? उ०—यह कार्य्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है उस को छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता और न वह ऊपर चढ सकता है क्योंकि उस में हलकापन नहीं होता उस के उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सक्ता फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं होते ॥

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते तदाऽग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपर्य्याकाशं गच्छति । तस्मिन् गते सति तत्रावकाशत्वात्सर्वतस्सर्वेभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वादारोग्यादिकं फलमपि जायते ॥

भाषार्थ

और जब अग्नि उस वायु को वहां से हलका करके निकाल देता है तब वहां शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं, क्योंकि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकाल के उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके रोगों का नाश करने वाला होता और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त करता है ॥

यो होमेन सुगंधयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा वृष्ट्याधिक्यमपि करोति तद्द्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धइति निश्चीयते। एतत्खल्वग्निसंयोगरहितसुगंधेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम् ॥

भाषार्थ

जो वायु सुगन्ध्यादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होमद्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता और उससे वृष्टि भी अधिक होती है क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है। शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्नादि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती हैं ऐसे प्रतिदिन सुगंध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिक २ सुख बढ़ता है। यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है इससे होम का करना अवश्य है ॥

अन्यच्च— दूरस्थले केनचित्पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति। सोऽत्रसुगंधोवायुरस्तीति जानात्येव। अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति पुनर्बालबुद्धिनां भ्रमो भवति स सुगन्धो नास्तीति परन्तु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्त्तमानत्वात्तेन विज्ञायते। अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति तद्विचारेण बुधैर्विज्ञेयमिति ॥

भाषार्थ

और भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगंध चीजों को अग्नि में होम किया हो। उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त

होने से उस को यह ज्ञान होता है कि यहां सुगन्ध वायु है। इस से जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त सूक्ष्म होके जाता आता है परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है तब उस के नाक इन्द्रिय से संयोग भी छूट जाता है फिर बाल-बुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा परन्तु यह उन को अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बनाही रहता है। इन से अन्य भी होम करने के बहुत से उत्तम फल हैं उन को बुद्धिमान् लोग विचार से जान लेंगे॥

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति तद्धोमकरणमात्रेणैव सिध्यति पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थं क्रियते। अत्र ब्रूमः। एतस्यान्यदेव फलमस्ति। किम्। यथा हस्तेन होमो नेत्रेण दर्शनं त्वचा स्पर्शनं च क्रियते तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते। तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते। होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं तत्पाठावृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च। अन्यच्च सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्य्येत्युपदेशः। यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात्सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम्॥

भाषार्थ

प्र०—होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होम से ही सिद्ध होता है फिर वहां वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है? उ०—उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है। प्र०—वह क्या है? उ०—जैसे हाथ से होम करते, आंख से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं क्योंकि उन के पढ़ने से वेदों की रक्षा ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना होती है तथा होम से जो २ फल होते हैं उन का स्मरण भी होता है वेदमन्त्रों के वारवार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न होजाय क्योंकि ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उस की प्रार्थना सर्वत्र होती है इसलिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित है॥

कश्चिदत्राह वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित्पाठस्तत्र क्रियेत तदा किं दूषणमस्तीति। अत्रोच्यते। नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिध्यति। कुतः। ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशयसत्यविरहाच्च। सर्वाद्धि यत्

क्वचित्सत्यं प्रसिद्धमस्ति तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम् । यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्त वेदाद्बहिरिति च । अत्रार्थे मनुराह त्वमेकोह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुव ॥ अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्य्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥१॥ अ० १ श्लो० ३ । चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमा पृथक् । भूत भव्य भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ २ ॥ बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्र सनातनम् ॥ तस्मादेतत्पर मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥३॥ अ०१२ श्लो०९७ । ९९ ॥

भाषार्थ

प्र०-यज्ञ में वेद मन्त्रों को छोड के दूसरे का पाठ करे तो क्या दोष है ? उ०-अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रान्तिरहित सत्य होता है वैसा अन्य का नहीं और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि आप्त पुरुषों के ग्रन्थों का बोध और उन की शिक्षा से वेदों को यथावत् जान के कहता है उस का भी वचन सत्य ही होता है और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक २ नहीं हो सक्ता इस से यह निश्चय है कि जहा २ सत्य दीखता और सुनने में आता है वहा २ वेदों में से ही फैला है और जो २ मिथ्या है सो २ वेद से नहीं किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता। इस विषय में मनु का प्रमाण है कि (त्वमे०) मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयम्भु जो सनातन वेद हैं जिन में असत्य कुछ भी नहीं और जिन में सब सत्यविद्याओं का विधान है उन के अर्थ को जाननेवाले केवल आपही है ॥ १ ॥ (चातु०) अर्थात् चार वर्ण, चार आश्रम, भूत भविष्यत् और वर्त्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं ॥ २ ॥ क्योंकि (बिभर्त्ति०) यह जो सनातन वेद शास्त्र है सो सब विद्याओं के दान से सपूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त करता है इस कारण से हम लोग उस को सर्वथा उत्तम मानते हैं और इसी प्रकार मानना भी चाहिये क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है ॥

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः प्रणीतादीनि पात्राणि कुशतृणं यज्ञशाला ऋत्विजश्चैतत्सर्वं करणीयमस्ति । अत्र ब्रूमः । यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्कर्त्तव्यं नेतरत् । तद्यथा । भूमिं खनित्वा वेदीरचनीया तस्यां होमे कृतेऽग्नेस्तीव्रत्वाद्धुतं द्रव्यं सद्यो विभेद प्राप्याकाशं गच्छति । तथा वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारवत्करणाद्रेखागणितमपि साध्यते । तत्रचेष्टकानां परिगणितत्वादनया गणितविद्यापि

गृह्यते । एवमेवोत्तरेपि पदार्थाः सप्रयोजनाः सन्त्येवं परन्त्वेव प्रणीताया रक्षिताया पुण्यं स्यादेव पापमिति यदुच्यते । तत्र पापनिमित्ताभावात्सा कल्पना मिथ्यैवास्ति किंतु खलु यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति तत्तदेव ग्राह्यम् । कुतः तैर्विना तदसिद्धेः ॥

भाषार्थ

प्र०–क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदिरचन, प्रणीता प्रोक्षणी और चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का बनाना और ऋत्विजों का करना यह सब करना ही चाहिये ? उ०–करना तो चाहिये परन्तु जो २ युक्तिसिद्ध है सो २ ही करने के योग्य हैं क्योंकि जैसे वेदि बना के उस में होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न २ परमाणुरूप होके वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है ऐसे ही वेदि में भी अग्नि तेज होने और होम का साकल्य इधर उधर बिखरने से रोकने के लिये वेदि अवश्य रचनी चाहिये और वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणित विद्या भी जानी जाती है कि जिस से त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो, तथा उस में जो ईंटों की सख्या की है उस से गणितविद्या भी समझी जाती है। इस प्रकार से कि जब इतनी लम्बी चौड़ी और गहरी वेदि हो तो उस में इतनी बड़ी ईंटें इतनी लगेंगी इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन है, तथा सुवर्ण चांदी वा काष्ठ के पात्र इस कारण से बनाते है कि उनमें जो घृतादि पदार्थ रक्खे जाते हैं वे बिगड़ते नहीं और कुश इस लिये रखते है कि जिस से यज्ञशाला का मार्जन हो और चिंवटी आदि कोई जन्तु वेदि की ओर अग्नि में न गिरने पावें, ऐसे ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन है कि जिस से अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यन्त न लगे और वेदि में कोई पक्षी किंवा उन की बीट भी न गिरे। इसी प्रकार ऋत्विजों के विना यज्ञ का काम कभी नहीं हो सकता इत्यादि प्रयोजन के लिये यह सब विधान यज्ञ में अवश्य करना चाहिये, इन से भिन्न द्रव्य की शुद्धि और संस्कार आदि भी अवश्य करने चाहियें परन्तु इस प्रकार से प्रणीतापात्र रखनेसे पुण्य और इस प्रकार रखने से पाप होता है इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है किन्तु जिस प्रकार करने में यज्ञ का कार्य्य अच्छा बने वही करना अवश्य है अन्य नहीं ॥

यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते । याश्च वेदोक्ताः । अत्र प्रमाणानि । अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ १ ॥

यजुः अ० १४ मं० २० अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात् । यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मंत्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः सूर्य्यश्चन्द्रमा वसवो रुद्रा आदित्या मरुतो विश्वेदेवा बृहस्पतिरिन्द्रो वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मंत्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्परमेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ॥

भाषार्थ

प्र०—यज्ञ में देवता शब्द से किस का ग्रहण होता है ? उ०—जो २ वेद में कहे हैं उन्हीं का ग्रहण होता है इस में यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि (अग्निर्दे०) कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रियामें मुख्य करके देवताशब्द से वेद मन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द है वे ही देवता कहाते है और इन वेद मंत्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है इस में यह कारण है कि जिन२ मन्त्रों में अग्नि आदि शब्द है उन२ मन्त्रों का और उन २ शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है । मन्त्रों का देवता नाम इसलिये है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है ॥

अत्राह यास्काचार्य्यो निरुक्ते । कर्मसंपत्तिर्मंत्रो वेदे नि० अ० १ ख० २ अथातो दैवतं तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते सैषा देवतोपपरीक्षा यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः समन्त्रो भवति तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिक्यश्च । नि० अ० ७ खं० १ । अस्यार्थः । (कर्मसं०) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च संपत्तिः संपन्नता संयोगो भवति येन समंत्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते तथा च कर्मणा संपत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोपि मंत्रो मन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्य्यः । अथेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मन्त्रोक्तानि येषामर्थानां मंत्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति । तद्यथा । अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुपब्रुवे ॥ देवाँ २ ॥ आसादयादिह ॥ १ ॥ यजुः० अ० २२ म० १७ ॥ अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति । अतः किं विज्ञेयं यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मंत्रो ग्राह्य इति यस्य द्रव्यस्य नामाङ्कितं यच्छन्दोस्ति ।

तदेव दैवमिति बोध्यम् । सा एषा देवतोपपरीक्षाऽतीता आगामिनी चास्ति । अत्रोच्यते । ऋषिरीश्वरः । सर्वेष्वर्थकामोऽयं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः । यस्या देवताया मार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तदर्थं गुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति । किंच यद्देवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति समन्त्रो देवताशब्दवाच्योस्तीति विज्ञायते । देवताभिधा ऋचो याभिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याःस्तुवन्ति प्रकाशयन्तिः ऋचस्तुताविति धात्वर्थयोगात् । ता श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः सन्ति परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्चेति । यासां देवतानामृचा परोक्ष कृतोऽर्थोऽस्ति ता परोक्षकृता यासां प्रत्यक्षमर्थो दृश्यते ता प्रत्यक्षकृता ऋचो देवताः ॥ आध्यात्मिक्यश्चाऽध्यात्मं जीवात्मानं तदन्तर्यामिणं परमेश्वरं च प्रतिपादितुमर्हा या ऋचो मन्त्रास्ता आध्यात्मिक्यश्चेति एता एवकर्मकाण्डे देवताशब्दार्थाः सन्तीति विज्ञेयम् ॥

भाषार्थ

(कर्मसं०) वेदमन्त्रों करके अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त सब यज्ञों की शिल्प विद्या और उनके साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति होती और कर्मकाण्ड को लेके मोक्षपर्य्यन्त सुख मिलता है इसी हेतु से उन का नाम देवता है (अथातो०) दैवत उन को कहते हैं कि जिन के गुणों का कथन किया जाय अर्थात् जो २ संज्ञा जिन २ मन्त्रों में जिस २ अर्थ की होती है उन २ मन्त्रों का नाम वही देवता होता है । जैसे (अग्निदूत०) इस मन्त्र में अग्नि शब्द चिन्ह है यहां इसी मन्त्र को अग्नि देवता जानना चाहिये । ऐसे ही जहां २ मन्त्रों में जिस २ शब्द का लेख है वहां २ उस २ मन्त्र को ही देवता समझना होता है इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये सो देवताशब्द से जिस २ गुण से जो २ अर्थ लिये जाते हैं सो २ निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अच्छी प्रकार लिखा है । इस में यह कारण है कि ईश्वर ने जिस २ अर्थ का जिस २ नाम से वेदों में उपदेश किया है उस २ नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है सो वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं । उन में से कई एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के । कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव परमेश्वर और सब पदार्थों के कार्य्य कारण के प्रतिपादन करने वाले हैं । इससे क्या आया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं उन के विधान करने वाले मन्त्र ही हैं इसी कारण से इन का नाम देवता है ॥

तद्येनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा यद्दैवत स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्त्यथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिका नाराशंसा इति

नैरुक्ता अपि वा सा कामदेवता स्यात्प्रायोदेवता वास्ति ह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यं याज्ञदैवतो मन्त्र इति ॥ नि० अ०७ ख० ४ (तद्येनादि०) तत्तस्माद्येष्वनादिष्टदेवता मन्त्रा अर्थान्न विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते तेषु देवतापरीक्षा क्वास्तीत्यत्रोच्यते । यत्र विशेषो न पश्यते तत्रैव यज्ञो देवता यज्ञाङ्गं वेत्येतद्देवताख्यमिति विज्ञायते । ये खलु यज्ञाद् यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीत्येव याज्ञिका मन्यन्ते । अत्रैव विकल्पोऽस्ति नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति । तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जानन्ति । एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोऽस्ति । क्वचिद्देवदेवत्यं कर्ममात्रदेवत्यं विद्वद्देवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्या चैतेऽपि पूज्याः सत्कर्त्तव्याः सन्त्यतस्तेषामुपकारकर्त्तृत्वमात्रमेव देवतात्वमस्तीति विज्ञायते । मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद्याज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयते ॥

भाषार्थ

जिन २ मन्त्रों में सामान्य अर्थात् जहा २ किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध नहीं दीख पड़ता वहा २ यज्ञ आदि को देवता जानना होता है (अग्निमीळे) इस मन्त्र के भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है अर्थात् एक तो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्य्यन्त दूसरा प्रकृति से लेके पृथिवी पर्य्यन्त जगत् का रचन रूप तथा शिल्पविद्या और तीसरा सत्सङ्ग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है येही उन मन्त्रों के देवता जानने चाहियें तथा जिन से यह यज्ञ सिद्ध होता है वे भी उन यज्ञों के देवता है और जो इन से भिन्न मन्त्र है उन का प्राजापत्य अर्थात् परमेश्वर ही देवता है तथा जो मन्त्र मनुष्यों का प्रतिपादन करते हैं उन के मनुष्य देवता हैं इस में बहुत प्रकार के विकल्प हैं कि कहीं पूर्वोक्त देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं पिता कहीं विद्वान् कहीं अतिथि और कहीं आचार्य्य देव कहाते हैं परन्तु इस में इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं ॥

अत्र परिगणन गायत्र्यादिच्छन्दोऽन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञा यज्ञः यज्ञाङ्गं प्रजापतिः परमेश्वरः नरा कामः विद्वान् अतिथिः माता पिता आचार्य्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवताः सन्ति । परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चय ॥

भाषार्थ

जो २ गायत्र्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा, यज्ञ और

उन के अङ्ग अर्थात् साधन, प्रजापति जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य्य ये अपने २ दिव्यगुणों से ही देवता कहाते हैं परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है ॥

अन्यच्च । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा । नि० अ० ७ ख० १५ । मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात् निरु० अ० ७ ख० १२ । अस्यार्थः । (देवो दानात्०) यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति (दीपनात्) दीपनं प्रकाशनं द्योतनमुपदेशादिकं च । अत्र दानशब्देनेश्वरो विद्वांसो मनुष्याश्च देवतासंज्ञाः सन्ति । दीपनात्सूर्य्यादयो द्योतनान्मातृपित्राचार्य्यातिथयश्च । तथा द्यौः किरणा आदित्यरश्मयः प्राणसूर्य्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात्परमेश्वर एवात्र देवोऽस्तीति विज्ञेयम् । अत्र प्रमाणम् । न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ॥ तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । इति कठ० वल्ली ५ म० १५ । तत्र नैव परमेश्वरे सूर्य्यादयो भान्ति प्रकाशं कुर्वन्ति । किन्तु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनुपश्चात्ते हि प्रकाशयन्ति । नैव खल्वेतेषु कश्चित्स्वातन्त्र्येण प्रकाशोऽस्तीति । अतो मुख्यो देव एकः परमेश्वर एवोपास्योऽस्तीति मन्यध्वम् ॥

भाषार्थ

(देवो दाना०) दान देने से देव नाम पड़ता है और दान कहते हैं अपनी चीज दूसरे के अर्थ दे देने को, दीपन कहते हैं प्रकाश करने को, द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को, इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं, तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से देव कहाते हैं (दीपन) अर्थात् मूर्त्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्य्यादि लोकों का नाम भी देव है, तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि भी पालनविद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं, वैसे ही सूर्य्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करने वाला है सो ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है अन्य कोई नहीं। इस में कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि सूर्य चन्द्रमा तारे बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते किन्तु इन सब का प्रकाश करने वाला एक वही है क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य्य आदि सर्व जगत् प्रकाशित हो रहा है इस में यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करने वाला नहीं है इस से एक परमेश्वर ही मुख्य देव है ॥

नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत् । य० अ० ४० मं० ४ । अत्र देवशब्देन मनःषष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते । तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात्तान्यपि देवाः । यो देवः सा देवता देवात्तलित्यनेन सूत्रेण स्वार्थे तल्विधानात् स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनं भवति यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते । तद्यथा । अयमसिः प्रहृतः सन्नतीवच्छेदनं करोति । तीक्ष्णधारः स्वच्छो धनुर्वन्नाम्यमानोपि न त्रुटयतीत्यादिगुणकथनमतो विपरीतोऽसिर्नैव तत् कर्त्तुं समर्थो भवतीत्यसेः स्तुतिर्विज्ञेया ॥

भाषार्थ

(नैनद्देवा०) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है जो कि श्रोत्र त्वचा नेत्र जीभ नाक और मन ये छः देव कहाते हैं क्योंकि शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इन से प्रकाश होता है और देव शब्द से स्वार्थ में तल प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है जो २ गुण जिस २ पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं उन २ गुणों का लेख, उपदेश, श्रवण और विज्ञान करना तथा मनुष्यसृष्टि के गुण दोषों का भी लेख आदि करना इस को स्तुति कहते हैं क्योंकि जितना २ जिस २ में गुण है उतना २ उस २ में देवपन है इस से वे किसी के इष्टदेव नहीं हो। सकते जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह तलवार काट करने में बहुत अच्छी और निर्मल है इस की धार बहुत तेज है और यह धनुष के समान नमाने से भी नहीं टूटती इत्यादि तलवार के गुणकथन को स्तुति कहते हैं ॥

तद्वदन्यत्रापि विज्ञेयम् । परन्त्वयं नियमः कर्म्मकाण्डं प्रत्यस्ति । उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्म्मकाण्डस्य निष्कामभागेपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोस्ति । कस्मात् । तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते । यश्च तस्य सकामो भागोस्ति तत्रेष्टविषयभोगप्राप्तये परमेश्वरः प्रार्थ्यते । अतः कारणाद्भेदो भवति परन्तु नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि भवतीति वेदाभिप्रायोस्ति ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना इस नियम के साथ कि केवल परमेश्वर ही कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड में सब का इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने के योग्य है क्योंकि गुण वे कहाते हैं जिन से कर्मकाण्डादि में उपकार लेना होता है परन्तु सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी इष्टभोग की प्राप्ति के लिये परमेश्वर का त्याग नहीं होता क्योंकि कार्य्य कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति प्रार्थना उपासना से पूजा करने के योग्य होता है ॥

अत्र प्रमाणम् । माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्याऽऽत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । कर्मजन्मान आत्मजन्मान आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माऽश्वा आत्माऽऽयुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य । नि० अ० ७ ख० ४ ।

(माहाभाग्याद्दे व०) सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति । कुतः । आत्मनो माहाभाग्यादर्थात्सर्वशक्तिमत्त्वा-दिविशेषणवत्त्वात् । न तस्याग्रेऽन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गणयं भवितुमर्हति । कुतः । सर्वेषु वेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वत्रव्याप्तस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना विहितास्ति । अस्मादन्ये ये देवा उक्ता वक्ष्यन्ते च ते सर्वे एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति । अङ्गमङ्गं प्रत्यञ्चतीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन्देशे प्रकाशिताः सन्ति ते च (कर्मज०)यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात्कर्मजन्मानो यत आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति । अथैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम् । स एवाश्वा गमनहेतवः स आयुध विजयावहमिषवो बाणा दुःखनाशकाः स एवास्ति । तथा चात्मैव देवस्य देवस्य सर्वस्वमस्ति । अर्थात्सर्वेषां देवानां स एवोत्पादको धाताधिष्ठाता मङ्गलकारी वर्त्तते । नातः परं किंचिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम् ॥

भाषार्थ

इस में निरुक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं इन का जन्म कर्म और ईश्वर के सामर्थ्य से होता है और इन का रथ अर्थात् जो रमण का स्थान अश्व अर्थात् शीघ्र सुख प्राप्ति का कारण आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु और इषु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्ट गुणों का छेदन करनेवाला शस्त्र है सो एक परमेश्वर ही है क्योंकि परमेश्वर ने जिस २ में जितना २ दिव्यगुण रक्खा उतना २ ही उन द्रव्यों में देवपन है अधिक नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सब का उत्पादन धारण और मुक्ति का देनेवाला है ॥

अत्रान्यदपि प्रमाणम् । ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन् । विदन्न-

ह्यद्विताम॑नन् ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ अ० २ व० ३५ म० १ । त्रय॑स्त्रिꣳशता-स्तुवत भूतान्य॑शाम्यन्प्रजाप॑तिः पर॒मेष्ठ्यधि॑पतिरासीत् ॥ २ ॥ य० अ० १४ म० ३१ ॥ यस्य॒ त्रय॑स्त्रिꣳशद्दे॒वा नि॒धिं रक्ष॑न्ति सर्व॒दा । नि॒धिं तम॒द्य को वे॑द॒ यं दे॑वा अभि॒रक्ष॑थ ॥ ३ ॥ यस्य॒ त्रय॑स्त्रिꣳशद्दे॒वा अङ्गे॒ गात्रा॑ विभेजि॒रे । तान्वै त्र-य॑स्त्रिꣳशद्दे॒वानेके॑ ब्रह्म॒विदो॑ विदुः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १० प्रपा० २३ अनु० ४ मं० २३ । २७॥ सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेतेहीदꣳसर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳसर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥४॥ कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥५॥ कतम आदित्या इति द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳसर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदꣳसर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ६ ॥ कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमस्स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥७॥ कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ द्वौ देवाविरयन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति ॥ ८ ॥ तदाहुः । यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ।९॥ श० कां० १४ । अ० ५ ॥

अथैषामर्थः ॥ वेदमन्त्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम् । शाकल्य प्रति याज्ञवल्क्योक्तिः । त्रयस्त्रिंशदेव देवाः सन्ति । अष्टौ वसवः । एकादश रुद्राः । द्वादशादित्याः । इन्द्रः प्रजापतिश्चेति । तत्र (वसवः) अग्निः । पृथिवी । वायुः । अन्तरिक्षम् । आदित्यः । द्यौः । चन्द्रमाः । नक्षत्राणि च । एते चाष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति ।आदित्य सूर्य्यलोकस्तस्य प्रकाशोऽस्ति द्यौः सूर्य्यसन्निधौ पृथिव्यादिषु वा । अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव (कुत एते वसव इति) यद्यस्मादेतेष्वष्टस्वेवेदं सर्वं सम्पूर्णं वसु वस्तुजातं हितं धृतमस्ति । किंच सर्वेषां वासाधिकरणानीम एव लोकाः सन्ति । हि यतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वासहेतवस्तस्मात्कारणादग्न्यादयो वसुसंज्ञकाः सन्तीति

बोद्धव्यम् । (एकादशरुद्रा) ये पुरुषेऽस्मिन्देहे—प्राणः । अपान । व्यान । समानः । उदान । नाग । कूर्म । कृकल । देवदत्तः । धनञ्जयश्च । इमे दश प्राणा एकादश आत्मा सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति । कुत एते रुद्रा इत्यत्राह । यदा यस्मिन्काले ऽस्मान्मरणधर्मकाच्छरीरादुत्क्रामन्तो निःसरन्त सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनास्ते रोदयन्ति यतो जना रुदन्ति । तस्मात्कारणादेते रुद्रा सन्तीति विज्ञेयम् । (द्वादशादित्या) चैत्राद्या फाल्गुनान्ता द्वादशमासा आदित्या विज्ञेया । कुतो हि यत एते सर्वं जगदाददाना अर्थादासमन्तादगृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य वस्तुन आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति चक्रवद् भ्रमणेनोत्तरोत्तरं जातस्य वस्तुनोऽवयवशिथिलता परिणामेन प्रापयन्ति तस्मात्कारणान्मासानामादित्यसंज्ञा कृतास्ति । इन्द्रः परमैश्वर्ययोगात्स्तनयित्नुरशनिर्विद्युदिति । प्रजापतिर्यज्ञः पशवश्चेति । प्रजायाः पालनहेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणिकी संज्ञा कृतास्ति । एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद् देवा भवन्ति । देवो दानादित्यादिनिरुक्तधा त्वेतेषु व्यावहारिकमेव देवत्वं योजनीयम् । त्रयो लोकास्त्रयो देवाः । के त इत्यत्राह निरुक्तकारः । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति । नि० अ० ९ ख० २८ । त्रयो लोका एत एव । वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥ श० का० १४ अ० ४ एतेपि त्रयो देवा ज्ञातव्याः ॥ द्वौ देवावन्नं प्राणश्चेति । अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्थसूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद्वायुर्देव । किमेते सर्वे एवोपास्याः सन्तीत्यत्राह । नैव किंतु (स ब्रह्म०) यत्सर्वं जगत्कर्तृ सर्वशक्तिमत्सर्वेष्टं सर्वोपास्यं सर्वाधारं सर्वव्यापकं सर्वकारणमनादि सच्चिदानन्दस्वरूपमजं न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योऽस्तीति मन्तव्यम् । ये वेदोक्तमार्गपरायणा आर्य्यास्ते सर्वदैतस्यैवोपासनं चक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । अस्माद्भिन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन मानार्य्यत्वमेव मनुष्येषु सिध्यतीति निश्चयः । अत्र प्रमाणम् । आत्मेत्येवोपासीत स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳरोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति । योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानाम् ॥ श० का० १४ अ० ४ । अनेनाप्येतिह्यासेन विज्ञायते न परमेश्वरं विहायान्यस्योपासकाभागाः स्यान्नितिन ॥

भाषार्थ

अब आगे देवता विषय में तेतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद मन्त्रों का व्याख्यान लिखा है (त्रयस्त्रिंशत्०) अर्थात् व्यवहार के ये (३३) तेतीस देवता हैं (८) आठ वसु (११) ग्यारह रुद्र (१२) बारह आदित्य एक इन्द्र और एक प्रजापति। उन में से आठ वसु ये है—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र; इन का वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते है और ये ही सब के निवास करने के स्थान हैं (११) ग्यारह रुद्र ये कहाते है जो शरीर में दश प्राण है अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवा जीवात्मा है क्योंकि जब ये इस शरीर से निकल जाते है तब मरण होने से उस के सम्बन्धी लोग रोते हैं वे निकलते हुए उन को रुलाते हैं इस से इन का नाम रुद्र है इसी प्रकार आदित्य बारह महीनों को कहते है क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सब की आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं इसी से इन का नाम आदित्य है ऐसे ही इन्द्र नाम बिजुली का है क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इसलिये कहते है कि उस से वायु और वृष्टि जल की शुद्धिद्वारा प्रजा का पालन होता है तथा पशुओं की यज्ञ संज्ञा होने का यह कारण है कि उन से भी प्रजा का जीवन होता है ये सब मिल के अपने २ दिव्य गुणों से तेतीस देव कहाते है और तीन देव स्थान नाम और जन्म को कहते है। दो देव अन्न और प्राण को कहते है। अध्यर्धदेव अर्थात् जिससे सब का धारण और वृद्धि होती है जो सूत्रात्मा वायु सब जगत् में भर रहा है उस को अध्यर्ध-देव कहते है। प्र०—क्या ये चालीस देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य है? उ०· इन में से कोई भी उपासना के योग्य नहीं है किन्तु व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है। इस में यह प्रमाण है (स ब्रह्म०) जो सब जगत् का कर्ता सर्वशक्तिमान् सब का इष्ट सब को उपासना के योग्य सब का धारण करने वाला सब में व्यापक और सब का कारण है जिस का आदि अन्त नहीं और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है जिस का जन्म कभी नहीं होता और जो कभी अन्याय नहीं करता इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिस का प्रति-पादन किया है उसी को इष्ट देव मानना चाहिये और जो कोई इस से भिन्न को इष्ट देव मानता है उस को अनार्य्य अर्थात् अनाडी कहना चाहिये क्योंकि (आत्मेत्ये०) इस में आर्य्यों का इतिहास शतपथब्राह्मण में है कि परमेश्वर जो सब का आत्मा है सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी उचित है इससे जो कोई कहै कि परमेश्वर को छोड़

के दूसरे में भी ईश्वरबुद्धि से प्रेमभक्ति करना चाहिये तो उससे कहें कि सदा दुःखी होके रोदन करेगा क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है वह सदा आनन्द में ही रहता है। जो दूसरे में ईश्वर बुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता इसलिये वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधा के समान है। इससे यह निश्चय हुआ कि आर्य्यलोग सब दिन से एक ईश्वर ही की उपासना करते आये हैं॥

अतः फलितार्थोऽयं जातः। देवशब्दे दिवुधातोर्ये दशार्थास्ते सगता भवन्तीति। तद्यथा क्रीडा। विजिगीषा। व्यवहारः। द्युतिः। स्तुतिः। मोदः। मदः। स्वप्नः। कान्तिः। गतिश्चेति। एषामुभयत्र समानार्थत्वात्। परत्वन्या सर्वा देवताः परमेश्वरप्रकाश्या सन्ति स च स्वयप्रकाशोऽस्ति। तत्र क्रीडनं क्रीडा। दुष्टान् विजेतुमिच्छा विजिगीषा। व्यवह्रियन्ते यस्मिन् व्यवहरणं व्यवहारः। स्वप्नो निद्रा। मदो ग्लेपनं दीनता। एते मुख्यतया लौकिकव्यवहारवृत्तयो भवन्ति। तत्सिद्धिहेतवोऽग्न्यादयो देवताः सन्ति। अत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य त्यागो भवति तस्य सर्वत्रानुसगितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात्। तथा द्युतिर्द्योतनं प्रकाशनंस्तुतिर्गुणेषु गुणकथनं स्थापनं च मोदो हर्षः। प्रसन्नता कान्तिः शोभा। गतिर्ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। एते परमेश्वरे मुख्यतया यथावत्सगच्छन्ते। अतोन्यत्र तत्सत्तया गौण्या वृत्त्या वर्त्तन्ते। एवं गौणमुख्याभ्यां हेतुभ्यामुभयत्र देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते॥

भाषार्थ

इससे यह सिद्ध हुआ कि दिवु धातु के जो दश अर्थ हैं वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों अर्थ में यथावत् घटते हैं क्योंकि इनके दोनों अर्थ की योजना वेदों में अच्छे प्रकार से की है। इन में इतना भेद है कि पूर्वोक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है इससे वही एक सब का पूज्य देव है। और दिवु धातु के दश अर्थ ये हैं कि एक क्रीडा जो खेलना दूसरा विजिगीषा जो शत्रुओं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का चौथा, निद्रा और पांचवा मद, ये पांच अर्थ मुख्य करके व्यवहार में ही घटते हैं क्योंकि अग्नि आदि ही पदार्थ व्यवहारसिद्धि के हेतु हैं परन्तु परमेश्वर का त्याग इस में भी सर्वथा नहीं होता क्योंकि वे देव उसी की व्यापकता और रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं तथा द्युति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्त्तन करना, मोद प्रसन्नता, कान्ति जो शोभा, गति जो

ज्ञान गमन और प्राप्ति हैं, ये पाच अर्थ परमेश्वर में मुख्य करके वर्तते हैं क्योंकि इन से भिन्न अर्थों में जितने २ जिन २ में गुण हैं उतना २ ही उनमें देवतापन लिया जाता है। परमेश्वर में तो सर्वशक्तिमत्त्वादि सब गुण अनन्त हैं इस से पूज्य देव एक वही है ॥

अत्र केचिदाहुः । वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद्वेदाः संशयास्पदं मा-माः सन्तीति गम्यते । अत्रोच्यते । मैवं भ्रमि । ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वा तन्त्र्यस्य रक्षितत्वात् । यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षितास्ति । अतः चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोऽस्ति अत्र कश्चिद्ब्रूयान्नेत्रेण सूर्य्या दिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं न दर्शयतीति यथा तस्य व्यर्थेयं शङ्कास्ति तथा पूजनं पूजा सत्कारः प्रियाचरणमनुकूलाचरणं चेत्यादयः पर्य्याया भवन्ति । इयं पूजा ह्यक्षेपि सर्वैर्जनैः क्रियत एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्याक्रियायोगित्वं चास्ति तावद्देवतात्वमप्यस्तु नात्र काचित्क्षतिरस्ति कुतः वेदेषु यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात् ॥

भाषार्थ

प्र०-इस विषय में कोई २ मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि उन में जड और चेतन की पूजा लिखी है इस से वेदों में संदेह सहित कथन मालूम पडता है। उ०—ऐसा भ्रम मत करो क्योंकि ईश्वर ने पदार्थों के बीच में स्वतन्त्र गुण रक्खे हैं। जैसे उसने आंख में देखने का सामर्थ्य रक्खा है तो उससे दीखता है। यह लोक में व्यवहार है इस में कोई पुरुष ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र और सूर्य्य के विना रूप को क्यों नहीं दिखलाता है। जैसे यह शङ्का उसकी व्यर्थ है वैसे ही पूजाविषय में भी जानना क्योंकि जो दूसरे का सत्कार प्रियाचरण अर्थात् उस के अनुकूल काम करना है इसी का नाम पूजा है सो सब मनुष्यों को करनी उचित है इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना२ अर्थका प्रकाश दिव्यगुण क्रियासिद्धि और उपकार लेने का सम्भव है उतना २ उनमें देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती क्योंकि वेदों में जहा२ उपासनाव्यवहार लिया जाता है वहा२ एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया है ॥

तत्रापि सतद्वय विग्रहवत्यग्निग्रहवद्देवताभेदात् । तदुभयं पूर्वं प्रतिपादितम् । अन्यच्च । मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्य्यदेवो भव अतिथिदेवो भव । प्रपा० ७ अनु० ११ । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । प्रपा० ७ अनु० १ ॥ इति सर्वमनुष्योपास्याः पञ्चदेवता-

स्तैत्तिरीयोपनिषद्युक्ताः । यथात्र मातापितराचार्य्यातिथिश्चेति सशरीरा देवताः सन्ति ॥ एवं सर्वथा निःशरीरं ब्रह्मास्ति ॥

भाषार्थ

इस देवता विषय में दो प्रकार का भेद है। एक मूर्तिमान् और दूसरा अमूर्तिमान्। जैसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार तो मूर्तिमान् देवता हैं और पांचवां परब्रह्म अमूर्तिमान् है अर्थात् उस की किसी प्रकार की मूर्ति नहीं है। इस प्रकार से पांच देवों की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है ॥

तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्च वसवो विग्रहवत्यः सन्ति। एवमेकादशरुद्रा द्वादशादित्या मनः षष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्रश्चेति शरीररहिताः। तथास्तनयित्नुर्विधियज्ञौ च सशरीराशरीरे देवते स्त इति। एवं सशरीरनिश्शरीरभेदेन देवताद्वयं भवति। तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते। इत्थमेव मातृपित्राचार्य्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं चैतावन्मात्रं च। परमेश्वरस्तु खलिवष्टे.पयोगित्वेनैवोपास्योऽस्ति। नातो-वेदेषु खरतर कश्चिद्देवता पूज्योपास्यत्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम् ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ वसुओं में से अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच मूर्तिमान् देव हैं और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र, ये मूर्तिरहित देव हैं, तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् भी हैं * इस से साकार और निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिये इन में से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में तथा माता पिता आचार्य्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करना मात्र ही देवपन है और ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ करने में होता है परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य एक परमेश्वर ही देव है ॥

अत इदानीतना केचिदार्य्या यूरोपखण्डवासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च तदलीकतरमस्ति। तथा यूरोपखण्डवासिनो

* इन्द्रियों की शक्तिरूप द्रव्य अमूर्तिमान् और गोलक मूर्तिमान् तथा विद्युत् और विधियज्ञ में जो २ शब्द तथा ज्ञान अमूर्त्तिमान् और दर्शन तथा सामग्री मूर्त्तिमान् जानना चाहिये।

बहव एवं वदन्ति पुरा ह्यार्य्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन् पुनस्ता संपूज्य संपूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं विदुरिति तदप्यसत् । तेषा सृष्टयारम्भमारभ्यानेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिर्नामभिर्वेदोक्तरीत्येश्वरस्यैवोपासनानुष्ठानाचारागमात् ॥

भाषार्थ

प्र०—कितने ही आज काल के आर्य्य और यूरोपदेश वासी अर्थात् अंगरेज आदि लोग इस में ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है। वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्य्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर पूजते २ बहुत काल पीछे उन्हों ने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था। यह उन का कहना मिथ्या है क्योंकि आर्य्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त इन्द्र वरुण और अग्नि आदि नामों करके वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये है। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, उन में से थोड़े से यहा भी लिखते है ॥

अत्र प्रमाणानि । (अग्निमी०) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि इन्द्रं मित्रम्० । ऋङ्मन्त्रोयम् । अस्योपरीसमेवाग्निं महान्तमात्मानमित्यादि निरुक्तं च लिखित तत्र द्रष्टव्यम् । तथा तदेवाग्निस्तदादित्य० इति यजुर्मन्त्रश्च । तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियं जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम् । पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ १ ॥ ऋ० अ० १ अ० ६ व० १५ मं० ५ ॥ हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत् । स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ऋ० अ० ८ अ० ७ व० ३ मं० १ । इत्यादयो नव मंत्रा एतद्विषयाः सन्ति । प्रतद्वो॑चेद॒मृतं॒ नु वि॒द्वान् ग॑न्ध॒र्वो धाम॒ विभृ॑तं॒ गुहा॒ सत् । त्रीणि॑ प॒दानि॒ निहि॑ता॒ गुहा॑स्य॒ यस्तानि॒ वेद॒ स पि॒तुः पि॒तास॑त् ॥ ३ ॥ स नो॒ बन्धु॑र्जनि॒ता स वि॑धा॒ता धामा॑नि वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑ । यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त ॥ ४ ॥ प॒रीत्य॑ भू॒तानि॑ प॒रीत्य॑ लो॒कान् प॒रीत्य॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च । उ॒प॒स्थाय॑ प्रथम॒जामृ॒तस्या॒त्मना॒त्मान॑म॒भि सं वि॑वेश ॥ ५ ॥ य० अ० ३२ म० ६ । १० । ११ ॥ वेदा॒हमे॒तं पुरु॑षं म॒हान्त॑मादि॒त्यव॑र्णं॒ तम॑सः प॒रस्ता॑त् । तमे॒व वि॑दि॒त्वाति॑ मृ॒त्युमे॑ति॒ नान्यः पन्था॑ विद्य॒तेऽय॑नाय ॥ ६ ॥ य० अ० ३१ म० १८ ।

ते तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ य० अ० ४० मं० ५ । स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमित्यादि च ॥ य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः । स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ २ ॥ आविवेश ॥ ८ ॥ किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् । यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ ९ ॥ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ १० ॥ य० अ० १७ मं० १७ । १८ । १९ ॥ इत्यादयो मन्त्रा यजुषि बहवः सन्ति । तथा सामवेदस्यो-त्तरार्चिके त्रिकम् ११ । अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ ११ ॥ न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ॥ अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ १२ ॥ इत्यादयश्च ॥ नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् । किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १३ ॥ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ १४ ॥ इत्यन्ताः सप्तमन्त्रा ऋग्वेदे । अ० ८ अ० ७ व० १७ मं० १ । ७ ॥ यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् । कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद्बभूव ॥ १५ ॥ यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता । यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्य्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिता स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १६ ॥ अथर्व० का० १० अनु० ४ मं० ८ । १२ ॥ इत्यादयोऽथर्ववेदेपि बहवो मन्त्राः सन्ति एतेषां मन्त्राणां मध्यात्केषाञ्चिदर्थः पूर्वं प्रकाशितः केषाञ्चिदग्रे विधास्यतेऽत्राप्रसङ्गान्नोच्यते । अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ १ ॥ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ २ ॥ यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ३ ॥ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं ये तु पश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ४ ॥ नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति

भाषार्थ

इसी विषय में डाक्टर मोक्षमूलर साहेब ने अपने बनाये संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि आर्य्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था और वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता किन्तु उन के नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं इस में एक तो हिरण्यगर्भ शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दो सौ वर्ष पीछे बना है और दूसरा मन्त्र उन में से छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम पड़ता है कि जिस की उत्पत्ति बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हो सक्ती और उस में कथन इस प्रकार का है जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो उस की उत्पत्ति में (३१००) इकतीस सौ वर्ष व्यतीत हुए हैं और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में (२९००) उनतीस सौ वर्ष हुए हैं उस में (अग्नि पूर्वेभि०) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है सो उन का यह कहना ठीक नहीं हो सक्ता क्योंकि उन्होंने (हिरण्यगर्भ ०) और (अग्निःपूर्वेभि ०) इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है तथा मालूम होता है कि उन को हिरण्यगर्भ शब्द नवीन जान पड़ा होगा इस विचार से कि हिरण्य नाम है सोने का वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है अर्थात् मनुष्यों की उन्नति राजा और प्रजा के प्रबन्ध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है सो यह बात भी उन की ठीक नहीं हो सक्ती क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि ज्योति कहते हैं विज्ञान को सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिस के और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादिलोक जिस के गर्भ में है तथा ज्योति जो जीवात्मा जिस के गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिस के स्वरूप में है इसी प्रकार ज्योति इन्द्र अर्थात् सूर्य्य वायु और अग्नि ये सब जिस के सामर्थ्य में है ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन और सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है परन्तु इस से उन का नवीनपन सिद्ध कभी नहीं हो सक्ता। इससे डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना जो वेदों के नवीन होने के विषय में है सो सत्य नहीं है और जो उन्होंने (अग्नि पूर्वेभिः०) इस का प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है सो भी अन्यथा है क्योंकि इस मन्त्र में वेदों के कर्त्ता त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जान के कहा है कि वेदों को पढ़ के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ते हैं वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें तथा ऋषि नाम मन्त्र प्राण और तर्क का भी है इन से ही मेरी स्तुति करनी योग्य है इसी अपेक्षा

से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है। इससे वेदों का सनातनपन और उत्तमपन तो सिद्ध होता है किन्तु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सक्ता, इसी हेतु से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना ठीक नहीं ॥

भाष्यम्

अत्र निरुक्तेपि प्रमाणम् । तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोपि श्रुतितोपि तर्कतो न तु । पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति । नि० अ० १३ ख० १२ ॥ अस्यार्थः । (तत्प्रकृतीत०) तस्य मन्त्रसमूहस्य पदच्छन्दोक्षरसमुदायानामितरत् परस्पर विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्तौ वर्त्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति । कोयं खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहो बुद्ध्याभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः । नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् २ मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः । किंतु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः । किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति । न यावद्वा पारोवर्य्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयो विद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति । न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति । अत्रेतिहासमाह । पुरस्तात्कदाचिन्मनुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृषूत्क्रामत्स्वसत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन्नपृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीत्युत्तरमुक्तवन्तः । कथम्भूतं तं तर्कं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् । मन्त्रार्थविज्ञानकारकम् । अतः किं सिद्धं यः कश्चिदनूचानो विद्यापारगः पुरुषोऽभ्यूहति वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम् । किंच यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्युह्यते तदनार्षमनृतं भवति । नैतत्केनाप्यादर्त्तव्यमिति । कुतः । तस्यानर्थयुक्तत्वात् । तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति । अत पूर्वैः प्राक्तनैः प्रथमोत्पन्नैस्तर्कर्षिभिस्तथा नूतनैर्वर्त्तमानस्थैश्चोतापि भविष्यद्भिश्च त्रिकालस्थैरस्मिं परसे-

श्वरएवेड्योस्ति । नैवास्माद्भिन्नः कश्चित्पदार्थः कस्यापि मनुष्यस्येड्य'स्तोतव्य उपास्योस्तीति निश्चयः । एवमग्निः पूर्वैभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुतेत्यस्य मन्त्रस्यार्थसंगतेर्नैव वेदेष्ववर्वाचीनाख्यः कश्चिद् दोषो भवितुमर्हतीति ॥

भाषार्थ

इस में विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् विना विचारे उन के अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त है अर्थात् उन में जितने मन्त्र और पद हैं वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करने वाले है और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है क्योंकि उन के शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते है। इस में निरुक्त का भी प्रमाण है जैसा कि यास्क मुनि ने कहा है (तत्प्रकृतीत०) इत्यादि वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जबतक सत्य प्रमाण सुतर्क वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध न हो और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उन के सग से पक्षपात छोड के आत्मा की शुद्धि न हो तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे तबतक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता । इसलिये सब आर्य्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है वही मनुष्यों के लिये ऋषि है इस से यह सिद्ध होता है कि जो सायणाचार्य्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों के झूठे व्याख्यानों को देख के आजकल के आर्य्यावर्त्त और यूरोपदेश के निवासी लोग जो वेदों के ऊपर अपनी २ देशभाषाओं में व्याख्यान करते हैं वे ठीक २ नहीं हैं और उन अनर्थ युक्त व्याख्यानो के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है, इससे बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं तर्क का नाम ऋषि होने से सब आर्य्य लोगों का सिद्धान्त है कि सब कालों में अग्नि जो परमेश्वर है वही उपासना करने के योग्य है ॥

भाष्यम्

अन्यच्च । प्राणा वा ऋषयो दैव्यास । ऐ० पं० २ अ० ४ । पूर्वेभिः पूर्वकालावस्थास्थैः कारणस्थैः प्राणैः कार्य्यद्रव्यस्थैर्नूतनैश्चर्षिभिः सहैव समाधियोगेन सर्वैर्विद्वद्भिरग्निः परमेश्वर एवेड्योस्त्यनेन श्रेयो भवतीति मन्तव्यम् ।

भाषार्थ

जगत् के कारण प्रकृति में जो प्राण हैं उन को प्राचीन और उस के कार्य्य में

जो प्राप्त हैं उन को नवीन कहते हैं इस लिये सब विद्वानों को उन्हीं ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्नि नामक परमेश्वर की ही स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है। इतने से ही समझना चाहिये कि भट्ट मोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक २ नहीं जाना है ॥

भाष्यम्

यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्तीति तदप्यसङ्गतम् । कुतः । छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्य्यायवाचकत्वात् । तत्र छन्दोऽनेकार्थवाचकमस्ति । वैदिकानां गायत्र्यादिवृत्तानां लौकिकानामार्य्यादीनां च वाचकम् । क्वचित्स्वातन्त्र्यस्यापि । अत्राहुर्यास्काचार्य्याः । मन्त्रा मननाच्छन्दांसि च्छादनात्स्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः साम सम्मितमृचा । नि० अ० ७ ख० १२ ॥ अविद्यादिदुःखानां निवारणात्सुखैराच्छादनाच्छन्दो वेदः । तथा चन्देरादेश्च छः इत्यौणादिकं सूत्रम् । चदि आह्लादने दीप्तौ चेत्यस्माद्धातोरसुन्प्रत्यये परे चकारस्य छकारादेशे च कृते छन्दस इति शब्दो भवति । वेदाध्ययनेनैव सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आह्लादी भवति सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः । छन्दांऽसि वै देवा वयो नाधाश्छन्दोभिर्हीदंऽसर्वं वयुनं नद्धम् श० का० ८ अ० २ । एता वै देवताश्छन्दांऽसि । श० का० ८ अ० ३ । अस्यायमभिप्रायः । मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे । अस्माद्धलश्चेति सूत्रेण घञ्प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते । गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन्वर्त्तते स मन्त्रो वेदः । तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति तेषां तदर्थवत्त्वात् । तथा मनज्ञाने अस्माद्धातोः सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् इत्युणादि सूत्रेण ष्ट्रन्प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दो व्युत्पद्यते । मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन्वा स मन्त्रो वेदः । तद्यथा अग्निमीळे पुरोहितमित्यादयो मन्त्रा गृह्यन्ते । यानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वाद्देवताशब्देन गृह्यन्ते । अतश्च छन्दांस्येव देवाः । वयोनाधाः सर्वक्रियाविद्यानिबन्धनास्तैश्छन्दोभिरेव वेदैर्मन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेश्वरेण नद्धं बद्धं कृतमिति विज्ञेयम् । येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः सवृता आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति । तस्माच्छन्दांसि वेदा मननान्मन्त्राश्चेति पर्य्यायौ । एवं श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय इति मनुस्मृतौ इत्यपि निगमो भवतीति निरुक्ते श्रुतिर्वेदो मन्त्राश्च निगमो वेदो

मन्त्रश्चेति पर्यायौ स्तः। श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुतिर्वेदो मन्त्राश्च श्रुतयः। तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति ॥

भाषार्थ

जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थ वाची अर्थात् संहिता भाग के नाम हैं वैसे ही निगम और श्रुति वेदों के नाम है। भेद होने का कारण केवल अर्थ ही है। वेदों का नाम छन्द इसलिये रक्खा है कि वे स्वतन्त्र प्रमाण और सत्यविद्याओं से परिपूर्ण हैं तथा उन का मन्त्र नाम इसलिये है कि उन से सत्यविद्याओं का ज्ञान होता है और श्रुति इसलिये कहते हैं कि उन के पढ़ने, अभ्यास करने और सुनने से सब सत्यविद्याओं को मनुष्यलोग जान सक्ते हैं। ऐसे ही जिस करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उस को निगम कहते हैं, इससे यह चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं, ऐसा ही जानना चाहिये ॥

भाष्यम्

तथा व्याकरणेपि। मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः ॥ १ ॥ अष्टाध्याय्याम्। अ० २ पा० ४। सू० ८०। छन्दसि लुङ् लङ् लिटः ॥ २ ॥ अ० ३ पा० ४ सू० ६। वामपूर्वस्य निगमे ॥ ३ ॥ अ० ६ पा० ४ सू० ९ ॥ अत्रापिच्छन्दो मन्त्रनिगमाः पर्य्यायवाचिनः सन्ति। एवं छन्दआदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते ॥

भाषार्थ

वैसे ही अष्टाध्यायी व्याकरण में भी छन्द मन्त्र और निगम ये तीनों नाम वेदों ही के हैं, इसलिये जो लोग इन में भेद मानते हैं उन का वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं ॥

इति वेदविषयविचार

अथ वेदसंज्ञाविचारः

अथ कोयं वेदो नाम मन्त्रभागसंहितेत्याह। किंच मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमितिकात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति। मैवं वाच्यम्। न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति। कुतः। पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति ॥

प्र०—वेद किनका नाम है ? उ०—मन्त्रसंहिताओं का। प्र०—जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मंत्र और ब्राह्मण ग्रंथों का नाम वेद है फिर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं ? उ०—ब्राह्मणग्रंथ वेद नहीं हो सक्ते क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। एक कात्यायन को छोड के किसी अन्य ऋषि ने उन के वेद होने में साक्षी नहीं दी है और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं; इन हेतुओं से ब्राह्मणग्रंथों की वेदसंज्ञा नहीं हो सक्ती और मंत्रसंहिताओं का वेद नाम इस लिये है कि ईश्वररचित और सब विद्याओं का मूल हैं ॥

भाष्यम्

यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति न चैवं मन्त्रभागे। किंचभोः। त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ मं० ६२। इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते। अनेनेतिहासादिविषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यता दृश्यते पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते। मैवं भ्रमि। नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणौ मनुष्यस्य नाम्नी स्तः। अत्र प्रमाणम्। चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः। श० कां० ८ अ० १। कश्यपो वै कूर्मः प्राणो वै कूर्मः। शत० कां० ७ अ० ५। अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति। शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः। अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते तद्यथा—हे जगदीश्वर भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु। चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां प्राणो मन आदीनां च (यद्देवेषु त्र्यायुषम्) अत्र प्रमाणम्। विद्वांसो हि देवाः। श० कां० ३ अ० ७। अनेन विदुषां देवसंज्ञास्ति। देवेषु विद्वत्सु यद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति (तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत्। येन सुखयुक्ता वयं तावदायुर्भुञ्जीमहि। अनेनान्यदप्युपदिश्यते। ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्यैरेतत्त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते। अतोऽर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यते। अतो नात्र

मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्य्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद्भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम् ॥

भाषार्थ

प्र०—जैसे ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रंथों में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी गार्गी और जनक आदि के इतिहास लिखे हैं वैसे ही (त्र्यायुष जमदग्ने ०) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं। इससे मंत्र और ब्राह्मणभाग ये दोनों बराबर होते हैं फिर ब्राह्मणग्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो? उ०-ऐसा भ्रम मत करो क्योंकि जमदग्नि और कश्यप ये नाम देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं इस का प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है इस कारण से यहां प्राण से अन्तःकरण और आंख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये अर्थात् जिनसे जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं (त्र्यायुष ज०) सो इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि हे जगदीश्वर! आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और आंख आदि सब इन्द्रियों की (३००) तीन सौ वर्ष तक उमर बनी रहे (यद्देवेषु०) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है (तन्नो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो तथा (त्र्यायुष जमदग्ने ०) इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्य्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है अर्थात् (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों से सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश किया है लौकिक इतिहासों का नहीं। इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी २ बनाई टीकाओं में वेदों में जहां तहां इतिहास वर्णन किये हैं वे सब मिथ्या हैं ॥

भाष्यम्

तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादि नामास्ति न ब्रह्मवैवर्त्तश्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते । किंच भोः । ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र क्वचिद्ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु । यद्ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरित्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते । एषां मूलमथर्ववेदे प्यस्ति ।

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत । तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् । इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १५ । प्रपा० ३० ।

अनु० १ म० ४ । अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसंज्ञया कुतो न गृह्यन्ते । नैव वाचि । एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते न श्रीमद्भागवतादीनामिति । कुतः । ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् । तत्र देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादय इतिहासा ग्राह्याः । सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम् । छान्दोग्योपनि० प्रपा० ६ । आत्मा वा इदमेकमेवाग्रआसीन्नान्यत् किञ्चनमिषत् । इत्यैतरेयारण्यकोपनि० अ० १ ख० १ ॥ आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास । श० का० ११ अ० १ । इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत् । इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि । कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशकाः । तद्यथा । इषेत्वोर्जेत्वेति वृष्ट्यै तदाह । यदाहेषेत्वेत्यूर्जेत्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह । सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूताः । श० का० १ अ० ७ । इत्यादयो ग्राह्याः । गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादो यथा शतपथब्राह्मणे गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति । नाराशंस्यश्च । अत्राहुर्यास्काचार्याः । नराशंसो यज्ञ इति कथक्यो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणिर्नरैः प्रशस्यो भवति । नि० अ० ८ खं० ६ ॥ नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताद्यन्तर्गता कथा नाराशंस्यो ग्राह्या नातोऽन्या इति किंच तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद्ब्राह्मणानीति संज्ञी पदमितिहासादिस्तेषां संज्ञेति । तद्यथा । ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति ॥

भाषार्थ

और इस हेतु से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही इतिहासादि नाम जानना चाहिये, श्रीमद्भागवतादि का नहीं । प्र०—जहां २ ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में (यद्ब्राह्मण०) इतिहास पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इत्यादि वचन देखने में आते हैं तथा अथर्ववेद में भी इतिहास पुराणादि नामों का लेख है इस हेतु से ब्राह्मण ग्रन्थों से भिन्न ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवत महाभारतादि का ग्रहण इतिहास पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो? उ०—इन के ग्रहण में कोई भी प्रमाण नहीं है क्योंकि उन में मतों के परस्पर विरोध और लड़ाई आदि की असम्भव मिथ्या कथा अपने २ मत के अनुसार लोगों ने लिख रक्खी है इससे इतिहास और पुराणादि नामों से इन का ग्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं । जो ब्राह्मण ग्रन्थों में (देवासुरा संयत्ता आसन्) अर्थात् देव विद्वान् और असुर मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है

(सदेवसो०) अर्थात् जिस में जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है (इषेत्वोर्जेत्वेति वृष्ट्यै०) जो वेद मन्त्रों के अर्थ अर्थात् जिन में द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है उन का नाम कल्प है, इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य जनक गार्गी मैत्रेयी आदि की कथाओं का नाम गाथा है और जिन में नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है उन को नाराशंसी कहते हैं (ब्राह्मणानीतिहासान्०) इस वचन में ब्राह्मणानि संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा है अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम इतिहास पुराण कल्प गाथा और नाराशंसी है सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में जो २ जैसी २ कथा लिखी है उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये अन्य का नहीं ॥

भाष्यम्

अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये । वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ १ ॥ अ० २ आ० २ सू० ६० ॥ अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम् । प्रमाणं शब्दो यथा लोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः । अयमभिप्रायः । ब्राह्मण ग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिका इति । तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते । सू०—विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ २ ॥ अ० २ आ० २ सू० ६१ ॥ अस्योप० वा० भा० । त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति तत्र । सू० विधिर्विधायकः ॥ ३ ॥ अ० २ आ० २ सू० ६२ ॥ अस्योप० वा० भा० । यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः । विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा यथाग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादि । ब्राह्मणवाक्यानामिति शेषः । सू०-स्तुतिर्निन्दापरकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥४॥ अ० २ आ० २ सू० ६३ । अस्योप०वा०भा०। विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः । संप्रत्ययार्थं स्तूयमानं श्रद्दधीतेति प्रवर्त्तिका च फलश्रवणात्प्रवर्त्तते सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वस्यैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येवमादि । अनिष्टफलवादो निन्दावर्जनार्थं निन्दितं न समाचरेदिति । स एष वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतत्ययमेतज्जीर्यते वा इत्येवमादि । अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः । हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति । अथ पृषदाज्यं तदु ह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति । अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधतीत्येवमादि । ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति ।

तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा हवि पवमानं सामस्तोममस्तोपन् योनेर्यज्ञं प्रत नवामहइत्येवमादि। कथ परकृतिपुराकल्पौ अर्थवादा इति । स्तुतिनिन्दा-वाक्येनाभिसम्बन्धाद्विध्याश्रयस्य कस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति ॥

भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा होने में और भी प्रमाण है, जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में भी हैं उन में से एक विधिवाक्य है। जैसे (देवदत्तो ग्राम गच्छेत्सुखार्थम्) सुख के लिये देवदत्त ग्राम को जाय। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में भी है (अग्निहोत्र जुहुयात्स्वर्गकाम) जिस को सुख की इच्छा हो वह अ-ग्निहोत्रादि यज्ञों को करे। दूसरा अर्थवाद है जो कि चार प्रकार का होता है। एक स्तुति अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम काम करने और गुणों के ग्रहण में ही हो, दूसरी निन्दा अर्थात् बुरे काम करने में दोषों का दिख लाना जिससे उन को कोई न करे। तीसरा (परकृतिः) जैसे इस चोर ने बुरा काम किया इस से उस को दड मिला और साहूकार ने अच्छा काम किया इससे उस की प्रतिष्ठा और उन्नति हुई। चौथा (पुराकल्प) अर्थात् जो बात पहिले हो चुकी हो जैसे जनक की सभा में याज्ञवल्क्य गार्गी शाकल्य आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तर रीति से सवाद किया था इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं ॥

भाष्यम्

सू०—विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ५ ॥ अ०२ आ०२ सू० ६४ ॥ अ-स्योप० वा० भा० । विध्यनुवचन चानुवादो विहितानुवचनं च पूर्वः शब्दा-नुवादोऽपरोऽर्थानुवादः । सू०—न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसभवाभावप्रामा-ण्यात् ॥ ६ ॥ अ० २ आ० २ सू० १ ॥ अस्योप० वा० भा० । न चत्वार्य्येव प्रमाणानि किं तर्हि। ऐतिह्यमर्थापत्तिः सभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि। इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्य्यमैतिह्यम्। अनेन प्रमाणेनापी-तिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते नान्यदिति ॥

भाषार्थ

इस का तीसरा भाग अनुवाद है अर्थात् जिस का पूर्व विधान करके उसी का स्मरण और कथन करना सोभी दो प्रकार का है। एक शब्द का और दूसरा अर्थ का। जैसे वह विद्या को पढे यह शब्दानुवाद है, विद्या पढने से ही ज्ञान होता है इस को अर्थानुवाद कहते हैं, जिस की प्रतिज्ञा उसी में हेतु उदाहरण उपनय और निगमन

को घटाना हो जैसे परमेश्वर नित्य है, यह प्रतिज्ञा है । विनाश रहित होने से यह हेतु है। आकाश के समान है इस को उदाहरण कहते हैं । जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी है इस को उपनय कहते हैं और इन चारों का क्रम से उच्चारण करके पक्ष में यथावत् योजना करने को निगमन कहते हैं। जैसे परमेश्वर नित्य है विनाशरहित होने से आकाश के समान जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी । इससे इस में समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी वार उच्चारण और विचार हो इस को अनुवाद कहते हैं सो ब्राह्मण पुस्तकों में यथावत् लिखा है इस हेतु से भी ब्राह्मण पुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये क्योंकि इन में से इतिहास पुराण कल्प गाथा और नाराशसी ये पाच प्रकार की कथा सब ठीक २ लिखी हैं और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिये क्योंकि उन में मिथ्या कथा बहुत सी लिखी है ॥

भाष्यम्

अन्यच्च । ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति नैव वेदाख्यानीति । कुतः । इषेत्वोर्जेत्वेति श० का० १ अ० १ । इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदाना व्याख्यानकरणात् ॥

भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती क्योंकि (इषेत्वोर्जेत्वेति०) इस प्रकार से उन में मन्त्रों की प्रतीक धर २ के वेदों का व्याख्यान किया है और मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मण ग्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में आती, इससे जो ईश्वरोक्त मूल मन्त्र अर्थात् चार सहिता हैं वेही वेद हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं ॥

भाष्यम्

अन्यच्च महाभाष्येपि । केषा शब्दानाम् । लौकिकानां वैदिकानां च । तत्र लौकिकास्तावत्। गौरश्वः पुरुषोहस्तीशकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति । वैदिकाः खल्वपि । शन्नोदेवीरभिष्टये। इषेत्वोर्जेत्वा । अग्निमीळेपुरोहितम् । अग्न-आयाहि वीतयइति । यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसञ्ज्ञाभीष्टाभूत्तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात् । अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसञ्ज्ञा मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि । किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव घटन्ते । कुतः । तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात् । द्वितीया ब्राह्मणे ॥ १ ॥ अ० २ पा० ३ सू० ६० । चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । २ । अ० २ पा० ३ सू० ६२ ॥

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ॥ ३ ॥ अ० ४ पा० ३ सू० १०५ ॥ इत्यष्टाध्याय्या सूत्राणि । अत्रापि पाणिन्याचार्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादनं कृतम् । तद्यथा पुराणैः । प्राचीनैर्ब्रह्माद्यृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति । अतएवैतेषां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति । यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा भवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात् । कुतः । द्वितीया ब्राह्मणेति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात् । अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति अतः किं सिद्धम् । ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति । अत्र प्रमाणम् । ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः । श० का० १३ अ० १ ॥ समानार्थावेतौ ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च । इति व्याकरणमहाभाष्ये । अ० ५ पा० १ आ० १ ॥ चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि । अन्यच्च । कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात्सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा समतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः । एवं तेनानुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरग्रहीतत्वात् । अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति । इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम् ॥

भाषार्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण है जिस में लोक और वेदों के भिन्न २ उदाहरण दिये हैं, जैसे गौरश्व ० इत्यादि लोक के और शन्नोदेवीरभिष्टय इत्यादि वेदों के हैं किन्तु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया और गौरश्व इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं वे सब ब्राह्मण पुस्तकों के हैं क्योंकि उन में ऐसाही पाठ है इसी कारण से ब्राह्मण पुस्तकों की वेद संज्ञा नहीं हो सकती और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेद संज्ञा होने में वचन है सो सहचार उपाधि लक्षणा से किया हो तो भी नहीं बन सकता क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि उस लकड़ी को भोजन करादो और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती किन्तु जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उस को भोजन कराना चाहिये, इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता क्योंकि इस में अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है इस से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म नाम ब्राह्मण का है सो ब्रह्मादि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे उन्हीं के बनाए हुए ऐतरेय शतपथ आदि वेदों के व्याख्या-

न है इसी कारण से उन के किये ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ है । इससे निश्चय हुआ कि मन्त्र भाग की ही वेद संज्ञा है, ब्राह्मण ग्रन्थों की नहीं ॥

भाष्यम्

किञ्च भोः ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहोस्विन्नेति । अत्र ब्रूमः । नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तुं योग्यमस्ति । कुतः । ईश्वरोक्ताभावात्तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति । परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येवेति ॥

भाषार्थ

प्र०—हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं ? उ०— ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं *॥

इति वेदसंज्ञाविचार

अथ ब्रह्मविद्याविषयः

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ॥ अत्रोच्यते । सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः । तत्रादिमा ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाश्यते । तमीशा॑नं जग॑तस्तस्थुष॒स्पतिं॑ धियं जिन्वमव॑से हूमहे व॒यम् । पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ १ ॥ ऋ० अ० १ अ० ६ व० १५ म० ५॥ तद्विष्णोः॑ पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑ । दि॒वी॑व॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥२॥ ऋ० अ० १ अ० २ व० ७ म० ५ ॥ अनयोरर्थः । (तमीशानम्) ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्त्ता (जगतस्तस्थुषस्पतिं) जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी (धियं जिन्वम्) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्त्ता (अवसे हूमहे वयम्) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः (पूषा) पुष्टिकर्त्ता (नः) स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति (यथा वेदसामसद्वृधे) हे परमेश्वर यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानस्ति तथैव कृपया (रक्षिताऽसत्) रक्षकोऽस्तु । एवं (पायुरदब्धः स्वस्तये) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय (अदब्धः) अनलसः सन् पालनकर्त्ता सदैवास्तु ॥१॥ तद्विष्णोरिति मंत्रस्यार्थो वेदविषयप्रकरणे विज्ञानकाण्डे गदितस्तत्र द्रष्टव्यः ॥

---

* इस में इतना भेद है कि जो ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं वेद से विरुद्ध हो उस का प्रमाण करना किसी को न चाहिये और ब्राह्मण ग्रन्थों से विरोध आवे तो भी वेदों का प्रमाण होता है ॥

भाषार्थ

प्र०– वेदों में सब विद्या है वा नहीं ? उ०– सब हैं क्योंकि जितनी सत्य विद्या संसार में हैं वे सब वेदों से ही निकली हैं उन में से पहिले ब्रह्म विद्या संक्षेप से लिखते हैं। (तमीशान) जो सब जगत् का बनाने वाला है (जगतस्तस्थुषस्पति) अर्थात् जगत् जो चेतन और तस्थुष जो जड़ इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करने वाला है (धियं जिन्वम्) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्त करने वाला है उस की (अवसे हूमहे वयम्) हम लोग आह्वान अर्थात् अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं (पूषा न) क्योंकि वह हम को सब सुखों से पुष्ट करने वाला है (यथा वेदसामसद्वृधे) हे परमेश्वर ! जैसे आप अपनी कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ाने वाले हैं वैसे ही (रक्षिता) सब की रक्षा भी करें, (पायुरदब्ध स्वस्तये) जैसे आप हमारे रक्षक है वैसे ही सब सुख भी दीजिये ॥ १ ॥ (तद्विष्णो ०) इस मन्त्र का अर्थ वेदविषय प्रकरण के विज्ञान काण्ड में अच्छे प्रकार लिख दिया है वहां देख लेना ॥ २ ॥

भाष्यम्

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशोदिशश्च ॥ उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ म० ११ ॥ (परीत्य भू०) यः परमेश्वरो भूतान्याकाशादीनि परीत्य सर्वतोभिव्याप्य सूर्य्यादीन् लोकान् परीत्य पूर्वादिदिशः परीत्य आग्नेयादिप्रदिशश्च परीत्य परितः सर्वतः इत्वा प्राप्य विदित्वा च । (उपस्थाय प्र०) य स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति । यश्च प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि जनयति तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा विदित्वा चाभिसंविवेश आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षाख्यं सुखमनुभवतीति ॥

भाषार्थ

(परीत्य भू०) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्य लोकान्) सूर्य्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है (परीत्य सर्वा ०) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है अर्थात् जिस की व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है (ऋतस्या०) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है (प्रथमजा) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है वही उस को प्राप्त होके (अभि०) सदा मोक्ष सुख को भोगता है ॥ ३ ॥

उन सब के लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं क्योंकि जहां २ वे मन्त्र आवेंगे वहां २ उन का अर्थ कर दिया जायगा ॥

इति ब्रह्मविद्याविषयविचार

———०———

अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाश्यते

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् । देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४६ मं० २॥

(संगच्छध्व०) ईश्वरोऽभिवदति हे मनुष्या मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं संगच्छध्वं सम्यक् प्राप्नुत अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं संगता भवत येन युष्माकमुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत सर्वदुःखनाशश्च भवेत् (संवद०) संगताभूत्वा परस्परं जल्पवितण्डादि विरुद्धवादं विहाय सम्प्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत यतो युष्मासु सम्यक्सत्यविद्याद्युत्तमगुणाः सदा वर्धेरन् (सं वो मनांसि जानताम्) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत जानता वो युष्माकं मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुतार्थाद्येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम् । युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्मश्चेत्यत्र दृष्टान्त उच्यते (देवा भागं यथा०) यथा पूर्वे संजानाना ये सम्यग्ज्ञानवन्तो देवा विद्वांस आप्ताः पक्षपातरहिता ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन् युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्त्तन्ते किंवा ये मृतास्ते यथा भागं भजनीयं सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं मदुक्तं धर्मं चोपासते । तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयो यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत् ॥ १ ॥

भाषार्थ

अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है । (संगच्छध्व) देखो परमेश्वर हम सबों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि हे मनुष्य लोगो ! जो पक्षपातरहित न्याय सत्याचरण से युक्त धर्म है तुम लोग उसी को ग्रहण करो उस से विपरीत कभी मत चलो किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़ के परस्पर सम्मति में रहो जिस से तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय और

किसी प्रकार का दुःख न हो (सवदध्व०) तुम लोग विरुद्ध वाद को छोड के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढना पढाना प्रश्न उत्तर सहित संवाद करो जिस से तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढती रहे (सवो मनांसि जानताम्) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढाते रहो जिस से तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढावे, जिस से तुम लोग ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये अधर्म का नहीं (देवा भागं य०) जैसे पक्षपात रहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं उसी प्रकार से तुम भी करो क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य असत्य का यथावत् बोध होता है अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

स॒मा॒नोमन्त्र॒ः समि॑तिः समा॒नी स॑मा॒नं मन॑ः स॒हचि॒त्तमे॑षाम्॥
स॒मा॒नं मन्त्र॑म॒भिम॑न्त्रये वः समा॒नेन॑ वो ह॒विषा॑ जुहोमि ॥ २ ॥
ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४९ । म० ३ ॥

(समानोमन्त्रः०) हे मानवा वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणोपदेशेन ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हतीति । तद्यथा । राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककर्त्तेत्यर्थः सोपि सत्यज्ञानफलः सर्वोपकारकः समानस्तुल्योऽर्थाद्विरोधरहितएव भवतु । यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा सन्दिग्धपदार्थानां विचारः कर्त्तव्यो भवेत्तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुस्तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्तत्तत्सर्वं मात्वैकरूपं कृत्वा नित्यं समाचरत । यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेतातथा (समितिः समानि) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्थार्थोद्या न्यायप्रचाराढ्यासर्वं मनुष्याणां साम्यज्ञानप्रदा ब्रह्मचर्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका शिष्टसभया राज्यप्रबन्धाद्यांल्हादिता परमार्थव्यवहारशोधिका बुद्धिशरीरबलारोग्यवर्द्धिनी शुभमर्य्यादापि समानीसर्वमनुष्यस्वतात्रदानसुखवर्धनार्थैकरसैव कार्य्येति (समानं मनः०) मनः संकल्पविकल्पात्मकं संकल्पोभिलाषेच्छेत्यादि विकल्पोऽप्रीति द्वेषइत्यादि शुभगुणान्प्रति संकल्पः अशुभगुणान्प्रति विकल्पश्च रक्षणीयः ।

एतद्धर्मकं युष्माकं मनः समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु ।यच्चित्तं यत्पूर्वानुभूतस्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात्सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत्सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्य्यम् (सह) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम् । (एषा०) येन्त्येषा सर्वजीवानां सर्गे स्वात्मवद्वर्त्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातृणामुपर्य्यहं कृपालुर्भूत्वा (अभिमंत्रये वः) युष्मान्पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि । इत्थमेव सर्वैः कर्त्तव्यमिति । येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित्सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् । (समानेन वो०) हविर्दानं ग्रहणं च तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्य्यम् । तेन समानेनैव हविषा वो युष्मान् जुहोमि सत्यधर्मेण सहवाहं सदा नियोजयामि । अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति ॥२॥

भाषार्थ

(समानो मन्त्र) हे मनुष्य लोगो! जो तुम्हारा मन्त्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो उस में किसी प्रकार का विरोध न हो और जब २ तुम लोग मिल के विचार करो तब २ सब के वचनों को अलग २ सुन के जो २ धर्मयुक्त और जिस में सब का हित हो सो २-सब में से अगल करके उसी का प्रचार करो जिस से तुम सभों का बराबर सुख बढ़ता जाय (समितिः समानी) और जिस में सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे २ काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिससे बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों ऐसी जो उत्तम मर्य्यादा है सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो जिस से तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जाय (समान मनः सह चित्त) हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा मन भी आपस में विरोधरहित अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के सम तुल्य पुरुषार्थवाला हो । शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प और दुष्टगुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते है। जिस से जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है उस का नाम मन है उस से सदा पुरुषार्थ करो जिस से तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो तथा चित्त उस को कहते हैं कि जिस से सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो वह भी तुम्हारा एकसा हो (सह) जो तुम्हारा मन और चित्त हैं ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें (एषा०) इस प्रकार से जो मनुष्य सब का उपकार करने और सुख देनेवाले हैं मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूं (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः) अर्थात् मैं उन के लिये आशीर्वाद

और आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल चलें जिस से उन का सत्य धर्म बढ़े और असत्य का नाश हो (समानेन वो हविषा जुहोमि) हे मनुष्य लोगो ! जब२ कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो तब२ धर्म से युक्त ही करो उस से विरुद्ध व्यवहार को मत करो और यह बात निश्चय करके जान लो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूं इसलिये कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इस से भिन्न को धर्म कभी मत मानो ॥ २ ॥

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः ॥ समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४९ म० ४ ॥

भाष्यम्

अस्यायमभिप्रायः । हे मानवा वो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसम्बन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति । (समानीव०) आकूतिरध्यवसाय उत्साह आस्तीनिर्वो सापि वो युष्माकं परस्परोपकारकरणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु । यथा मदुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य विलोपो न स्यात्तथैव कार्य्यम् (समाना हृदयानि वः) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्म्माणि निर्वैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु (समानमस्तु वो मनः) अत्र प्रमाणम् काम: सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति । श० का० १४ अ० ४ ॥ मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम् । शुभगुणानामिच्छा कामः । तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा सङ्कल्पः । पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छा संशयो विचिकित्सा । ईश्वरसत्यधर्म्मादिगुणानामुपर्य्यत्यन्त विश्वासः श्रद्धा । अनीश्वरवादाधर्माद्युपरिसर्वथा ह्यनिश्चयोऽश्रद्धा । सुखदुःखप्राप्त्यापीश्वरधर्माद्युपरि सदैव निश्चयरक्षणं धृतिः । अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्य्यमित्यधैर्य्यमधृति । सत्यधर्म्माचरणेऽसत्याचरणे मनसः सङ्कोचो घृणा ह्रीः । शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्तिर्धीः । असत्याचरणादीश्वराज्ञाभङ्गात्पापाचरणादीश्वरो न सर्वत्र पश्यतीत्यादि वृत्तिर्भीः । एतद्धर्मैक्यं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु । (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्या वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसति सम्यक् सुखोन्नति स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः । सर्वान् सुखिनो

दृष्ट्वा चित्त आल्हादः कार्य्यः । नैव कंचिदपि दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्त्तव्यम् किंतु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्य्यमिति ॥

भाषार्थ

(समानीव आकूति) ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है उस को धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो निश्चय उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को आकूति कहते हैं। हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो और सदा वैसाही प्रयत्न करते रहो कि जिस से (समाना हृदयानि वः) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहैं (समानमस्तु वो मन) मन शब्द का अनेक बार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिस से मन के अनेक अर्थ जाने जाय (काम) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड देना इस का नाम काम है (संकल्पः) जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उस को संकल्प कहते हैं (विचिकित्सा) जो २ काम करना हो उस २ को प्रथम शंका कर कर के ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है उसका नाम विचिकित्सा है (श्रद्धा) जो ईश्वर और सत्य धर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है उस को श्रद्धा जानना (अश्रद्धा) अर्थात् अविद्या कुतर्क बुरे काम करने ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिये (धृति) जो सुख दुःख हानि लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना उस का नाम धृति है (अधृति) बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं (ह्री) अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है उस को ह्री कहते है (धी) जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करनेवाली वृत्ति है उस को धी कहते हैं (भी) जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उस से उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जान कर उस से सदा डरना कि जो मैं पाप करूंगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम मन है, इस को सब प्रकार से सब के सुख के लिये युक्त करो । (यथा व सुसहासति) हे मनुष्य लोगो । जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्म सेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े ऐसा काम सब दिन करते रहो किसी

को दुःखी देख के अपने मन में सुख मत मानो किन्तु सब को सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा रहें वैसाही यत्न करते रहो ॥३॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः ॥ अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः ॥ ४ ॥ य० अ० १९ म० ७७ ॥

भाष्यम्

अस्यायम० (दृष्ट्वा०) प्रजापतिः परमेश्वरो धर्ममुपदिशति सर्वैर्मनुष्यैः सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीयाऽसत्ये चाश्रद्धेति । (प्रजापतिः) परमेश्वरः (सत्यानृते) धर्माधर्मौ (रूपे) प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्वा (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति । कथमित्यत्राह (अश्रद्धाम०) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धामदधात् । अर्थादधर्मेऽश्रद्धां कर्त्तुमाज्ञापयति । तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते सत्ये प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते पक्षपातरहिते न्याय्ये धर्मे प्रजापतिः सर्वेश्वरः श्रद्धां चादधात् एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सदैव कार्य्यमिति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(दृष्ट्वा०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये असत्य में कभी नहीं (प्रजापति) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है जिन के प्रकट और गुप्त लक्षण है * (व्याकरोत्) उन को ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक २ विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग २ किया है सो इस प्रकार से हैं कि (अश्रद्धाम०) हे मनुष्य लोगो तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में (अश्रद्धा) अर्थात् प्रीति कभी मत करो वैसाही (श्रद्धाꣳस०) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो वा की जाय वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है उस के आचरण में सब दिन प्रीति रक्खो और जो २ तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है उस २ में अपने आत्मा प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो ॥ ४ ॥

* जितना धर्म अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टाके साथ सम्बन्ध रखता है वह प्रकट और जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह गुप्त कहाता है ॥

मुपैमि) सो यह व्रत है कि जिस को मैं निश्चय से चाहता हूं उन सब असत्य कामों से छूट के सत्य के आचरण करने में सदा दृढ रहूं परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है उतना पुरुषार्थ अवश्य करे उस के उपरांत ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये जैसे कोई मनुष्य आंख वाले पुरुष को ही किसी चीज़ को दिखला सकता है अन्धे को नहीं, इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है अन्य पर नहीं क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं जब उन से पूर्ण पुरुषार्थ करता है तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है अन्य पर नहीं क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं ॥६॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ॥ दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ७ ॥ यजु० अ० १९ मं० ३० ॥

भाष्यम्

(व्रतेन दी०) अस्या० यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते सत्यं चिकीर्षति तदैव सत्यं विजानाति तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम् । नासत्ये चेति । यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति । तदा दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोति । (दीक्षयाप्नोति द०) यदा दीक्षितः सन्नुत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति सास्य दक्षिणा भवति तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति (दक्षिणा श्र०) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मचर्य्यादिसत्यव्रतैः सत्काराढ्या स्वस्यान्येषां च भवति तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति । कुतः । सत्याचरणमेव सत्कारकारकमस्त्यतः । (श्रद्धया०) यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धेत तदा तया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते नान्यथेति अतः किमागतं सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धयितव्यः ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(व्रतेन दी०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है तभी सत्य को जानता है उसी सत्य में मनुष्यों का श्रद्धा करनी चाहिये असत्य में कभी नहीं (व्रतेन) जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढता से करता है तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है (दीक्षयाप्नोति०)

जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तब सब लोग सब प्रकार से उस का सत्कार करते हैं क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है अन्यथा नहीं (दक्षिणा श्र०) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है तब उसी में दृढ विश्वास होता है क्योंकि सत्य धर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है (श्रद्धया०) फिर सत्य के आचरण में जितनी २ अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना २ ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते है अधर्माचरण से नहीं। इस से क्या सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जाय जिस से सत्य धर्म की यथावत् प्राप्ति हो ॥ ८ ॥

श्रमे॑ण॒ तप॑सा सृ॒ष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तऋ॒ते श्रि॒ता ॥ ९ ॥ स॒त्येनावृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता॒ यश॑सा॒ परी॑वृता ॥१०॥ अथर्व० कां० १२ अनु० ५ म० १।२।

भाष्यम्

(श्रमेण तपसा०) अभिप्रा० श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि प्रकाश्यन्त इति । श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थं उद्यम इत्यादि । तपो धर्मानुष्ठानं तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा रचिताः । अतः (ब्रह्मणा) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः (ऋते श्रिता०) ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता अत्र सेवमानाश्च सदैव भवन्तु ॥ ९ ॥ (सत्येनावृ०) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाऽव्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ता सर्वे मनुष्या सन्तु । (श्रिया प्रावृ०) श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्त्तिराज्यसेवमानया प्रकृष्टया लक्ष्म्याऽऽवृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु । (यशसा०) सत्कृष्य गुणग्रहणं सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतोवृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः ॥ १० ॥

भाषार्थ

(श्रमेण तपसा०) इन मन्त्रों के अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को (श्रमेण०) इत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये क्योंकि ईश्वर ने (श्रम ०) जो परम प्रयत्न का करना और (तप) जो धर्म का आचरण करना है इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है इस कारण से (ब्रह्मणा) ब्रह्म जो वेद विद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने २ ज्ञान को बढ़ावें (ऋतेश्रिता) सब मनुष्य ऋत

जो ब्रह्म सत्य विद्या और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करें ॥९॥ (सत्येनावृता) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों (श्रिया प्रावृता) हे मनुष्य लोगो ! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके चक्रवर्त्ति राज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके अति श्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त हो के शोभारूप श्री को सिद्धकरके उस को चारों ओर पहिन के शोभित हों (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये॥१०॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ११ ॥ ओजश्च तेजश्च सहश्च बलंच वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥१२॥ अथर्व० कां०१२ । अनु० ५ मं० ३।७॥

भाष्यम्

(स्वधया परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव संतुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिण स्युः (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति नासदिति तया सत्योपरिदृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊढाः प्राप्तवन्तः सन्तु (दीक्षया गुप्ता) सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृतसत्योपदेशेन दीक्षया गुप्ता रक्षिताः सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः (यज्ञे प्रतिष्ठिताः) (यज्ञो वै विष्णुः) व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु (लोकोनिधनम्) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्त्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः ॥ ११ ॥ अन्यच्च । (ओजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः (तेजश्च) प्रगल्भता धृष्टता निर्भयता निर्दीनता सत्ये व्यवहारे कर्त्तव्या (सहश्च) सुखदुःखहानिलाभादिक्लेशप्रदवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्त्तव्यम् (बलं च) ब्रह्मचर्य्यादिशुभनियमाचरणेन शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्वसम्पादनं भीमणादिकर्मयुक्तं बलं च कार्य्यमिति (वाक् च) विद्याशिक्षासत्यमधुरभाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्य्येति (इन्द्रियं च) मन आदीनि वागभिन्नानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणेन कर्मेन्द्रियाणि च सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद् व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि (श्रीश्च) समाहृरा-

ष्यश्रीः परम पुरुषार्थेन कार्य्येति (धर्मश्च) अयमेव वेदोक्तो न्याय्य पक्षपात-रहितः सत्याचरणयुक्त सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः। अस्यैवेयं पूर्वापरा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही पदार्थों का धारण करें इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हो (श्रद्धया पर्य्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों। क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही जिसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं। (दीक्षया गुप्ता) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हो और मनुष्यादि प्राणियों की रक्षा में परमपुरुषार्थ करो (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञ जो सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध कर के उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें (लोको नि०) जब तक तुम लोग जीते रहो तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो किन्तु इस में आलस्य कभी मत करो। ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है ॥ ११ ॥ (ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना (सहश्च) सुख दुःख हानि लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़ के सत्य धर्म में दृढ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना (बल च) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना (वाक् च) सत्य विद्या की शिक्षा सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना (इन्द्रिय च) जो मन पाच ज्ञानेन्द्रिय और पाच कर्मेन्द्रिय हैं उन को पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना (श्रीश्च) चक्रवर्त्ति राज्य की सामग्री को सिद्ध करना (धर्मश्च) जो वेदोक्त न्याय से युक्त हो के पक्षपात को छोड़ के सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है तथा जो सब का उपकार करने वाला और जिस का फल इस जन्म और पर जन्म में आनन्द है उसी को धर्म और उस से उलटा करने को अधर्म कहते हैं। उसी धर्म की यह सब व्याख्या है कि जो (सगच्छध्व०) इस मत्र से लेके (यतोऽभ्युदय०) इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ १३ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च

जो ब्रह्म सत्य विद्या और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करें ॥९॥ (सत्येनावृता) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों (श्रिया प्रावृता) हे मनुष्य लोगो ! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके चक्रवर्त्ति राज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके अति श्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त हो के शोभारूप श्री को सिद्धकरके उस को चारों ओर पहिन के शोभित हों (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये॥१०॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ११ ॥ ओजश्च तेजश्च सहश्च बलंच वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥१२॥ अथर्व० कां०१२ । अनु० ५ म० ३।७॥

भाष्यम्

(स्वधया परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव संतुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिण स्युः (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति नासदिति तया सत्योपरिदृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊढाः प्राप्तवन्तः सन्तु (दीक्षया गुप्ता) सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृतसत्योपदेशेन दीक्षया गुप्ता रक्षिताः सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः (यज्ञे प्रतिष्ठिताः) (यज्ञो वै विष्णुः) व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु (लोकोनिधनम्) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्त्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः ॥ ११ ॥ अन्यच्च । (ओजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः (तेजश्च) प्रगल्भता धृष्टता निर्भयता निर्दीनता सत्ये व्यवहारे कर्त्तव्या (सहश्च) सुखदुःखहानिलाभादिक्लेशप्रदवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्त्तव्यम् (बलं च) ब्रह्मचर्य्यादिशुनियमाचरणेन शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्वसम्पादनं भीषणादिकर्मयुक्तं बलं च कार्यमिति (वाक् च) विद्याशिक्षासत्यमधुरभाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्य्येति (इन्द्रियं च) मन आदीनि वागभिन्नानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणेनकर्मेन्द्रियाणि च सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद् व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि (श्रीश्च) चक्रवर्त्ति-

व्यश्रीः परम पुरुषार्थेन कार्य्येति (धर्मश्च) अयमेव वेदोक्तो न्यायय पक्षपात-रहितः सत्याचरणयुक्त सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीय'। अस्यैवेयं पूर्वापरा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही पदार्थों का धारण करें इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हो (श्रद्धया पर्य्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों। क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही जिसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं। (दीक्षया गुप्ता) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हो और मनुष्यादि प्राणियों की रक्षा में परमपुरुषार्थ करो (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञ जो सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध कर के उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें (लोको नि०) जब तक तुम लोग जीते रहो तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो किन्तु इस में आलस्य कभी मत करो। ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है ॥ ११ ॥ (ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना (सहश्च) सुख दुःख हानि लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड के सत्य धर्म में दृढ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना (बल च) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढाना (वाक् च) सत्य विद्या की शिक्षा सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना (इन्द्रिय च) जो मन पाच ज्ञानेन्द्रिय और पाच कर्मेन्द्रिय हैं उन को पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना (श्रीश्च) चक्रवर्त्ति राज्य की सामग्री को सिद्ध करना (धर्मश्च) जो वेदोक्त न्याय से युक्त हो के पक्षपात को छोड के सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है तथा जो सब का उपकार करने वाला और जिस का फल इस जन्म और पर जन्म में आनन्द है उसी को धर्म और उस से उलटा करने को अधर्म कहते हैं। उसी धर्म की यह सब व्याख्या है कि जो (सगच्छध्व०) इस मन्त्र से लेके (यतोऽभ्युदय०) इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ १३ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च

चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ १४ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥१५॥ अथर्व कां० १२ अनु० ५ मं० ८ । ९ । १० ॥

भाष्यम्

इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धर्मो वेदेष्वीश्वरेणैव सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति (ब्रह्मच) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचारकरणत्वं च ब्राह्मणलक्षणं तच्च सदैव वर्धयितव्यम् (क्षत्रं च) क्षत्रियोपलक्षणं विद्याचातुर्यशौर्यधैर्यवीरपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम् (राष्ट्रं च) सत्पुरुषसभया सुनियमैः सर्वसुखाढ्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैव कार्य्यम् (विशश्च) वैश्यादिप्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोलेऽव्याहतगतिसंपादनेन व्यापाराद्धनवृद्ध्यर्थं संरक्षणं च कार्य्यम् (त्विषिश्च) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः सत्यगुणकामना च शुद्धा प्रचारणीयेति (यशश्च) धर्मान्वितानुत्तमा कीर्त्तिः संस्थापनीया (वर्चश्च) सद्विद्याप्रचारः सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धः कर्म सदा कार्य्यम् (द्रविणं च) अप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्य्या प्राप्तस्य संरक्षणं रक्षितस्य वृद्धिर्वृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्च योजनीयः । एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नतिसुखे सदैव कार्य्ये ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्य्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्य्यसुसेवनेनायुर्बलं कार्य्यम् (रूपं च) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्दर्य्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम् (नाम च) सत्कर्मानुष्ठानेन नाम प्रसिद्धिः कार्य्या यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मसूत्साहवृद्धिः स्यात् (कीर्त्तिश्च) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्त्तनं स्वसत्कीर्त्तिमत्त्वं च सदैव कार्य्यम् (प्राणश्चापानश्च) प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिबले कार्य्ये । शरीराद्बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स प्राणः । बाह्यदेशाच्छरीरं प्रविशति स वायुरपानः । शुद्धदेशनिवासादिनैनयोः प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां बुद्धिशारीरबलं च संपादनीयम् (चक्षुश्च श्रोत्रं च) चाक्षुषं प्रत्यक्षं श्रोत्रं शब्दजन्यं चादनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्य्यम् ॥१४॥ (पयश्च रसश्च) पयो जलादिकं रसो दुग्धघृतादिश्चैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक् शोधयित्वा भोक्तव्यौ (अन्नं चान्नाद्यं च) अन्नमोदनादिकमन्नाद्यं भोक्तुमर्हं शुद्धं संस्कृतमन्नं संपाद्यैव भोक्तव्यम् (ऋतं च सत्यं च) ऋतं ब्रह्म सर्वदैवोपासनीयं सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः

परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्तव्यम् मन्तव्य च। (इष्टं च पूर्तं च) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारक यज्ञानुष्ठानं च पूर्तं तु यत्पूर्त्त्यर्थं मनसावाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्वावस्तुसम्भारैर्यज्ञोऽस्यानुष्ठानपूर्तिः कार्य्येति (प्रजा च पशवश्च) प्रजा सन्तानादिका राज्यं च सुशिक्षा विद्या सुखान्विता हस्त्यश्वादय पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विता. कार्य्याः। बहुभि शुभाकारैरन्येऽपि शुभगुणा अत्र ग्राह्याः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(ब्रह्म च) सब से उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को ही ब्राह्मणवर्ण का अधिकार देना, उस से विद्या का प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें (क्षत्र च) अर्थात् सब कामों में चतुरता शूरवीरपन धीरज वीरपुरुषों से युक्त सेना का रखना दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना इत्यादि गुणों के बढानेवाले पुरुषों के क्षत्रियवर्ण का अधिकार देना (राष्ट्रञ्च) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना और उत्तम गुणसहित होके सब कामों को सदा सिद्ध करना चाहिये (विशश्च) वैश्य आदि वर्णों को व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने आने का प्रबंध करना और उन की अच्छी रीति से रक्षा करनी अवश्य है, जिस से धनादि पदार्थों की संसार में बढती हो (त्विषिश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये (यशश्च) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्त्ति को बढाना उचित है (वर्चश्च) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओं को अच्छी रीति से पढने पढाने का प्रचार सदा बढाते जाना चाहिये (द्रविण च) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिये, रक्षा किये पदार्थों की सदा बढती करना और सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बढे हुए धनादि पदार्थों का खरच यथावत् करना चाहिये। इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढा के सुख को सदा बढाते जाओ ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्य्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना तथा युक्तिपूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढाओ (रूप च) अत्यन्त विषय सेवा से पृथक् रह के और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना (नाम च) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिस से अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो (कीर्त्तिश्च) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो जिस से तुम्हारा भी यश बढ़े (प्राणश्चापानश्च)

जो वायु भीतर से बाहर आता है उस को प्राण और जो बाहर से भीतर जाता है उस को अपान कहते हैं योगाभ्यास शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ (चक्षुश्च श्रोत्रं च) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव, इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो ॥ १४ ॥ (पयश्च रसश्च) जो पय अर्थात् दूध जल आदि और जो रस अर्थात् शक्कर ओषधि और घी आदि हैं इन को वैद्यकशास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहो (अन्नं चान्नाद्यं च) वैद्यक शास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये (ऋतं च सत्यं च) ऋत नाम जो ब्रह्म है उसी की सदा उपासना करनी जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना और सत्य को ही मानना चाहिये (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देने वाला है उस इष्ट की सिद्धि करने की पूर्त्ति और जिस २ उत्तम कामों के आरम्भ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो २ आवश्यक हो सो २ सामग्री पूर्ण करनी चाहिये (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने संतान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है इन मन्त्रों में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें॥

भाष्यम्

अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम् । ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वा० तपश्च स्वा० दमश्च स्वा० शमश्च स्वा० अग्नयश्च स्वा० अग्निहोत्रं च स्वा० अतिथयश्च स्वा० मानुषं च स्वा० प्रजा च स्वा० प्रजनश्च स्वा० प्रजापतिश्च स्वा० सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥ वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्र० कुशलान्न प्र० भूत्यै न प्र० स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्र० देवपितृकार्याभ्यां न प्र० । मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकꣳसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥२॥ एके चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम् ।

ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्त्तेरन् तथा तेषु वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । प्रपा० ७ । अनु० ९ । ११ ॥

भाषार्थ

तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है सो आगे लिखते हैं (ऋत च०) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें उस के साथ वेदादि शास्त्रों का पढना पढाना भी बराबर करते जाय (सत्य च०) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक २ परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो वैसा ही बोलो और उसी को मानो उस के साथ पढना पढाना भी कभी न छोडो (तपश्च०) विद्याग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो (दमश्च०) अपनी आंख आदि इन्द्रियों को अधर्म और आलस्य से छुडा के सदा धर्म में चलाओ (शमश्च०) अपने आत्मा और मन को सदा धर्मसेवन में ही स्थिर रक्खो (अग्नयश्च०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध करो तथा अनेक प्रकार से शिल्पविद्या की उन्नति करो (अग्निहोत्रं च०) वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो (अतिथयश्च०) जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी सत्यकारी पूर्ण विद्वान् सब का सुख चाहने वाले हों उन सत्पुरुषों के सङ्ग से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढाते रहो (मानुष च०) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक २ प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढा के रक्षा करके और अच्छे कामों में खर्च करके उन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो (प्रजा च०) अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्षा से विद्वान् करके सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो (प्रजनश्च०) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उस को पुत्रेष्टि कहते हैं उस में श्रेष्ठ भोजन और औषधसेवन सदा करते रहो तथा ठीक२ गर्भ की रक्षा भी करो (प्रजातिश्च०) पुत्र और कन्याओं के जन्मसमय में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो। ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं उन सब के साथ स्वाध्याय जो पढ़ना

और प्रवचन जो पढाने का उपदेश किया है सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण है वे तब प्राप्त हो सकते है कि जब मनुष्य लोग सत्य विद्या को पढें और तभी सदा सुख में रहेंगे क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है इसलिये सब धर्म लक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है सो इन का त्याग करना कभी न चाहिये (सत्यमिति०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो (तप इति०) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्याग्रहण करो अर्थात् विद्या का जो पढना पढाना है यही सब से उत्तम है ॥ १ ॥ (वेदमनूच्या०) जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देने वाला है वह विद्या पढने के समय और जब तक न पढ चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि हे पुत्रो ! वा शिष्य लोगो ! तुम सदा सत्य ही बोला करो और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो इस में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो । आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो और युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो तथा सत्य धर्म को कभी मत छोडो, कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढाते जाओ और पढने पढाने में कभी आलस्य मत करो ॥१॥ (देव पितृ०) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और सङ्ग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो । माता पिता आचार्य अर्थात् विद्या के देनेवाले और अतिथि जो सत्य उपदेश के करने वाले विद्वान् पुरुष हैं उनकी सेवा में आलस्य कभी मत करो। ऐसे ही सत्यभाषणादि शुभ गुणों और कर्मों ही का सदा सेवन करो, किन्तु मिथ्याभाषणादि को कभी मत करो । माता पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो ! वा शिष्यलोगो ! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं। जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं उन्ही के वचनों में विश्वास करो और उन को प्रीति वा अप्रीति से श्री वा लज्जा से भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो तथा विद्यादान सदा करते जाओ । जब तुम को किसी बात में सदेह हो तब पूर्ण विद्वान् पक्षपातरहित धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शंकानिवारण सदा करते रहो वे लोग जिस २ प्रकार से जिस २ धर्म काम में चलते होवें वैसे ही तुम भी चलो । यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटा के उस के स्थान में विद्या का और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो ॥

भाष्यम्

ऋतं तप सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० अनु० ८। सत्यं परं परꣳ सत्यꣳ सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सताꣳ हि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते ॥ तप इति तपो नानशनात्परं यद्धि परं तपस्तद्दुर्धर्षं तद्दुराधर्षं तस्मात्तपसि० ॥ दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दमे० ॥ शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे० ॥ दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशꣳसन्ति दानान्नातिदुष्करं तस्माद्दाने० ॥ धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं धर्मान्नातिदुश्चरं तस्माद्धर्मे० ॥ प्रजनन इति भूयाꣳसस्तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजायन्ते तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजनने० ॥ अग्नय इत्याह तस्मादग्नय आधातव्याः अग्निहोत्रमित्याह तस्मादग्निहोत्रे० ॥ यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवङ्गतास्तस्माद्यज्ञे० ॥ मानसमिति विद्वाꣳसस्तस्माद्विद्वाꣳस एव मानसे रमन्ते ॥ न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि न्यास एवात्यरेचयत्। य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ प्राजापत्यो हारुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार किं भगवन्तः परमं वदन्तीति तस्मै प्रोवाच सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति ॥ तपसा देवा देवतामग्र आयन्तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन् तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्तपः प० ॥ दमेन दान्ताः किल्विषमवधून्वन्ति दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन् दमो भूतानां दुराधर्षं दमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दमं प० ॥ शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दञ्छमो भूतानां दुराधर्षं शमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माच्छमं प० ॥ दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा लोके दातारꣳ सर्वभूतान्युपजीवन्ति दानेनारातीरपानुदन्त दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं प० ।धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं प० । प्रजननं वै प्रतिष्ठा लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितृणामनृणो भवति तदेव तस्य अनृणं तस्मात्प्रजननं प० । अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था गार्हपत्य ऋक् पृथिवी रथन्तरमन्वाहार्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्यमाहवनीयः साम सुवर्गो लोको बृहत्तस्मादग्नीन्प० ॥ अग्निहोत्रꣳसायं

प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः स्विष्टꣳसुहुत यज्ञक्रतूनां प्रायणꣳ सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं प० ॥ यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगता यज्ञेनासुरानपानुदन्त यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्यज्ञं प० ॥ मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं मानसेन मनसा साधु पश्यति मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्तमानसे प्रतिष्ठितं तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ॥ तैत्तिरि० आरण्य० प्रपा० १० अनु० ६२ । ६३ ॥ (एतेषामभि०) सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणानि धर्मलक्षणानि सदैव सेव्यानीति । (ऋतं च०) यथार्थस्वरूपं ज्ञानं (सत्यं च०) सत्यस्याचरणं च (तपश्च०) ज्ञानधर्मयोर्ऋतादिधर्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम् (दमश्च) अधर्माचरणादीन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः कार्य्या (शमश्च०) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्य्येति (अग्नयश्च०) वेदादिशास्त्रेभ्योऽग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणम् (अग्निहोत्रं च) नित्यहोममारभ्याश्वमेधपर्य्यन्तेन यज्ञेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसंपादनं कार्य्यम् (अतिथय०) पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां सम्यक्सेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्य्यम् (मानुषं च०) मनुष्यसम्बन्धिराज्यविद्यादिवित्तं सम्यक् सिद्धं कर्त्तव्यम् (प्रजा च०) धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासुशिक्षयान्विता कार्य्या (प्रजनश्च०) वीर्य्यवृद्धिः पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम् । (प्रजातिश्च०) गर्भरक्षाजन्मसमये संरक्षणं सन्तानशरीरबुद्धिवर्धनं च कर्त्तव्यम् (सत्यमिति०) मनुष्यः सदा सत्यवक्तैव भवेदिति राथीतराचार्य्यस्य मतमस्ति (तप इति०) यदृतादिसेवनेनैव सत्यविद्याधर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति पौरुशिष्टेराचार्य्यस्य मतमस्ति । परन्तु नाकोमौद्गल्यस्येदं मतमस्ति स्वाध्यायो वेदविद्याध्ययनं प्रवचनं सदध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति । इदमेव मनुष्येषु परमं तपोस्ति नातः परमुत्तमं धर्मलक्षणं किंचिद्विद्यत इति (वेदमनूच्या०) आचार्य्यः शिष्याय वेदानध्याप्य धर्ममुपदिशति हे शिष्य त्वया सदैव सत्यमेव वक्तव्यं सत्यभाषणादिलक्षणोधर्मश्च सेवनीयः शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये आचार्य्यसेवा प्रजोत्पत्तिश्च सत्यधर्मकुशलतैश्वर्य्यसंवर्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये देवा विद्वांस पितरो ज्ञानिनश्च तेभ्यो ज्ञानग्रहणं तेषां सेवनं च सदैव कार्य्यमेवं मातृपित्राचार्य्यातिथीनां सेवनं चैतत्सर्वं सम्प्रीत्या कर्त्तव्यम् । नैतत्कदापि प्रमादात्त्याज्यमिति । वक्ष्यमाण-

रीत्यामात्रादय उपदिशेयुः । भोः पुत्रा यान्युत्तमानि कर्म्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि । येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्त्व-त्सङ्गस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्त्तव्यो नेतरेषाम् । मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या श्रिया लज्जया भयेन प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम् । अर्थात् प्रतिग्रहाद्दानमतीव श्रेयस्करमिति । भोः शिष्य तव कस्मिंश्चित्कर्मण्याच-रणे च संशयो भवेत्तदा ब्रह्मविदां पक्षपातरहितानां योगिनामधर्मात् पृथ-ग्भूतानां विद्यादिगुणैः स्निग्धानां धर्मकामानां विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यं तेषामेवाचरणं च । यादृशेन मार्गेण ते विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्त-व्यम् । अयमेव युष्माकं हृदयं आदेश उपदेशो हि स्याण्यत इयमेव वेदाना-मुपनिषदस्ति । ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम् । ईदृगाचरणपुरःस-रमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति ॥ इदानीं त-पसो लक्षणमुच्यते ॥ ऋतं यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं यथार्थज्ञानं च (स-त्यं०) सत्यकथनं सत्यमाचरणं च (श्रुत०) सर्वविद्याश्रवणं श्रावणं च । (शा-न्तं०) अधर्मात्पृथक्कृत्यमनसो धर्मे संस्थापनं मनः शान्तिः । (दमस्त०) इन्द्रियाणां धर्मएव प्रवर्त्तनमधर्मान्निवर्त्तनं च, (शमस्त०) मनसोपि नि-ग्रहश्चाधर्माद्धर्मे प्रवर्त्तनं च ॥ (दानं त०) तथा सत्यविद्यादिदानं सदा क-र्त्तव्यम् (यज्ञस्त०) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं चैतत्सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते ना-न्यदिति । अन्यच्च । (भूर्भुवः) हे मनुष्य सर्वलोकव्यापकं यद्ब्रह्मास्ति त-देव त्वमुपास्वेदमेव तपो मन्यध्वं नातो विपरीतमिति (सत्यं प०) सत्य-भाषणात्सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किंचिन्नास्त्येव । कुतः सत्येनैव नि-त्यं मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनस्तस्मान्नैव कदापि च्युतिर्भवति । स-त्पुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति तस्मात्कारणात्सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयमिति ॥ तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम् । एवं स-म्यग्ब्रह्मचर्य्यसेवनेन विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते । एवमेव दानादिष्वर्थग-तिः कार्या । विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः । एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति । सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति सत्येनैव मनुष्याणां प्र-तिष्ठा जायते नान्यथेति । मानसा ऋषयः प्राणा विज्ञामादयश्चेति ॥

भाषार्थ

(ऋतं तप०) तप इस को कहते हैं कि जो (ऋत) अर्थात् यथार्थ तत्व मा-नने, सत्य बोलने (श्रुत) अर्थात् सब विद्याओं को सुनने (शांत) अर्थात् उत्तम कर्म

करने और अच्छे स्वभाव के धारने में सदा प्रवृत्त रहो तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ और प्रेम भक्ति से, तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है उसको भी तप कहते हैं। ऋत आदि का अर्थ प्रथम कर दिया है। (सत्य पर०) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिस का ऋत भी नाम है सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है जिस से छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते इसलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये (तपइति०) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण करना जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है तदपि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम है इस से तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है (दमइति०) जितेन्द्रिय हो के जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है उस में मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये (दानमिति०) दान की स्तुति सब लोग करते हैं और जिस से कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है जिस से शत्रु भी मित्र हो जाते हैं इस से दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये (धर्मइति०) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं जो आगे कहेंगे वे सब इसी धर्म के हैं क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़ के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है उसी को धर्म कहते हैं यही धर्म का स्वरूप और सब से उत्तम धर्म है सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्तना चाहिये (प्रजनइति०) जिस से मनुष्यों की बढ़ती होती है जिस में बहुत मनुष्य रमण करते हैं इस से जन्म को प्रजन कहते हैं (अग्नय इत्याह०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है (अग्निहोत्र प०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्य्यंत होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये (मानसमिति०) जो विचार करने वाले मनुष्य हैं वेही विद्वान् होते हैं इस से विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं वेही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं इस से मन का बल और उस की शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है (न्यास इति) ब्रह्मा बन के अर्थात् चारों वेद को जान के संसारी व्यवहारों को छोड़ के न्यास अर्थात् सन्यास आश्रम करके जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्यविद्या से लाभ पहुंचाना है यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जान के करना उचित है (सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म

है उस से सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त हो के मुक्ति का सुख भी मिलता है तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है । (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके सब काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीत के पापों से छूट के धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इस से तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं (दमे-न०) दम से मनुष्य पापों स अलग होके और ब्रह्मचर्य्य आश्रम का सेवन कर के विद्या को प्राप्त होता है इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है । (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिस से मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं इस से यह भी धर्म का लक्षण है । (दानेन०) दान से ही यज्ञ अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है और दान से ही शत्रुओं को भी जीत कर अपना मित्र कर लेते हैं इस से दान भी धर्म का लक्षण है (धर्मोवि०) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं इसलिये सब से उत्तम धर्म कोही जानना चाहिये। (प्रजनन०) जिस से मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात् बदले का पूरा करना होता है इस से प्रजन भी धर्म का हेतु है । क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो तो धर्म को ही कौन करे इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो (अग्नयो वै०) अर्थात् जिस से तुम लोग सांगोपांग तीनों वेदों को पढ़ो क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग इन तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं इस से इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं (अग्निहोत्र०) प्रात काल और सन्ध्या में वायु तथा वृष्टिजल को दुर्गंध से छुडा के सुगंधित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते है,(यज्ञइति) विद्या से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीत के अपना मित्र कर लेते हैं इस से विद्या और अध्वर्यु आदि यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं (मानस वै०) मन के शुद्ध होने से विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं पवित्र मन से सत्य ज्ञान होता है और उस में जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं उन से परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी २ सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों स मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है इस से मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं इससे मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य सिद्ध होते हैं ये सब धर्म के ही लक्षण हैं इन में से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे ॥

भाष्यम्

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यङ् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥ अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ १ ॥ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ॥ येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ २ ॥ मुण्डकोपनिषदि । मु० ३ खं० १ मं० ५ । ६ ॥ अनयोरर्थः ॥ (सत्येनलभ्य) सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्यस्य मन्त्रः सुगमार्थः ॥ १ ॥ (सत्यमेव०) सत्यमाचरितमेव जयते-तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति । अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च । तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो विदुषा यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति सोऽपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति । येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परम निधानमधिकरणे ब्रह्मवर्त्तते तत्प्राप्यनित्यानन्दमोक्षप्राप्ता भवन्ति । नान्यथेति । अतएव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्त्तव्य इति ॥

भाषार्थ

(सत्येन लभ्यस्तपसा०) अर्थात् जो सत्य आचरणरूप धर्म का अनुष्ठान ठीक२ विज्ञान और ब्रह्मचर्य्य करते हैं । इन्हीं शुभगुणों से सब का आत्मा परमेश्वर जाना जाता है जिसको निर्दोष अर्थात् धर्म्मात्मा ज्ञानी सन्यासी लोग देखते है सो सब के आत्माओं का भी आत्मा प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये ॥ १ ॥ (सत्यमेवजय०) जो सत्य का आचरण करनेवाला है वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण अर्थात् झूठे कामों का करनेवाला है वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है विद्वानों का जो मार्ग है सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है, जिस मार्ग से आप्तकाम धर्मात्मा विद्वान् लोग चल के सत्य सुख को प्राप्त होते हैं । जहा ब्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं असत्य से कभी नहीं इससे सत्यधर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है॥ २ ॥

भाष्यम्

अन्यच्च । चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ १ ॥ पू० मी० अ० १ पा० १ सू० २ । यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ २ ॥ वैशेषिक । अ० १ पा० १ सू० २ ॥

अनयोरर्थः (चोदना०) वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयैवस त्यधर्मो लक्ष्यते । योऽनर्थादधर्माचरणाद्बहिरस्त्यतो धर्माख्या लब्ध्वाऽर्थो भवति यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थरूपत्वादधर्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्य इति ॥ १ ॥ (यतोऽभ्यु०) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च स एव धर्मो विज्ञेयः अतो विपरीतो ह्यधर्मश्च । इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति । इत्यनेकमन्त्रप्रमाणसाक्ष्यादिधर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेण सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्त्येक एवास्य सर्वेषां धर्मोस्ति नैव चास्माद्द्वितीयोस्तीति वेदितव्यम् ॥ २ ॥

इति वेदोक्तधर्मविषय संक्षेपत समाप्त

भाषार्थ

(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिस के करने की आज्ञा दी है वही धर्म और जिस के करने की प्रेरणा नहीं की है वह अधर्म कहाता है परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है इस से धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है ॥ १ ॥ (यतोऽभ्यु०) जिस के आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है उसी का नाम धर्म है यह भी वेदों की व्याख्या है इत्यादि अनेक वेदमन्त्रों के प्रमाणों और ऋषि मुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है इस से विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं दो नहीं जो कोई इस में भेद करे तो उस को अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये ॥

इति वेदोक्तधर्मविषय संक्षेपत

अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजोनोव्योमा परोयत् ॥ किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ॥ आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किञ्चनास ॥ २ ॥ तमआसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ॥ तुच्छ्येनाभ्वपिहितं

यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥ ३ ॥ कामस्तदग्रे समवर्त्तताधिमनसोरेतः प्रथमं यदासीत् ॥ सतोबन्धुमसतिनिरविन्दन्हृदिप्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥ तिरश्चीनो विततोरश्मिरेषामधःस्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ॥ रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥ को अद्धावेद क इहप्रवोचत्कुत आ जाता कुत इयविसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६ ॥ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदिवादधे यदिवान ॥ यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्त्सो अङ्गवेद यदिवान वेद ॥ ७ ॥ ऋ० अ० ८ अ० ७ व० १७ ॥

भाष्यम्

एतेषामभिप्रायार्थः । यदिदं सकलं जगद्दृश्यते तत् परमेश्वरेणैव समयग्रचयित्वा संरक्ष्य प्रलयावसरे वियोज्य च विनाश्यते पुनः पुनरेवमेव सदाक्रियत इति (नासदासी०) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत्सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपिनासीत् । कुतः । तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात् (नोसदासीत्तदानीं) तस्मिन्काले सत्प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्सञ्ज्ञकं यज्जगत्कारणं तदपि नो आसीन्नावर्त्तत (नासीद्र०) परमाणवोऽपि नासन् (नोव्योमापरो यत्) व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोपि नो आसीत् किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत (किमावरीवः०) यस्मात्‌ कुहकस्यावर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति । यथा नैतत् जलेन पृथिव्यावरणं भवति नदीप्रवाहादिकं च चलति । अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति नेत्याह किंत्वावरीव । आवरकमाच्छादकं भवति नैव कदाचित्तस्यातीवाल्पत्वात् तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि किं गहनं गभीरमधिकं भवति । नेत्याह अतस्तद्ब्रह्मणः कदाचिन्नैवावरकं भवति । कुतः । जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद्ब्रह्मणोनन्तत्वाच्च ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थमेषामर्थं भाष्ये वक्ष्यामि ॥ (इयं विसृष्टिः) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधासृष्टिरावी

स्यन्नासीदस्ति ता स एव दधे धारयति रचयति यदि वा विनाशय-
ति यदि वा न रचयति । योऽस्यसर्वस्याध्यक्ष स्वामी (परमेऽव्योमन्) त-
स्मिन्परमाकाशात्मनि परमे प्रकृष्टे व्योमवद्व्यापके परमेश्वरएवेदानीमपि
सर्वा सृष्टिर्वर्त्तते । प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीनाच
भवति (सोऽध्यक्षः) स सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोऽस्ति (अङ्गवेद) हे अङ्गमित्रजीव
त यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति । यदि त सर्वथा मनुष्याणा
परमिष्ट सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद वा निश्चयार्थे स पर-
म सुखमपि नाप्नोति ॥ ७ ॥

भाषार्थ

(नासदासीत्) जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् पर-
मेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी उस
समय (असत्) शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी
नहीं था क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था (नोसदासीत्तदानीं०) उस काल
में (सत्) अर्थात् सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहाता है वह
भी नहीं था (नासीद्रज) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (नोव्यो०) विराट्
अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था । (किमा०) जो
यह वर्त्तमान् जगत् है वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता और उससे अ-
धिक वा अथाह भी नहीं हो सकता जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता
है उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चलसकता और न वह कभी गहरा वा उथला
हो सक्ता है इस से क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उस का
बनाया जगत् है सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥ (न मृत्यु०) जब
जगत् नहीं था तब मृत्यु भी नहीं था क्योंकि जब स्थूल जगत संयोग से उत्पन्न हो-
के वर्त्तमान हो पुन उस का और शरीर आदि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे सो श-
रीर आदि पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए थे (नमृत्यु०) इत्यादि पांच मन्त्र सुगमार्थ हैं
इसीलिये इन की व्याख्या भी यहां नहीं करते किन्तु वेदभाष्य में करेंगे (इयंविसृष्टि०)
जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है वही इस
जगत् को धारण करता नाश करता और मालिक भी है हे मित्र लोगो जो मनुष्य उस
परमेश्वर को अपने बुद्धि से जानता है वही परमेश्वर को प्राप्त होता है और जो उस को

नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है जो आकाश के समान व्यापक है उसी ईश्वर में स जगत् निवास करता है और जो प्रलय होता है तब भी सब जगत् कारणरूप हो के ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकं आसीत् ॥ सदाधारपृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ अ० ७ व० ३ म० १ ॥

भाष्यम्

(हिरण्यगर्भ ०) अग्रे सृष्टेः प्राग्घिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्यास्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत। स पृथिवीमारभ्य द्युपर्यन्तं सकलं जगद्रचयित्वा (दाधार) धारितवानस्ति तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेमेति ॥ १ ॥

भाषार्थ

(हिरण्यगर्भः०) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहिले वर्त्तमान था। जो इस सब जगत् का स्वामी है और वही पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को रच के धारण कर रहा है इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम लोग उपासना करें अन्य की नहीं ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥ य० अ० ३१ ॥

भाष्यम्

(सहस्रशीर्षा०) अत्र मन्त्रे पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि च अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि ॥ पुरुषः पुरिशय इत्याचक्षीरन् । नि० अ० १ ख० १३॥ (पुरि०) पुरि संसारे शेते सर्वमभिव्याप्य वर्त्तते स पुरुषः परमेश्वरः ॥ पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् ॥ वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमित्यपि निगमो भवति । नि० अ० २ ख० ३॥ (पुरुषः०) पुरि सर्वस्मिन् संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तत इति (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात्स पुरुषः (अन्तरित्यि०)

यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽतिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुष । तमन्तरपुरुषम न्तर्यामिन परमेश्वरमभिप्रेत्येयमृक् प्रवृत्तास्ति (यस्मात्पर०) यस्मात्पूर्णा-त्परमेश्वरात्पुरुषाख्यात्पर प्रकृष्टमुत्तम किंचिदपि वस्तु नास्त्येव पूर्व वा (ना-परमस्ति) यस्मादपरमर्वाचीन तत्तुल्यमुत्तम वा किंचिदपि वस्तु नास्त्येव । तथा यस्मादणीयः सूक्ष्म ज्यायः स्थूल महद्वा किंचिदपि द्रव्य नाभूत न भ-वति नैव च भविष्यतीत्यवधेयम् । य. स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरता कु-र्वन्सन् स्थिरोऽस्ति । क इव (वृक्ष इव०) यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिक धारयन् तिष्ठति तथैव पृथिवीसूर्यादिक सर्व जगद्धारयन्परमेश्वरोऽभिव्याप्य स्थितोऽस्तीति । यश्चैकोऽद्वितीयोऽस्ति नास्य कश्चित्सजातीयो विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोऽस्तीति । तेन पुरिणेण पुरुषेण परमात्मना यत इद सर्व जगत् पूर्ण कृतमस्ति तस्मात्पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते । इत्यय मन्त्रो निगमो नि गमन पर प्रमाण भवतीनिवेदितव्यम् । सर्व वै सहस्र सर्वस्य दातासीत्यादि० श० का० ७ अ० ५ ॥ (सर्व०) सर्वमिदं जगत्सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम् । (सहस्रशी०) सहस्राण्यसख्यातान्यस्मदादीना शिरासि यस्मिन्पूर्णे पुरुषे परमात्मनि स सहस्रशीर्षा पुरुषः (सहस्राक्षः स०) अस्मदादीना सहस्रा-ण्यक्षीण्यस्मिन् । एवमेव सहस्राण्यसख्याता पादाश्च यस्मिन्वर्त्तन्ते स सहस्राक्षः सहस्रपाच्च ।(स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा)स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो (भूमिरिति) भूतानामुपलक्षण भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्त सर्वं जगत्स्पृत्वाभिव्याप्य वर्त्तते (अत्य०) दशाङ्गुलमिति ब्रह्माडहृदयोरुप लक्षणम् । अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहण भवति । पञ्च-स्थूलभूतानि पञ्चसूक्ष्माणि चैतदुभय मिलित्वा दशावयवाख्य सकल जग-दस्ति । अन्यच्च । पञ्च प्राणा सेन्द्रियचतुष्टयमन्तःकरण दशमो जीवश्च । एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदय दशाङ्गुलपरिमित च तृतीयं गृह्यते । एतत्त्रयं स्पृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठत । एतस्मात्त्रयाद्बहिरपि व्याप्य सन्नवस्थित । अर्थाद्बहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽत्यतिष्ठत इति वेद्यम् ॥

भाषार्थ

(सहस्रशी०) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उस के वि-शेषण हैं पुरुष उस को कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण होरहा है अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है । पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और श रीर को उस में जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी

(ईशान) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है (अमृत०) जो मोक्ष है उस का देनेवाला एक वही है दूसरा कोई नहीं सो परमेश्वर (अन्न०) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इस से अलग भी है क्योंकि उस में जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

भाष्यम्

(एतावानस्य०) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोऽस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः । एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्न परिच्छेद इयत्ता जातेति। गम्यते । अत्र ब्रूते (अतो ज्यायांश्च पूरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमेति किं तर्हि । अतोऽप्यधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति गम्यते । अत्राह (पादोऽस्य०) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि प्रकृत्यादिपृथिवीपर्य्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोस्ति एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति । तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति । प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणमिति स्वयं च मोक्षस्वरूपः सर्वाधिष्ठाता सर्वोपास्यः सर्वानन्दः सर्वप्रकाशकोऽस्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है सो सब इस पुरुष का ही महिमा है । प्र०—जब उस के महिमा का परिमाण है तो अन्त भी होगा । उ०—(अतो ज्यायाश्च पूरुष) उस पुरुष का अनन्त महिमा है क्योंकि (पादोऽस्य विश्वाभूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के एक देश में बसता है । (त्रिपादस्यामृत दिवि) और जो प्रकाश गुणवाला जगत है सो उस से तिगुना है तथा मोक्ष सुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला है ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥ ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

भाष्यम्

(त्रिपादू०) अथ पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादुपलक्षितस्य सकाशादूर्ध्वमुपरिभागेऽर्थात्पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः । एकपादुपलक्षितं यत्पूर्वोक्तं जगदस्ति तस्मादपीहास्मिन्संसारे स पुरुषः पृथगभवत् । व्यतिरिक्तएवास्ति सच त्रिपात्संसार एकपाच्च मिलित्वा सर्वश्चतुष्पाद्भवति । अथ सर्वः संसार इहास्मिन्परमात्मन्येव वर्त्तते पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति । तत्रापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखादूर्ध्वः परः (उदैत्) उदितः प्रकाशितो वर्त्तते (ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते किञ्च तत् (साशनानशने०) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्त्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादिसहितं जगत् । द्वितीयमनशनम विद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत्पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसंबन्धरहितं जगद्वर्त्तते तदुभयं तस्मात्पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते । यतः स पुरुष एतद् द्विविधं जगत् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽन्चति तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभि व्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(त्रिपादूर्ध्व उदैत्पु०) पुरुष जो परमेश्वर है सो पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है तथा सदा प्रकाशस्वरूप सब में भीतर व्यापक और सब से अलग भी है (पादोऽस्येहाभवत्पुन ०) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किञ्चित् मात्र देश में है और जो इस ससार के चार पाद् होते हैं वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है (साशना न०) सो दो प्रकार का है एक चेतन जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव सयुक्त है और दूसरा अनशन अर्थात् जो जड और भोजन के लिये वना है क्योंकि उस में ज्ञानही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के वनाने की सामग्री है कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है सो पुरुष सर्वहितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है वह पुरुष इस का वनानेवाला ससार में सर्वत्र व्यापक होके धारण करके देख रहा और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कररहा है ॥ ४ ॥

ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः । स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

भाष्यम्

(ततो विराडजायत) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्य्यचन्द्रनेत्रो वायुप्राण पृथिवीपाद इत्याद्यलंकारलक्षणलक्षितोहि सर्वशरीराणां समष्टिदेहो विविधैः पदार्थैराजमानःसन् विराट् अजायतोत्पन्नोस्ति (विराजो अधिपूरुषः) तस्माद्विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः पृथक् २ अजायतोत्पन्नोभूत् (सजातो अ०) स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते नष्ट सस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोस्ति । (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात्स जीवोपि देहं धारितवानस्ति । स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज् जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोस्ति ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(ततो विराडजायत) विराट् जिस का ब्रह्माण्ड के अलंकार से वर्णन किया है जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है जिस को मूलप्रकृति कहते हैं जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य जिस के सूर्य्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग है इत्यादि लक्षणवाला जो यह आकाश है सो विराट् कहाता है वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान हो रहा है (विराजो अधि०) उस विराट् के तत्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक् २ उत्पन्न हुआ है जिस में सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है (स जातो अत्यरिच्यत) सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है (पश्चाद्भूमिमथोपुर) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् । पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः । गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥

भाष्यम्

(तस्मादश्वा०) तस्मात्परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरगा अजायन्त । ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेषामुत्तमगुणवत्त्वप्रकाशनार्थोयमारम्भः (ये केचोभयादत) उभयतो दन्ता येषां त उभयादतो ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्द्दभादयस्तेऽप्यजायन्त।(गावोहज०)तथातस्मात्पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि।(तस्माज्जाता अजा०) एवमेव चाजाश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(तस्मादश्वा अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोडे और विजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं (ये केचोभयादत) जिन के मुख में दोनों ओर दांत होते हैं उन पशुओं को उभयदत कहते हैं वे ऊंट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं (गावोह ज०) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेडें भी उसी कारण से उत्पन्नहुई हैं॥८॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

भाष्यम्

(तं यज्ञं ब०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं पुरुषं पूर्णं यज्ञं सर्वपूज्यं परमेश्वरं बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे प्रौक्षन्प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण (तेन देवा०) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः साध्याः ज्ञानिन ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त । अनेन किं सिद्धं सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्युरित्यर्थः ॥ ९ ॥

भाष्यम्

(तस्माद्य०) अस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः । तस्मात्परमेश्वरात् (संभृतः पृषदाज्यम्) पृषु सेचनेधातुः पर्षन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निवृत्त्यादिकारकमन्नादि वस्तु यस्मिंस्तत्पृषत् । आज्यं घृतं मधुदुग्धादिकं च पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम् । आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम्*यावद्भक्ष्यं तु जगति वर्त्तते तावत्सर्वं पुरुषात्परमेश्वरसामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम् । तत्सर्वमीश्वरेण स्वल्पं २ जीवैश्च सम्यग्धारितमस्ति । अत सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमेश्वर एवोपास्यो नान्यश्चेति । (पशूंस्तांश्चक्रे०) य आरण्या वनस्थाः पशवो ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान्सर्वान् स एव चक्रे कृतवानस्ति । स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचरितान् पक्षिणश्चक्रे चकारादन्यान्सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतंगादीनपि कृतवानस्ति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(तस्माद्यज्ञात्स०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्तिप्रकरण में कुछ कर दिया है पूर्वोक्त पुरुष से ही (संभृतः पृषदाज्यम्) सब भोजन वस्त्र अन्न जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है क्योंकि उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए और उन्हीं से सब का जीवन भी होता है इस से सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उस को छोड के किसी दूसरे की उपासना न करें (पशूंस्तांश्चक्रे०) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है तथा सब पक्षियों को भी बनाया है और भी सूक्ष्मदेहधारी कीट पतंग आदि सब जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥

भाष्यम्

अस्यार्थ उक्तो वेदोत्पत्तिप्रकरणे ॥ ७ ॥

भाषार्थ

(तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में कर दिया है ॥ ७ ॥

---

* पृषदिति कश्चिदन्त्येष्टिसामग्र्या अपि नामास्ति ।

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः । गावो॑ ह जज्ञिरे त॒स्मात्त॒स्माज्जा॒ता अ॑जा॒वयः॑ ॥ ८ ॥

भाष्यम्

(तस्मादश्वा०) तस्मात्परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरगा अजायन्त । ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेषामुत्तमगुणवत्त्वप्रकाशनार्थोयमारम्भः (ये केचोभयादत) उभयतो दन्ता येषां त उभयादतो ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त।(गावोहज०)तथा तस्मात्पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि। (तस्माज्जाता अजा०) एवमेव चाजाश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(तस्मादश्वा अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं (ये केचोभयादत) जिन के मुख में दोनों ओर दात होते हैं उन पशुओं को उभयदत कहते है वे ऊट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं (गावोह ज०) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं॥८॥

तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॒न्पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः । तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त सा॒ध्या ऋष॑यश्च॒ ये ॥ ९ ॥

भाष्यम्

(तं यज्ञं ब०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं पुरुषं पूर्णं यज्ञं सर्वपूज्यं परमेश्वरं बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे प्रौक्षन्प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण (तेन देवा०) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः साध्या ज्ञानिन ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त । अनेन किं सिद्धं सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्युरित्यर्थः ॥ ९ ॥

विद्यागुणों से इस ससार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति होती है ? इन चारों प्रश्न के उत्तर ये हैं कि ॥ १० ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥

भाष्यम्

(ब्राह्मणोऽस्य०) अस्य पुरुषस्य मुख ये विद्यादयो मुख्यगुणाः सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्म्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति। (बाहू राजन्यः कृतः) बलवीर्य्यादिलक्षणान्विनो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो भवति। (ऊरू तदस्य०) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम् (पद्भ्यां शूद्रो०) पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्र सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम्। अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते ॥ छन्दसि लुङ् लङ् लिटः ॥ १ ॥ अष्टाध्या० अ० ३ पा० ४ सू० ६ इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयो लकारा विधीयन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है। (बाहू राजन्यः कृत) और ईश्वर ने बल पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है। (ऊरू तदस्य०) खेती व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्यवर्ण सिद्ध होता है (पद्भ्यां शूद्रो०) जैसे पग सब से नीच अंग है वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे ॥ ११ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(त यज्ञं बर्हि०) जो सब से प्रथम प्रकट था जो सब जगत् का बनाने वाला है और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है वही उत्तम मनुष्य है ईश्वर का यह उपदेश सब के लिये है (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान्(साध्या)जो ज्ञानीलोग (ऋषयश्चये) ऋषि लोग जो वेद मन्त्रों के अर्थ जानने वाले और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते है वे ही सुखी होते है क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उस का स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं ॥ ६ ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् । मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ १० ॥

भाष्यम्

(यत्पुरुषं व्य०) यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं कतिधा कियत्प्रकारैः (व्यकल्पयन्) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः (व्यदधुः) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनादधुरर्थादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । (मुखं कि०) अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत (किं बाहू) बलवीर्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् (किमूरू) व्यापारादिमध्यमैर्गुणैः किमुत्पन्नमासीत् (पादा उच्येते) पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्त्तते॥अस्योत्तरमाह॥१०॥

भाषार्थ

(यत्पुरुष०) पुरुष उस को कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है (कतिधा व्य०) जिस के सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं क्योंकि उस में चित्र विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है अनेक कल्पनाओं से जिस का कथन करते है (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है (किं बाहू) बल वीर्य शूरता और युद्ध आदि

विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति होती है ? इन चारों प्रश्न के उत्तर ये हैं कि ॥ १० ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥

भाष्यम्

(ब्राह्मणोऽस्य०) अस्य पुरुषस्य मुख ये विद्यादयो मुख्यगुणाः सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति । (बाहूराजन्यः कृतः) बलवीर्य्यादिलक्षणान्वितो राजन्य, क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो भवति । (ऊरू तदस्य०) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम् (पद्भ्याᳬशूद्रो०) पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम् । अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते ॥ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ १ ॥ अष्टाध्या० अ० ३ पा० ४ सू० ६ इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयोलकारा विधीयन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है । (बाहूराजन्य कृत) और ईश्वर ने बल पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है । (ऊरूतदस्य०) खेती व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्यवर्ण सिद्ध होता है (पद्भ्याᳬ शूद्रो०) जैसे पग सब से नीच अंग है वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे ॥ ११ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

भाष्यम्

(चन्द्रमा मनसो०) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात्सामर्थ्याच्चन्द्रमा जात उत्पन्नोऽस्ति । तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात्सूर्य्यो अजायत उत्पन्नोऽस्ति (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्राकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति । वायुमयाद्वायुरुत्पन्नोऽस्ति प्राणश्च सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति। मुखान्मुख्यज्योतिर्मयादग्निरजायतोत्पन्नोऽस्ति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(चन्द्रमा) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेज स्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है तथा सब इन्द्रिया भी अपने २ कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है ॥ १२ ॥

नाभ्या॑ आसीद॒न्तरि॑क्षꣳशी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्त्तत । प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ२॥ अ॑कल्पयन् ॥ १३ ॥

भाष्यम्

(नाभ्या०) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात्सामर्थ्यादन्तरिक्षमुत्पन्नमासीत् । एवं शीर्ष्णः शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात्प्रकाशमयात् (द्यौः) सूर्य्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्त्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्त्तते (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवीकारणमयात्सामर्थ्यात्परमेश्वरेण भूमिर्धरणिरुत्पादितास्ति जलं च । (दिशः श्रो०) शब्दाकाशकारणमयात्तेन दिश उत्पादिताः सन्ति (तथा लोका २॥ अकल्पयन्) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात्सामर्थ्यादन्यान्सर्वान् लोकास्तत्रस्थान् स्थावरजङ्गमान्पदार्थानकल्पयत्परमेश्वर उत्पादितवानस्ति ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(नाभ्या आसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष अर्थात् जो भूमि और सूर्य्य आदि लोकों के बीच में पोल है सो भी नियत किया हुआ है (शीर्ष्णोद्यौ ०) और जिस के सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करने वाले सूर्य्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं (पद्भ्या भूमि) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से

परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है तथा जल को भी उस के कारण से उत्पन्न किया है (दिशः श्रोत्रात्) उस ने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है (तथा लोका २॥ अकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उन में वसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत । वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

भाष्यम्

(यत्पुरुषेण०) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद्यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते (वसन्तो०) अस्य अयज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माण्डमयस्य वसन्त आज्यं घृतवदस्ति । (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मर्तुरिध्म इन्धनान्यग्निर्वास्ति । (शरद्धविः) शरदृतुः पुरोडाशादिवद्धविर्हवनीयमस्ति ॥ १४ ॥

भाषार्थ

(यत्पुरुषेण०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं उन को भी ईश्वर ने अपने २ कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं और जो ब्रह्माण्ड का रचन पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं (वसन्तो०) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है इस में वसन्तऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान है (ग्रीष्म इध्म) ग्रीष्म ऋतु ज्येष्ठ और आषाढ इन्धन है॥ श्रावण और भाद्रपद वर्षा ऋतु । आश्विन और कार्त्तिक शरद् ऋतु । मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है यह इस यज्ञ में आहुति है सो यहां रूपकालंकार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये ॥ ४ ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्

(सप्तास्या०) अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति । परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः । अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त २ परिधयो भवन्ति । समुद्र एकस्तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः, मेघमण्डलतत्रस्थो वायुस्तृतीयः । वृष्टिजलं चतुर्थस्तदुपरिवायुः पञ्चमः । अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयष्षष्ठः सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च । एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति तस्मात्ते परिधयो विज्ञेयाः (त्रिसप्त समिधः कृता) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति प्रकृतिर्महत्। बुद्धयाद्यन्तःकरणं जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात् । दशेन्द्रियाणि श्रोत्रं त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ हस्तौ, पायुः, उपस्थ चेति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति एवं सर्वा मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः कारणानि विज्ञेयानि एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम् । (देवाय०) तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः (अबध्नन्) ध्यानेनबध्नन्ति तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक २ लोक के चारों ओर सात २ परिधि ऊपर २ रची हैं जो गोल चीज के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है उस को परिधि कहते हैं सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं ईश्वर ने उन एक २ के ऊपर सात २ आवरण बनाये—एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल और पांचमा वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिस को धनञ्जय कहते हैं, सातमा सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाते है (त्रिसप्त समिध ०) और इस ब्रह्माण्ड की सामग्री २१ इक्कीस प्रकार की कहाती है जिस में से एक प्रकृति बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है । दूसरा श्रोत्र । तीसरा त्वचा । चौथा नेत्र । पांचमी जिह्वा । छठी नासिका । सातमी वाक् । आठमा पग । नवमा हाथ । दशमी गुदा । ग्यारहमा उपस्थ जिस को लिंग इन्द्रिय कहते हैं । बारहमा शब्द । तेरहमा स्पर्श ।

चौदहमा रूप। पन्द्रहमा रस। सोलहमा गन्ध। सत्रहमी पृथिवी। अठारहमा जल। उन्नीसमा अग्नि। बीसमा वायु। इक्कीसमा आकाश। ये इक्कीस समिधा कहाती हैं (देवाय०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचने वाला सब का देखनेवाला और पूज्य है उस को विद्वान् लोग सुन के और उसी के उपदेश से उसी के कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश और ध्यान करते है उस को छोड के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना और उसी के ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ बाधने से कल्याण जानते है॥ १५॥

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्। ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः॥ १६॥

भाष्यम्

(यज्ञेन यज्ञम०) ये विद्वांसो यज्ञ यजनीय पूजनीय पूजनीय परमेश्वर यज्ञेन तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन तमेवायजन्त यजन्ते यक्ष्यन्ति च। तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यान्यासन् न च तैः पूर्वं कृतैर्विना केनापि किंचित्कर्म कर्त्तव्यमिति (तेह ना०) त ईश्वरोपासका हेति प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितं परमेश्वरं मोक्षं च महिमानः पूज्याः सन्तः सचन्त समवेता भवन्ति कीदृशं तत् (यत्र पूर्वे साध्याः०) साध्या साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांस पूर्वं अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति न तस्माद् ब्रह्मणश्शतवर्षसंख्यातात् कालात् कदाचित्पुनरावर्तन्त इति किन्तु तमेव समसेवन्त॥ अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्यो यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा अग्निनाग्निमयजन्त देवा अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः। नि० अ० १२ ख० ४१॥ अग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्निं परमेश्वरमयजन्त। अग्निः पशुरासीत्तमेव देवा आलभन्त। सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवा सन्नेवन्तेति वा। साध्याः साधनवन्तो यत्र पूर्वे पूर्वभूता मोक्षाख्यानन्दे पदे सन्ति। तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति। द्युस्थानं प्रकाशमयं परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स.। यद्वा सूर्यमाध्यस्थानाः विद्याप्रकाशास्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्त्तत इति॥ १६॥

भाषार्थ

(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को देव कहते हैं और वे सब के पूज्य होते हैं क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति प्रार्थना उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते है इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करके शुभ कर्मों का आरम्भ करें (तेहनाक०) जो २ ईश्वर की उपासना करने वाले लोग है वे २ सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते है (यत्र पूर्वे सा०) जहा विद्वान् लोग परमपुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते है उसी को मोक्ष कहते है क्योंकि उससे निवृत्त होके ससार के दुःखों में कभी नहीं गिरते ॥ इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुए है वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं उन को अज्ञानरूप अधकार कभी नहीं होता ॥ १६ ॥

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे। तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ १७ ॥

भाष्यम्

(अद्भ्यः सभृत०) तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसः सं-भृतः सगृह्य तेन पृथिवी रचिता । एवमग्निरसेनाग्नेः सकाशादापः उत्पादि-ताः । अग्निश्च वायोः सकाशाद्वायुराकाशादुत्पादित आकाशः प्रकृतेः प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च । विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य स विश्वकर्मा तस्य परमेश्व-रस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग्जगत्समवर्त्तत वर्त्तमानमासीत् । तदानीं सर्वमिद जगत्कारणभूतमेव नेदृशमिति । तस्य सामर्थ्यस्याशान् गृ-हीत्वा त्वष्टा रचनकर्त्तेद सकल जगद्विदधत् । पुनश्चेद विश्वं रूपवत्त्वमे-ति । तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवत्त्व भ-वति (आजानमग्रे) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान् वेदरूपामाज्ञा द-त्तवान् मनुष्याय धर्मयुक्तेनैव सकामेन कर्मणा कर्म देवत्वयुक्त शरीर धृत्वा विषयेन्द्रियसयोगजन्यमिष्ट सुख भवतु तथा निष्कामेन विज्ञानपरम मोक्षा-ख्य चेति ॥ १७ ॥

भावार्थ

(अद्भ्यः सम्भृत०) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिलाके पृथिवी रची है इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिलाके जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि को और वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है जो कि सब तत्वों के ठहरने का स्थान है। ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास पर्यन्त जगत् को रचा है इस से ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उस का नाम विश्वकर्मा है। जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्त्तमान था (तस्य०) जब२ ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्य्यरूप जगत् को रचता है तब २ कार्य्य जगत् रूप गुणवाला होके स्थूल बन के देखने में आता है (तन्मर्त्यस्य देवत्व०) जब परमेश्वर ने मनुष्यशरीर आदि को रचा है तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहाते हैं और जब ईश्वर की उपासना से विद्या विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम है इस में ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है वह उत्तम देव होता है ॥ १७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥

भाष्यम्

(वेदाहमेत पु०) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यते तदुत्तरमाह। यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं सर्वेभ्यो महान्तं बृहत्तममादित्यवर्णं स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं तमसोऽज्ञानादविद्यान्धकारात्परस्तात्पृथग् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः। नैव तं विदित्वा कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हतीति। कुतः (तमेव विदित्वा०) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मो

क्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति । नैवातोऽन्यथेति । एवकारात्तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित्कदाचित्कार्य्येति गम्यते कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्य्येति (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात् । अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते । किं तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽतोभिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः, अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(वेदाहमेतं) प्र०—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है ? उ०—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक २ ज्ञानी होता है अन्यथा नहीं । जो सब से बड़ा सब का प्रकाश करनेवाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं उसको जाने विना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता इस से क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है उस से भिन्न की उपासना करनी किसी मनुष्य को न चाहिये क्योंकि मोक्ष का देनेवाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है इस में यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उस का जानना ही है क्योंकि इस के विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १९ ॥

भाष्यम्

(प्रजापति०) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी जीवस्यान्यस्य च जडस्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः स नित्यं चरति । तत्सामर्थ्यादिदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते

(तस्य योनिं०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः (परिप०) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते (तस्मिन्ह तस्थुर्भु०) यस्मिन्भुवनानि विश्वानि सर्वाणि सर्वे लोकास्तस्थुः स्थितिं चक्रिरे । इति निश्चयार्थे तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भाषार्थ

(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है वही जड और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण सत्य का आचरण और सत्यविद्या है उस को विद्वान् लोग ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं (तस्मिन्ह त०) जिस में ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके जन्म मरण आदि आने जाने से छूट के आनन्द में सदा रहते हैं ॥ १९ ॥

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥

भाष्यम्

(यो देवेभ्य०) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आ समन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयति नान्येभ्यश्च । यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो दधाति । (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोस्ति (नमो रुचाय०) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोस्तु । यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मिर्ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्त्तमानोस्ति । तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोस्तु ॥ २० ॥

भाषार्थ

(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है अर्थात् उन के आत्माओं को प्रकाश से पूर्ण कर देता और वही उन का पुरोहित अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करनेवाला है इस से वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते ।

क्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति। नैवातोऽन्यथेति। एवकारात्तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित्कदाचित्कार्य्येति गम्यते कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्य्येति (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात्। अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते। किं तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽतोभिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः, अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः॥ १८॥

भाषार्थ

(वेदाहमेतं) प्र०—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है? उ०—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक २ ज्ञानी होता है अन्यथा नहीं। जो सब से बड़ा सब का प्रकाश करनेवाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं उसको जाने विना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता इस से क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है उस से भिन्न की उपासना करनी किसी मनुष्य को न चाहिये क्योंकि मोक्ष का देनेवाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है इस में यह प्रमाण है कि (नान्य पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उस का जानना ही है क्योंकि इस के विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता॥ १८॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ १९॥

भाष्यम्

(प्रजापति०) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी जीवस्यान्यस्य च जडस्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः स नित्यंचरति। तस्मात्सर्व्योदिदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते

(तस्य योनि०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः (परिप०) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते (तस्मिन्ह तस्थुर्भु०) यस्मिन्भुवनानि विश्वानि सर्वाणि 'सर्वे लोकास्तस्थुः' स्थितिं चक्रिरे । हेति निश्चयार्थे तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भाषार्थ

(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण सत्य का आचरण और सत्यविद्या है उस को विद्वान् लोग ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं (तस्मिन्ह त०) जिस में ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके जन्म मरण आदि आने जाने से छूट के आनन्द में सदा रहते है ॥ १९ ॥

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥

भाष्यम्

(यो देवेभ्य०) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आ समन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयति नान्येभ्यश्च । यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो दधाति ।(पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोस्ति (नमो रुचाय०) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोस्तु । यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मिर्ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्त्तमानोस्ति । तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोस्तु ॥ २० ॥

भाषार्थ

(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है अर्थात् उन के आत्माओं को प्रकाश में कर देता और वही उन का पुरोहित अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करनेवाला है इस से वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते ।

(पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है (नमो रुचाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि करानेवाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़ के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है उस को भी हम लोग नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्। यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

भाष्यम्

(रुचं ब्राह्म०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च (यस्त्वैवं०) यस्त्वेवममुना प्रकारेण तद्ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात् (तु) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् भवन्ति नान्यस्येति ॥ २१ ॥

भाषार्थ

(रुचं ब्राह्म०) जो ब्रह्म का ज्ञान है वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उस में रुचि का बढ़ाने वाला है जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उन को आनन्दित कर देते हैं (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं अन्य के नहीं ॥ २१ ॥

भाष्यम्

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ २२॥ य० अ० ३१ ॥

(श्रीश्चते०) हे परमेश्वर ते तव (श्री) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत्सेवमाने स्तः। तथाहोरात्रे द्वे ते तव

(पार्श्वे०) पार्श्ववत्स्त । ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयववद्वर्त्तते सूर्य्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा तथैव नक्षत्राणि तवैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति तत्त्वयि रूपवदस्ति । अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तवैव (व्यात्तम्) विकाशित मुखमिव वर्त्तते । तथैव यत् किञ्चित्सौन्दर्यगुणयुक्त वस्तु जगति वर्त्तते तदपि रूप तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः । हे विराडधिकरणेश्वर मे ममामु परलोक मोक्षाख्य पद कृपाकटाक्षेण (इष्णन्) इच्छन्सन् (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय तथा सर्वलोक सर्वलोकसुख सर्वलोकराज्य वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छस्वाराज्य सिद्ध कुरु । एवमेव सर्वा शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण हे भगवन् पुरुष पूर्णपरमेश्वर सर्वशक्तिमन् । कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्य देहि । दुष्टानशुभदोषाश्च विनाशय सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजन मा भवान्करोत्विति ॥ अत्र प्रमाणानि । श्रीर्हि पशवः । श० का० १ अ० ८ । श्रीर्वै सोमः । श० का० ४ अ० १ । श्रीर्वैराष्ट्र श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः॥श०का०१३ अ०१॥ लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लप्स्यमानाद्वा लाञ्छनाद्वा लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः शिप्रेइत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ नि० अ० ४ ख० १० । अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसगतिरस्तीति बोध्यम् ॥२ ॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता ॥

भाषार्थ

(श्रीश्चते) हे परमेश्वर ! जो आप की अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है वे दोनों स्त्री के समान हैं अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है इसी प्रकार आप की सेवा आपही को प्राप्त होती है क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रक्खा है परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाग ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं। सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उस के विषय में यह पत्नी शब्द के रूपकालङ्कार से वर्णन किया है वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं तथा सूर्य्य और चन्द्र भी दोनों आप के बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं और जितने ये नक्षत्र हैं वे आप के रूपस्थानी हैं और द्यौः जो सूर्य्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजुली ये दोनों मुखस्थानी हैं तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला होता है इसी प्रकार पृथिवी

(पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है (नमो रुचाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि करानेवाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़ के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है उस को भी हम लोग नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्। यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

भाष्यम्

(रुचं ब्राह्म०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च (यस्त्वैवं०) यस्त्वेवममुना प्रकारेण तद्ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात् (तु) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् भवन्ति नान्यस्येति ॥ २१ ॥

भाषार्थ

(रुचं ब्राह्म०) जो ब्रह्म का ज्ञान है वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उस में रुचि का बढ़ाने वाला है जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उन को आनन्दित कर देते हैं (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं अन्य के नहीं ॥ २१ ॥

भाष्यम्

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ २२ ॥ य० अ० ३१ ॥

(श्रीश्चते०) हे परमेश्वर ते तव (श्रीः) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत्सेवमाने स्तः। तथाहोरात्रे द्वे ते तव

(पार्श्वे०) पार्श्ववत्स्त । ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयववद्वर्त्तते सूर्य्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा तथैव नक्षत्राणि तवैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति तत्त्वयि रूपवदस्ति । अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तवैव (व्यात्तम्) विकाशित मुखमिव वर्त्तते । तथैव यत् किञ्चित्सौन्दर्य्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्त्तते तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः । हे विराडधिकरणेश्वर मे ममामु परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकटाक्षेण (इष्णन्) इच्छन्सन् (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया स्वसिषाणेच्छस्वाराज्यं सिद्धं कुरु । एवमेव सर्वा शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण हे भगवन् पुरुष पूर्णपरमेश्वर सर्वशक्तिमन् । कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि । दुष्टानशुभदोषांश्च विनाशय सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं मा भवान्करोत्विति ॥ अत्र प्रमाणानि । श्रीर्हि पशवः । श० का० १ अ० ८ । श्रीर्वै सोमः । श० का० ४ अ० १ । श्रीर्वै राष्ट्रं श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः॥श०का०१३ अ०१॥ लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लप्स्यमानाद्वा लाञ्छनाद्वा लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः शिप्रेइत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ नि० अ० ४ ख० १० । अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसंगतिरस्तीति बोध्यम् ॥२॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता ॥

भाषार्थ

(श्रीश्चते) हे परमेश्वर ! जो आप की अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है वे दोनों स्त्री के समान है अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है इसी प्रकार आप की सेवा आपही को प्राप्त होती है क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रक्खा है परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं। सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उस के विषय में यह पत्नी शब्द के रूपकालङ्कार से वर्णन किया है वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं तथा सूर्य्य और चन्द्र भी दोनों आप के बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं और जितने ये नक्षत्र हैं वे आप के रूपस्थानी हैं और द्यौः जो सूर्य्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजुली ये दोनों मुखस्थानी हैं तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला होता है इसी प्रकार पृथिवी

और सूर्य्यलोक के बीच में जो पोल है सो मुख के सदृश है (इष्णन्) हे परमेश्वर! आप की दया से (अमु) परलोक जो मोक्षसुख है उस को हमलोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊं वैसी कृपा और उस जगत् में मुझ को सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये। यह आप से हमारी प्रार्थना है सो आप कृपा से पूरी कीजिये ॥ २२ ॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता ॥

यत्पर॒ममव॒मं यच्च॒ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः ससृ॒जे वि॒श्वरू॑पम् । किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त् किय॒त्तद्ब॑भूव ॥ १ ॥ अथर्व० का० १० । अनु० ४ । म० ८ ॥ दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ गन्धर्वा॒प्सर॑सश्च॒ ये । उच्छि॒ष्टाज्ज॑ज्ञिरे॒ सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑ ॥२॥ अथर्व० कां० ११ प्रपा० २४ अनु ४ मं० २७ ॥

भाष्यम्

(यत्परम०) यत्परम सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत् यच्च (अवमं) निकृष्टं तृणमृत्तिकाक्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति (यच्च म०) यन्मनुष्यदेहाद्याकाशपर्य्यन्तं मध्यमं च तत्त्रिविधं सर्वं जगति प्रजापतिरेव (ससृजे वि०) स्वसामर्थ्यरूपकारणात् उत्पादितवानस्ति योऽस्य जगतो विविधं रूपं सृष्टवानस्ति (कियता०) एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः कियता सम्बन्धेन प्रविवेश न चैतत् परमेश्वरे (यन्न०) यत्त्रिविधं जगन्नप्राविशत् तत् कियद्बभूव। तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाल्पमेवास्तीति ॥१॥ (देवाः०) देवा विद्वांसः सूर्य्यादयो लोकाश्च पितरो ज्ञानिनः मनुष्या मननशीलाः गन्धर्वा गानविद्याविदः सूर्य्यादयो वा अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्त्तन्ते ते सर्वेउच्छिष्टात्सर्वोस्मादूर्ध्वं शिष्टात्परमेश्वरात्तत्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति ये (दिवि देवा दिविश्रिताः) दिवि देवा सूर्य्यादयो लोका ये च दिविश्रिताश्चन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति। इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति ॥

इति संक्षेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः ॥

भाषार्थ

(यत्परम॰) जो उत्तम मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है उस सब को परमेश्वर ने ही रचा है उस ने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है और इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं वे भी कुछ २ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं वह परमेश्वर सब को रचता है और आप रचना में कभी नहीं आता ॥ १ ॥ (देवा पितरो॰) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोक और सूर्य्य लोक भी (ज्ञानिन) अर्थात् यथार्थविद्या को जानने वाले (मनुष्या) अर्थात् विचार करने वाले (गन्धर्वा.) अर्थात् गानविद्या के जानने वाले सूर्य्यादि लोग और (अप्सरस) अर्थात् इन सब की स्त्रिया ये सब लोग और दूसरे लोग भी उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं (दिवि देवाः) अर्थात् जो प्रकाश करने वाले और प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक और (दिविश्रिता) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोक भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं ॥ २ ॥ वेदों में इस प्रकार के सृष्टिविधानकरनेवाले मत्र बहुत हैं परन्तु ग्रन्थ अधिक न हो जाय इसलिये सृष्टिविषय सक्षेप से लिखा है ॥

इति सृष्टिविद्याविषय ॥

अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथेद विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति । अत्रोच्यते । वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव । तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम् ॥

आयगौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥ यजु॰ अ॰ ३ म॰ ६ ॥

भाष्यम्

अस्माभि॰—आयगौरित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयोहि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम् ॥ (आयगौः॰) आयगौ पृथिवीगोल सूर्य्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमण कुर्वन् सन् गच्छतीति तथाऽन्येपि । तत्र पृथिवीमातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजल प्राप्ता सती । तथा (स्वः) सूर्य्यं पितरम-

ग्निमय च । पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन्त्सन् सूर्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च । तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रति चेति योजनीयम् ॥ अत्र प्रमाणानि । गौः ग्मा ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं यास्ककृते निघण्टौ । तथाच । स्वः । पृश्निः । नाक इति षट्सु साधारणनामसु पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तम् ॥ निरुक्ते । गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरंगता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति । निरु० अ०२ ख० ५ ॥ गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षेऽथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरंगता भवति यच्चास्या ज्योतींषि गच्छन्ति । निरु० अ०२ ख० १४ सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गंधर्व इत्यपि निगमो भवति सोपि गौरुच्यते । नि० अ० २खं० ९ । स्वरादित्यो भवति । निरु० अ०२ ख० १४ । गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । अद्भ्यः पृथिवीति तैत्तिरीयोपनिषदि । यस्माद्यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति । तथा स्वः शब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादादित्योऽस्या पितृवदिति निश्चीयते । यद् दूरंगता दूरंदूरं सूर्याद्गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षाया वायावात्मनेश्वरसत्तया च धरिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ॥

भाषार्थ

अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं इस विषय में लिखा जाता है । इस में यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं । इस विषय में यह प्रमाण है ॥

(आयं गौ०) गौ नाम है पृथिवी सूर्य्य चन्द्रमादि लोकों का, वे सब अपनी २ परिधि में अंतरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं परन्तु जो जल है सो पृथिवी की माता के समान है क्योंकि पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है और मेघमंडल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है और सूर्य्य उस के पिता के समान है इस से सूर्य के चारों ओर घूमती है इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता उन के प्रति वे घूमते हैं । इसी प्रकार से सब लोक अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं इस विषय का संस्कृत में निघण्टु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है उस को देख लेना । इसी प्रकार सूत्रात्मा

जो वायु है उस के आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण भ्रमण और पालन कर रहा है ॥ १ ॥

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥ २ ॥
ऋ० अ० ८ अ० २ व० १० म० ॥ १ ॥

भाष्यम्

(या गौर्वर्त्तनिं०) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती पर्य्येति । विवस्वतेऽर्थात्सूर्यस्य * परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति । (निष्कृतं) कथम्भूतं मार्गं तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण (निष्कृतं) निष्पादितम् ।(पयो दुहाना०) अवारतो निरन्तरं पयोदुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती । तथा व्रतनी व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयती (सा प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे वरुणाय श्रेष्ठकर्मकारिणे देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति किं कुर्वती प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति ॥ २ ॥

भाषार्थ

ग्निमय च । पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन्त्सन् सूर्य्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्य्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च । तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रति चेति योजनीयम् ॥ अत्र प्रमाणानि । गौः ग्मा ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं यास्ककृते निघण्टौ । तथाद्य । स्वः । पृश्निः । नाकइति षट्सु साधारणनामसु पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तम् ॥ निरुक्ते । गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद्दूरंगता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति । निरु० अ०२ ख० ५ ॥ गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षेऽथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरंगता भवति यच्चास्या ज्योतींषि गच्छन्ति । निरु० अ०२ ख० १४ सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति सोपि गौरुच्यते । नि० अ० २ ख० ६ । स्वरादित्यो भवति । निरु० अ०२ ख० १४ । गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । अद्भ्यः पृथिवीति तैत्तिरीयोपनिषदि । यस्माद्यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद्भवति । तथा स्वः शब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादादित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते । यद्दूरंगता दूरंदूरं सूर्य्याद्गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वायुरूपात्मनेश्वरसत्तया च धरिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ॥

भाषार्थ

अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं इस विषय में लिखा जाता है । इस में यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं । इस विषय में यह प्रमाण है ॥

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी सूर्य्य चन्द्रमादि लोकों का, वे सब अपनी २ परिधि में अन्तरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं परन्तु जो जल है सो पृथिवी की माता के समान है क्योंकि पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है और सूर्य्य उस के पिता के समान है इस से सूर्य के चारों ओर घूमती है इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता उन के प्रति वे घूमते हैं । इसी प्रकार से सब लोक अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं इस विषय का संस्कृत में निघण्टु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है उस को देख लेना । इसी प्रकार सूत्रात्मा

जो वायु है उस के आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण भ्रमण और पालन कर रहा है ॥ १ ॥

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥ २ ॥
ऋ० अ० ८ अ० २ व० १० मं० ॥ १ ॥

भाष्यम्

(या गौर्वर्त्तनिं०) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारत)निरन्तरं भ्रमती सती पर्य्येति । विवस्वतेऽर्थात्सूर्य्यस्य * परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति । (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गं तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण (निष्कृतं) निष्पादितम् ।(पयो दुहाना०) अवारतो निरन्तरं पयोदुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती । तथा व्रतनी व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयती (सा प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे वरुणाय श्रेष्ठकर्मकारिणे देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति किं कुर्वतीं प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति ॥ २ ॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ । तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६ अ० ४ व० १३ मं० ॥ ३ ॥

भाष्यम्

(त्वं सोम०) अस्याभिप्रा०—अस्मिन्मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोस्ति । अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति । कदाचित्सूर्यपृथिव्योर्मध्येपि भ्रमन्सन्नागच्छतीत्यर्थः अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि । तथा द्यावापृथिवी एजेते इति मन्त्रवर्णार्थो द्यौः सूर्यः पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः । अर्थात्स्वस्या स्वस्याः कक्षायाः सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम् ॥

इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संक्षेपतः ॥

भाषार्थ

(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है कभी २ सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आजाता है । इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं वे सब अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं॥३॥

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः ॥

अथाकर्षणानुकर्षणविषयः ॥

यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे । आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६ अ० १ व० ६ मं० ३ ॥

भाष्यम्

(यदा ते०) अस्याभि०ः सूर्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्तीश्वरेण सह सूर्यादिलोकानां चेति।हे इन्द्रेश्वर वा वायो सूर्य यदा यस्मिन्काले

ते हरी आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणाख्यौ किरणौ वा दृश्यैता दृश्यैतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ अवलम्बाख्या (आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च ते तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो:(विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकानाकर्षणेन येमिरे नियमेन धारयन्ति । अतःकारणात्सर्वे लोकाःस्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति ॥ १ ॥

भाषार्थ

(यदा ते०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण और सूर्य्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है (यदा ते०) हे इन्द्र परमेश्वर! आप के अनन्त बल और पराक्रमगुणों से सब संसार का धारण आकर्षण और पालन होता है, आप के ही सब गुण सूर्यादि लोकों को धारण करते हैं इस कारण से सब लोक अपनी २ कक्षा और स्थान से इधर उधर चलायमान नहीं होते। दूसरा अर्थ इन्द्र जो वायु सूर्य्य है इस में ईश्वर के रचे आकर्षण प्रकाश और बल आदि बडे २ गुण हैं उन से सब लोकों का दिन २ और क्षण२ के प्रति धारण आकर्षण और प्रकाश होता है इस हेतु से सब लोक अपनी२ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर उधर विचल भी नहीं सकते ॥ १ ॥

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे ॥ आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ६ अ० १ व० ६ म ४ ॥

भाष्यम्

(यदा ते मारुती०) अस्याभिप्रा०—अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति । हे पूर्वोक्तेन्द्र! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्य येमिरे तवाकर्षणधारकनियमं प्राप्नुवन्ति तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते । तथा तवैव गुणै नियेमिरे। आकर्षणनियमं प्राप्नुवन्ति सन्ति । अतएव सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति च ॥ २ ॥

भाषार्थ

(यदा ते मारुती०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है। हे परमेश्वर! आप की जो प्रजा उत्पत्ति स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिस में वायु प्रधान है वह आप

के आकर्षणादि नियमों से तथा सूर्य्य लोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है। जब इन प्रजाओं को आप के गुण नियम में रखते हैं तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी२ कक्षा में घूमते और स्थान में बस रहे है ॥ २ ॥

यदा सूर्य्यमुमु दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६ अ० १ व० ६ मं० ५ ॥

भाष्यम्

(यदा सूर्य०) अभि०—अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः। हे परमेश्वरामुं सूर्य्यं भवान् रचितवानस्ति। यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्त सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमय वर्त्तते तेन त्वं सूर्य्यादिलोकानधारयो धारितवानसि। (आदित्ते) तदनन्तर (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्य्यादयो लोका अपि (येमिरे) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति। अर्थाद्यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयोलोकास्तिष्ठन्ति तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

(यदा सूर्य्य०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विचार है। हे परमेश्वर! जब उन सूर्य्यादि लोकों को आप ने रचा और आप के ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उन का धारण कर रहे हैं इसी कारण से सूर्य्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं इन सूर्य्यादि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षणसे धारण होता है इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषातमः विचर्मणीव धिषणे अवर्त्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥ ४ ॥ ऋ० अ० ४ अ० ५ व० १० म० ३ ॥

भाष्यम्

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभि०—परमेश्वर सूर्यलोकौ सर्वांल्लोकानाकर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति। हे परमेश्वर! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः

पूर्वोक्तः सूर्य्यादिलोको रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तभ्नात्स्तम्भितवानस्ति । अतो भवान् मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोऽस्ति । अद्भुत आश्चर्य्यस्वरूपः स सविता दिलोको ज्योतिषा तमोऽन्तरकृणोत्तिरोहितं निवारितं तमः करोति । यावत्तथैव धिषणे धारणकर्य्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन व्यवर्त्तयत् । विविधतयैतयोर्वर्त्तमानं कारयति । कस्मिन्निव चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव । यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति तथैव सूर्य्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम् । अतः किमागतं वृष्ण्य वीर्य्यवद्विश्वं सर्वं जगच्च सूर्य्यादिलोको धारयति सूर्य्यादेर्धारणमीश्वरः करोतीति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है । हे परमेश्वर ! आप के प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है, इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने २ आकर्षण से अपना और पृथिवी आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं इस कारण से आप सब लोकों के परममित्र और स्थापन करनेवाले है और आप का सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है। सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्त्तते हैं इस हेतु से इन से नानाप्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है । वह आकर्षण किस प्रकार से है कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है ॥४॥

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च । हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ १ ॥ य० अ० ३३ मं० ४३ ॥

भाष्यम्

(आकृष्णेन०) अभि०—अत्राप्याकर्षणविद्यास्तीति । सविता परमात्मा सूर्य्यलोको वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोस्ति ।

कथभूतेन गुणेन हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन । पुनः कथभूतेन रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन किं कुर्वन् सन्मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञान किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन्व्यवस्थापयन्सन् । तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं अमृतं मोक्षमोषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन्सन्सूर्य्यो वर्त्तमानोस्ति । स च सूर्य्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान्धारयति तथा पश्यन्दर्शयन्सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः । अस्मात्पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात्सूर्य्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभीरात्रिभिश्चार्थात्सर्वान्लोकान्प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते । एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव । तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेस्तीति मन्तव्यम् । रजोलोकाना नामास्ति । अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः ॥ लोका रजांस्युच्यन्ते । निरु० अ० ४ खं० १९ । रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा । निरु० अ० ९ खं० ११ ॥ विश्वानरस्यादित्यस्य । निरु० अ० १२ खं० २१ ॥ अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते । इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ

(आकृष्णेन०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है । सविता जो परमात्मा वायु और सूर्य लोक है वे सब लोकों के साथ आकर्षण धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल ज्ञान और तेज से सहित (रथेन) आनन्दपूर्वक क्रीडा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त है इस में परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश कराता और सब लोकों को व्यवस्था से अपने २ स्थान में रखता है वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता और सूर्य लोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि के अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का का प्रकाश करके सब को जनाता है तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है। इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में (द्युभिरक्तुभि) इस पद से यही अर्थ आता है दिन रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्य लोक का और सूर्य आदि लोकों के साथ

परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना २ आकर्षण है और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है। यहां लोकों का नाम रज है और रथ शब्द के अनेक अर्थ हैं इस कारण से कि जिस से रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है उस को रथ कहते हैं। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है सो देखलेना। ऐसे धारण और आकर्षणविद्या के सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं ॥ १ ॥

इति धारणाकर्षणविषय संक्षेपत ॥

अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

सूर्य्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्य्येणोत्तभिता द्यौः। ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥ १ ॥ सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही। अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १४ अनु० १ मं० १। २ ॥ कः स्विदेकाकी चरति क उस्विज्जायते पुनः। किंस्विद्धिमस्य भेषजं किं वा वपनं महत् ॥३॥ सूर्य्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः। अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ ४ ॥ य० २३ म० ६। १० ॥

भाष्यम्

(सत्येनो०) एषामर्थः—अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्य्यः प्रकाशकोस्तीति। इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्य्येण च (सूर्य्येण०) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्य्येणोत्तभितो धारितः (ऋतेन०) कालेन सूर्य्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति (दिवि सोमो अधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रित आश्रितः सन्प्रकाशितो भवति अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति। सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्य्य

कथंभूतेन गुणेन हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन । पुनः कथंभूतेन रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन किं कुर्वन् सन्मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन्व्यवस्थापयन्सन् । तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षमोषध्यात्मकं वृष्टयादिकं रसं च प्रवेशयन्सन्सूर्य्यो वर्त्तमानोस्ति । स च सूर्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान्धारयति तथा पश्यन्दर्शयन्सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः । अस्मात्पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात्सूर्य्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभीरात्रिभिश्चार्थात्सर्वाँल्लोकान्प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते । एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव । तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेस्तीति मन्तव्यम् । रजो लोकानां नामास्ति । अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः ॥ लोका रजांस्युच्यन्ते । निरु० अ० ४ खं० १९ । रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा । निरु० अ० ९ खं० ११ ॥ विश्वानरस्यादित्यस्य । निरु० अ० १२ खं० २१ ॥ अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते । इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ

(आकृष्णेन०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है । सविता जो परमात्मा वायु और सूर्य लोक हैं वे सब लोकों के साथ आकर्षण धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल ज्ञान और तेज से सहित (रथेन) आनन्दपूर्वक क्रीडा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं इस में परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश कराता और सब लोकों को व्यवस्था से अपने २ स्थान में रखता है वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता और सूर्य लोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि के अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का का प्रकाश करके सब को जनाता है तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है। इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में (द्युभिरक्तुभि) इस पद से यही अर्थ आता है दिन रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्य लोक का और सूर्य आदि लोकों के साथ

परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना २ आकर्षण है और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है। यहां लोकों का नाम रज है और रथ शब्द के अनेक अर्थ हैं इस कारण से कि जिस से रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है उस को रथ कहते हैं। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है सो देखलेना। ऐसे धारण और आकर्षणविद्या के सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं ॥ १ ॥

इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः ॥

अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

सूर्य्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्य्येणोत्तभिता द्यौः। ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥ १ ॥ सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही। अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १४ अनु० १ मं० १। २ ॥ कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः। किं स्विद्धिमस्य भेषजं किं वा वपनं महत् ॥३॥ सूर्य्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः। अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ ४ ॥ य० २३ मं० ९। १० ॥

भाष्यम्

(सत्येनो०) एषामर्थः—अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्य्यः प्रकाशकोस्तीति। इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्य्येण च (सूर्य्येण०) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्य्येणोत्तभितो धारितः (ऋतेन०) कालेन सूर्य्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति (दिवि सोमो अधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रित आश्रितः सन्प्रकाशितो भवति अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति। सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्य्य

प्रकाशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेद्यम् ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः सयुज्य ततो निवृत्य च भूमि प्राप्य बलिनो बलं कर्त्तुं शीला भवन्ति तेषां बलप्रापकशीलत्वात् । तद्यथा । यावन्तोऽन्तरिक्षदेशे सूर्य्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकशीतलत्व भवति । तत्र सूर्य्यकिरणपतनाभावात्तदभावे चोष्णत्वाभावात्ते बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति । सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्योषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति । अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन्वर्त्ततइति विज्ञेयम् ॥ २ ॥ (कः स्वि०) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति । कोऽत्र स्वेनैव स्वय प्रकाशितः सन् भवतीति । कः पुनः प्रकाशितो जायते हिमस्य शीतस्य भेषजमौषध किमस्ति । तथा बीजारोपणार्थं महत् क्षेत्रमिव किमत्र भवतीति प्रश्नाश्चत्वारः ॥ ३ ॥ एषां क्रमेणोत्तराणि । (सूर्य्य एकाकी०) अस्मिन्संसारे सूर्य्य एकाकी चरति स्वयंप्रकाशमानः सन्नन्यान्सर्वान् लोकान् प्रकाशयति तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमा पुनः प्रकाशितो जायते नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति । अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति । भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरण क्षेत्रं चेति वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति ॥ ४ ॥

इति प्रकाश्यप्रकाशकविषय ॥

भाषार्थ

(सत्येनो०) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं । एक तो प्रकाश करने वाले और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते है अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य्य आदि सब लोकों को धारण किया है, उसी के सामर्थ्य से सूर्य्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाश किया है तथा ऋत अर्थात् काल महीने सूर्य किरण और वायु ने भी सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है (दिवि सोमो०) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है उस में जितना प्रकाश है सो सूर्य आदि लोक का ही है और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होके उस से

उलट कर भूमि को प्राप्त हो के बलवाली होती है तभी वे शीतल भी होती है क्योंकि आकाश के जिस २ देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है उस २ देश में शीत भी अधिक होता है जिस२ देश में सूर्य की किरण तिरछी पडती है उस२ देश में गर्मी भी कमती होती है फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते है उन को जमने से पुष्टि होती है और जब उन के बीच में सूर्य्य की तेजरूप किरण पडती है तब उन में से भाफ उठती है उन के योग से किरण भी बलवाली होती है जैसे जल में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधिया भी पुष्ट होती है और उन से पृथिवी पुष्ट होती है इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है ॥ २ ॥ (क स्वि०) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं उन के बीच में से पहिला (प्रश्न) कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचारता और अपने प्रकाश से प्रकाशवाला है ? (दूसरा) कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है ? (तीसरा) शीत का औषध क्या है और (चौथा) कौन बडा क्षेत्र अर्थात् स्थूलपदार्थ रखने का स्थान है ? ॥ ३ ॥ इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते है (सूर्य एकाकी०) (१) इस संसार में सूर्य्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचारता और अपनी ही कील पर घूमता है तथा प्रकाशस्वरूप हो कर सब लोकों का प्रकाश करने वाला है ॥ (२) उसी सूर्य्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है ॥ (३) शीत का औषध अग्नि है और चौथा यह है पृथिवी साकार चीजों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बडा खेत है ॥ (४) ॥ वेदों में इस विषय के सिद्ध करने वाले मन्त्र बहुत हैं उन में से यहां एक देशमात्र लिखदिया है वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आजावेंगे ॥ ४ ॥

इति संक्षेपतः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः ॥

अथ गणितविद्याविषयः ॥

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च म एकादश च म एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च म एकविंशतिश्च म एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे पञ्चवि-

ँशतिश्च मे पञ्चविंꣳशतिश्च मे सप्तविंꣳशतिश्च मे सप्तविंꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च म एकत्रिꣳशच्च म एकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१॥ चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२॥ य० अ०१८ म०२४ । २५॥

भाष्यम्

अभि०—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कबीजरेखागणितं प्रकाशितमिति (एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१) सैकेन युक्ता द्वौ भवत (२) यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका (३) ॥१॥ द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः (४) एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्यायुक्ता षट् (६) एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रिययाऽनेकविधाङ्कैर्गणितविद्याः सिध्यति। अन्यच्चखल्वत्रानेकप्रकाराणां पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणितविद्या सन्तीति वेद्यम्। सेयं गणितविद्या वेदाङ्गे ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो मात्र लिख्यते। परन्त्वीदृशा मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते। इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्त्तते ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्त्तते। तदपि विधानमेकां चेति। अँ—कँ इत्यादिसङ्केतेनैतन्मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यवधेयम् ॥ २ ॥

"अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि" ॥ १ ॥ साम० छं० । प्रा० १ । ख० १ ॥

यथैका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धेतिन्यायेन स्वरसङ्केताङ्कैर्बीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम् एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयो भागः सोऽप्यत्रोच्यते ॥

भावार्थ

(एका च मे०) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अंक बीज और रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की है उन में से प्रथम अंक जो संख्या है (१) सो दो बार गणने से दो की वाचक होती है जैसे १ + १ = २ ऐसे ही एक के आगे एक तथा एक के आगे दो वा दो के आगे एक आदि जोडने से भी समझ लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार ४ तथा तीन को तीन ३ के साथ जोड़ने से (६) अथवा तीन की तीन से गुणने से ३ × ३ = ९ हुए ॥ १ ॥ इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने वा गुणने तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सब गणितविद्या निकलती है जैसे पांच के साथ पांच (५५) वैसे ही पांच २ छः २ (५५) (६६) इत्यादि जान लेना चाहिये ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों को आगे योजना करने से अंकों से अनेक प्रकार की गणितविद्या सिद्ध होती है क्योंकि इन मन्त्रों के अर्थ और अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्यों को अनेकप्रकार की गणितविद्या अवश्य जाननी चाहिये और जो कि वेदों का अंग ज्योतिषशास्त्र कहाता है उस में भी इसी प्रकार के मन्त्रों के अभिप्राय से गणितविद्या सिद्ध की है और अंकों से जो गणितविद्या निकलती है वह निश्चित और असंख्यात पदार्थों में युक्त होती है और अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीजगणित होता है सो भी (एका च मे०) इत्यादि मन्त्रों ही से सिद्ध होता है जैसे ($अ^{२}+क^{२}$) ($अ^{२}-क^{३}$) ($क^{३}-अ^{३}$) इत्यादि संकेत से निकलता है यह भी वेदों ही से ऋषि मुनियों ने निकाला है और इसी प्रकार से तीसरा भाग जो रेखागणित है सो भी वेदों ही से सिद्ध होता है ॥ २ ॥ ($अ^{२}$ $ग्न^{३}$ आ०) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है ॥

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः । अयꣳसोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ ३ ॥ य० अ० २३ मं० ६२ ॥ कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासी-

त् परिधिः क आसीत् । छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥४॥ ऋ० अ० ८ अ० ७ व० १८ म० ३ ॥

भाष्यम्

(इयं वेदिः०) अभिप्रा०—अत्र मन्त्रयो रेखागणितं प्रकाश्यत इति। इयं या वेदिस्त्रिकोणा चतुरस्रा सेनाकारा वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात्सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते । यश्चायं यज्ञो हि सङ्गमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोऽयं भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभिरस्ति ॥ (अयं सोमो०) सोमलोकोऽप्येवमेव परिध्यादियुक्तोऽस्ति (वृष्णो अश्व०) वृष्टिकर्त्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति । (रेतः) तेषां वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्याख्यं विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम् । (ब्रह्मायं वा०) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाचः (परमव्योम) अर्थात्परिधिरूपेणान्तर्बहिः स्थितमस्ति ॥ ३ ॥ (कासीत्प्रमा) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत् सर्वस्येति शेषः । एवम् (प्रतिमा) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा यया परिमाणं क्रियते सा कासीत् । एवमेवास्य (निदानम्) कारणं किमस्ति । (आज्यम्) ज्ञातव्यं घृतवत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत् सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च (परिधिः क०) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणं (क आसीत्) । गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्यते स परिधिरित्युच्यते । (छन्द०) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु (किमासीत्) (प्रउगं) ग्रहीतव्यं स्तोतव्यं (किमासीत्) इति प्रश्नाः एषामुत्तराणि । (यद्देवादे०) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वे देवाः सर्वे विद्वांसः (अयजन्त) समपूजयन्त पूजयन्ति पूजयिष्यन्ति च स एव सर्वस्य (प्रमा) यथार्थतया ज्ञातास्ति (प्रतिमा) परिमाणकर्त्ता । एवमेवाग्रेऽपि पूर्वोक्तोऽर्थो योजनीयः अत्रापि परिधिशब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । सेयं विद्या ज्योतिषशास्त्रे विस्तरशः उक्तास्ति । एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ॥

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः ॥

भाषार्थ

(इय वेदि०) अभिप्रा०—इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है जैसे तिकौन चौकौन सेन पक्षी के आकार और गोल और जो वेदी का आकार किया जाता है सो आर्य्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था क्योंकि (परो अन्त पृ०) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है उस को परिधि और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उस को व्यास कहते हैं इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि, मध्य और अंत आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये और इसी रीति से तिर्यक् विशुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं ॥ २ ॥ (कासीत्प्र०) अर्थात् यथार्थज्ञान क्या है ? (प्रतिमा) जिस से पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज है ? (निदानम्) अर्थात् कारण जिससे कार्य उत्पन्न होता है वह क्या चीज है ? (आज्य) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है ? (परिधि०) परिधि किसको कहते हैं ? (छन्दः) स्वतन्त्र वस्तु क्या है ? (प्र उ०) प्रयोग शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है ? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है (यद्देवा देव०) जिस को सब विद्वान् लोग पूजते हैं वही परमेश्वर प्रमा आदि नाम वाला है इन मन्त्रों में प्रमा और परिधि आदि शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है सो यह तीन प्रकार की गणितविद्या आर्य्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है और इसी आर्य्यावर्त्त देश से सर्वत्र भूगोल में गई है ॥

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषय ॥

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषयः

स्तुतिविषयस्तु यो भूत ँ॰ इत्यारभ्योक्तो वक्ष्यते च । अथेदानीं प्रार्थनाविषयउच्यते ॥

तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि वी॒र्य्य॑मसि वी॒र्य्यं॒ मयि॑ धेहि॒ बल॑मसि॒ बलं॒ मयि॑ धेहि । ओजो॒ऽस्योजो॒ मयि॑ धेहि म॒न्युर॑सि म॒न्युं मयि॑ धेहि॒ सहो॑ऽसि॒ सहो॒ मयि॑ धेहि ॥ १ ॥ य० अ० १९ मं० ९ ॥ मयी॒दमिन्द्र॑ इन्द्रि॒यं द॑धात्व॒स्मान् रायो॑ म॒घवा॑नः सचन्ताम् । अ॒स्माकँ॑

सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥ २ ॥ य० अ० २ मं १० । यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ म० १४ ॥

भाष्यम्

अभि०—तेजोसीत्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादिविषयाः प्रकाश्यन्त इति बोध्यम् (तेजोसि०) हे परमेश्वर त्वं वीर्य्यमस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयोसि मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि (वीर्य्यमसि०) हे परमेश्वर त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानसि कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्य्यस्फूर्त्त्यादिवीर्य्यं पराक्रमं स्थिरं निधेहि (बलम०) हे महाबलेश्वर त्वमनन्तबलमसि मय्यप्यनुग्रहत उत्तमं बलं धेहि स्थापय (ओजो०) हे परमेश्वर त्वमोजोसि मय्यप्योजः सत्यं विद्याबलं धेहि (मन्युरसि०) हे परमेश्वर त्वं मन्युर्दुष्टान्प्रतिक्रोधकृदसि मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्युं धेहि (सहोसि०) हे सहनशीलेश्वर त्वं सहोसि मय्यपि सुखयुद्धादिसहनं धेहि । एवं कृपयैतदादिशुभान्गुणान्मह्यं देहीत्यर्थः ॥ १ ॥ (मयीदमिन्द्र०) हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन् मयि मदात्मनि श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु । तथाऽस्मांश्च पोषयतु अर्थात् सर्वोत्तमैः पदार्थैः सह वर्त्तमानानस्मान्सदा कृपया करोतु पालयतु च (अस्मान्रायो०) तथा नोस्मभ्यं मघं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मघवा भवान् स परमोत्तमराज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु (सचतां०) सन्नता तत्र मास्मान् समवेतान्करोतु । तथा भवन्त उत्तमेषु गुणेषु सचता समवेता भवन्त्वितीश्वराऽऽज्ञास्ति (अस्माकꣳस०) तथा हे भगवन् त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु मा काश्चिदस्माकं चक्रवर्त्तिराज्यानुशासनादय आशिष इच्छा मोघा भवेयुः ॥२॥ (याम्मेधां०) हे अग्ने परमेश्वर परमोत्तमया मेधया धारणावत्या बुद्ध्या सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु का मेधेत्युच्यते (देवगणाः) विद्वत्समूहाः पितरो विज्ञानिनश्च यामुपासते (तया०) तया मेधया (अद्य) वर्त्तमानदिने मां सर्वदा युक्तं कुरु संपादय (स्वाहा) अत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः । स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्स आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं

प्राहेति वा स्वाहुत हविर्जुहोतीति वा। तासामेषा भवति। निरु० अ० ८ ख० २० ॥ स्वाहा शब्दस्यायमर्थः। (सु आहेति वा) (सु) सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यम् (स्वावागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वाग्वर्त्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम्। (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं न परपदार्थं प्रति चेति (स्वाहुत हविर्जुहोतीति वा) सुष्ठु रीत्या संस्कृत्य २ हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दपर्य्यायार्थाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ

अब गणितविद्याविषय के पश्चात् तेजोसीत्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना याचना समर्पण और उपासनाविषय है सो आगे लिखा जाता है, परंतु जानना चाहिये कि स्तुतिविषय तो (यो भूत च०) इत्यादि मन्त्रों में कुछ २ लिख दिया है और आगे भी कुछ लिखेंगे यहां पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं (तेजोऽसि०) अर्थात् हे परमेश्वर! आप प्रकाशरूप हैं मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञानरूप प्रकाश कीजिये (वीर्य्यमसि०) हे जगदीश्वर! आप अनन्तपराक्रम वाले हैं मुझको भी पूर्ण पराक्रम दीजिये (बलमसि०) हे अनन्त बलवाले महेश्वर! आप अपने अनुग्रह से मुझको भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिये (ओजो०) हे सर्वशक्तिमन्! आप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं अपनी करुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान मुझको भी कीजिये (मन्युरसि०) हे दुष्टों पर क्रोध करने हारे! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझमें भी रखिये (सहोसि०) हे सब के सहन करने हारे ईश्वर! आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्टव्यवहारों को सहते हैं वैसेही सुख दुःख हानि लाभ सरदी गरमी भूख प्यास और युद्ध आदि का सहने वाला मुझ को भी कीजिये अर्थात् सब शुभगुण मुझ को देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये ॥ १ ॥ (मयीदमिन्द्र०) हे उत्तम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर! आप अपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठस्वभाववाले मन को मुझ में स्थिर कीजिये अर्थात् हम को उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये (अस्मान् रा०) हे परमधनवाले ईश्वर! आप उत्तम राज्य आदि धनवाले हम को सदा के लिये कीजिये (सचन्ता०) मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों

का सेवन सदा करते रहो (अस्माकꣳस०) हे भगवन्! आप की कृपा से हम लोगों की सब इच्छा सर्वदा सत्य ही होती रहें तथा सदा सत्यही कर्म करने की इच्छा हो किन्तु चक्रवर्ती राज्य आदि बडे २ काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये ॥ २ ॥ (याम्मेधाम्०) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि हे परमात्मन्! आप अपनी कृपा से जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है उस से युक्त हम लोगों को कीजिये कि जिस के प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी होके हम लोग आप की उपासना सब दिन करते रहें । (स्वाहा०) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनि जी ने अनेक प्रकार से कहा है सो लिखते हैं कि (सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा मीठा कल्याण करने वाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये कि जैसी बात उन के ज्ञान के बीच में वर्त्तमान हो जीभ से सदा वैसाही बोलें उस से विपरीत नहीं (स्वं प्राहेति वा) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं अर्थात् जितना २ धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो उतने ही में सदा सन्तोष करें (स्वाहुत ह०) अर्थात् सर्व दिन अच्छे प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले होम को किया करें और स्वाहा शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ३ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे । युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ४ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ३ । व० १८ । मं० २ ॥ इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व । धर्मासि सुधर्मा मेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ ५ ॥ य० अ० ३८ । मं० १४ ॥ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥ य० अ० ३४ मं० १ ॥ वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे० ॥

भाष्यम्

(स्थिरा वः०) अभि०—ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम् । हे मनुष्या वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि शतघ्नीभुशुण्डीधनुर्बाणासयादीनि शस्त्राणि च (स्थिरा) मदनुग्रहेण स्थिराणि सन्तु । (पराणुदे) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु । तथा (वीळू) अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च । (उत) एवं शत्रुसेनाया अपि (प्रतिष्कभे) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्मुखतया पराजयकरणाय च सन्तु । तथा (युष्माकमस्तु तविषी०) युष्माकं तविषी सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलवास्तु येन युष्माकं चक्रवर्त्ति राज्यं स्थिरं स्यादुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत् (मा मर्त्यस्य मा०) परंत्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो हि ददामि । किन्तु मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिन्मास्तु । अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्योऽहमाशीर्वादं कदाचिद्ददामीत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ (इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् इषे उत्तमेच्छायै परमोत्कृष्टायान्नाय चास्मान् त्वं पिन्वस्व स्वसत्तया सदैव पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु (ऊर्जे०) वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणो ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व दृढोत्साहयुक्तानस्मान् कुरु (क्षत्रा०) क्षत्राय साम्राज्याय पिन्वस्व परमवीरतः क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्त्तिराज्यसहितानस्मान् कुरु (द्यावापृ०) एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां सूर्याग्निभूम्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः तथैव कलाकौशलयानचालनादिविद्या गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः, एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वोत्तमप्रयत्नवतः कुरु । (धर्मासि०) हे सुधर्म परमेश्वर ! त्वं धर्मोसि न्यायकार्यसि अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु । (अमेनि०) हे सर्वहितकारकेश्वर यथा त्वममेनिर्निर्वैरोसि तथाऽस्मानपि सर्वमित्रान्निर्वैरान् कुरु । तथा (अस्मे) अस्मदर्थं (नृम्णानि) कृपया सुराज्यसुनियमसुवर्णादीनि धारय । एवमेवास्माकं (ब्रह्म०) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय (क्षत्रं०) राज्यं क्षत्रियवर्णं च धारय (विशम्) वैश्यवर्णं प्रजां च धारय । अर्थात्सर्वोत्तमान् गुणानस्मन्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च भवान् तस्मात् सर्वामस्मदिच्छां सम्पूर्णां सम्पादयेति ॥ ५ ॥ (यज्जाग्रतोदू०) यत् मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति सर्वेषामि

न्द्रियाणामुपरि वर्त्तमानत्वादधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति (दैवम्) तेनैव ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्त (तदु०) तत् उ इति वितर्के सुप्तस्य पुरुषस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टृ (एति) प्राप्नोति, एवं सुषुप्तौ च दिव्यामन्दयुक्ततां चैति । तथा (दूरंगमम्) अर्थाद्दूरगमनशीलमस्ति (ज्योतिषां ज्योति०) ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकं (एकम्) असहायं यन्मनोस्ति । हे ईश्वर भवत्कृपया (तन्मे०) तत् मे मम मनो मननशीलं सत् शिवसंकल्पं कल्याणेष्टधर्मशुभगुणप्रियमस्तु ॥ ६ ॥ एवमेव वाजस्र न इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मंत्रैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्त्तव्यमिति वेदे विहितम् । अतः परमोत्तमपदार्थं मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्य्यन्तमीश्वराद्याचितव्यमिति सिद्धम् ॥

भाषार्थ

(स्थिरा व०) इस मंत्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में उत्तम बलवाले हो किन्तु तुम्हारे (आयुधा) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और (शतघ्नी) तोप (भुशुण्डी) बन्दूक धनुष् बाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें (वीळू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें (उत प्रतिष्कभे०) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों तथा (युष्माकमस्तु त०) हे मनुष्यो ! तुम्हारी (तविषी०) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो जिस से तुम्हारा अखंडित बल और चक्रवर्त्ति राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे (मा मर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा न्यायकारी श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है और जो (मायि०) अर्थात् कपटी छली अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं उन के लिये नहीं किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो ॥ ४ ॥ (इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् (इषे) हमारी शुभ कर्म करने ही की इच्छा हो और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये (ऊर्जे०) अर्थात् अपनी कृपा से हम को सदा उत्तम पराक्रमयुक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिये (ब्रह्मणे०) सत्य शास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने पढ़ाने और उस से यथावत् उपकार लेने में हम को अत्यन्त समर्थ कीजिये अर्थात् जिस से हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों करके

ब्राह्मणवर्ण हों (क्षत्राय०) हे परमेश्वर ! आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्त्ती राज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त हों कि क्षत्रियवर्ण के अधिकारी हम को कीजिये (द्यावापृ०) जैसे पृथिवी सूर्य अग्नि जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है वैसेही कला कौशल विमान आदि यान चलाने के लिये हम को उत्तम सुखसहित कीजिये कि जिस से हम लोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों (धर्मासि०) हे सुधर्मन् न्यायकरनेहारे ईश्वर आप न्यायकारी हैं वैसे हम को भी न्यायकारी कीजिये (अमे०) हे भगवन् ! जैसे आप निर्वैर होके सब से वर्त्तते हो वैसे ही सब से वैररहित हम को भी कीजिये (अस्मे०) हे परमकारुणिक ! हमारे लिये (नृम्णानि) उत्तम राज्य उत्तम धन और शुभगुण दीजिये (ब्रह्म०) हे परमेश्वर ! आप ब्राह्मणों को हमारे बीच मे उत्तमविद्यायुक्त कीजिये (क्षत्रम्०) हम को अत्यन्त चतुर शूरवीर और क्षत्रियवर्ण का अधिकारी कीजिये (विशम्०) अर्थात् वैश्यवर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिये कि जिस से हम शुभगुणवाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों ॥ ५ ॥ (यज्जाग्रतो०) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! जैसे जाग्रत अवस्था में मेरा मन दूर २ घूमने वाला सब इन्द्रियों का स्वामी तथा (दैवम्०) ज्ञान आदि दिव्यगुणों वाला और प्रकाशस्वरूप रहता है वैसेही (तदुसु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे (ज्योतिषा०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला और एक है (तन्मे०) हे परमेश्वर ! ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से (शिवस०) कल्याण करनेवाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो जिस से अधर्मकामों में कभी प्रवृत्त न हो ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से (वाजश्च मे०) इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में मंत्र ईश्वर के अर्थ सर्वस्वसमर्पण करने के ही विधान में है अर्थात् सब से उत्तम मोक्षसुख से लेके अन्न जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये ॥

आयुर्यज्ञेन॑ कल्पतां प्राणो यज्ञेन॑ कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन॑ कल्पताᳬं श्रोत्रं॑ यज्ञेन॑ कल्पतां वाग्यज्ञेन॑ कल्पतां मनो॑ यज्ञेन॑ कल्पतामात्मा यज्ञेन॑ कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन॑ कल्पतां ज्योति॑र्यज्ञेन॑ कल्पताᳬं स्वर्यज्ञेन॑ कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन॑ कल्पतां यज्ञो यज्ञेन॑ कल्पताम् । स्तोम॑श्च यजु॑-

श्च ऋक् च साम च बृहच्च रथंतरञ्च ॥ स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा ॥ ७ ॥ य० अ० १८ म० २६ ॥

भाष्यम्

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञो वै विष्णुः श० १।२।१३। वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः हे मनुष्यास्तेन यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति। यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां परमेश्वराय समर्पितं भवतु। एवमेव (प्राणः) (चक्षुः) (वाक्) वाणी (मन) मननं ज्ञानं (आत्मा) (जीवः) (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्त्ता (ज्योतिः) सूर्य्यादिप्रकाशः (धर्म) न्यायः (स्वः) (सुख) (पृष्ठ) भूम्याद्यधिकरण (यज्ञो०) अश्वमेधादिः शिल्पक्रियामयो वा (स्तोमः) स्तुतिसमूहः (यजुः) यजुर्वेदाध्ययनम् (ऋक्) ऋग्वेदाध्ययनम् (साम) सामवेदाध्ययनम्, चकारादथर्ववेदाध्ययनं च (बृहच्च रथन्तर च) महत्क्रियासिद्धिफलभोगः शिल्पविद्याजन्य वस्तु चास्मदीयमेतत्सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु येन वय कृतज्ञाः स्याम। एव कृते परमकारुणिकः परमेश्वर, सर्वोत्तम सुखमस्मभ्य दद्यात् येन वयं (स्वर्देवा०) सुखे प्रकाशिताः (अमृता) परमानन्दम्मोक्ष (अगन्म) सर्वदा प्राप्ता भवेम। तथा (प्रजापते प्र०) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजा (अभूम) अर्थात्परमेश्वर विहायान्यमनुष्य राजान नैव कदाचिन्मन्यामह इति। एवं जाते (वेट् स्वाहा०) सदा वयं सत्यं वदामो भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नत उत्साहवन्तोऽभूम भवेम मा कदाचिद्भवदाज्ञाविरोधिनो वयमभूम किन्तु भवत्सेवायां सदैव पुत्रवद्वर्त्तामहि ॥ ७ ॥

भाषार्थ

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञ नाम विष्णु का है जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज समर्पण कर देना चाहिये। इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उस की आज्ञापालन में समर्पित करें (प्राणो०) अर्थात् अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ करदेवें (चक्षु०) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आंख (श्रोत्र) जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि (वाक्०) वाणी (मनो०) मन और विज्ञान (आत्मा०) जीव (ब्रह्मा) तथा चारों वेद पढ के जो पुरुषार्थ किया है (ज्योति ०)

जो प्रकाश (स्वर्य०) जो सब सुख (पृष्ठम्) जो उत्तम कर्मों का फल और स्थान (यज्ञो०) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ किया जाता है ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य है (स्तोमश्च) जो स्तुति का समूह (यजुश्च०) सब क्रियाओं की विद्या (ऋक् च०) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र (साम च०) सब गान करने की विद्या (चकारात्०) अथर्ववेद (बृहच्च०) बड़े २ सब पदार्थ और (रथंतर च०) शिल्पविद्या आदि के फलों में से जो२ फल अपने आधीन होंवे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवें क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है उसके लिये परम कारुणिक परमात्मा सब सुख देता है । इस में सदेह नहीं (स्वर्देवा०) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परमप्रकाशरूपविज्ञान प्राप्ति में शुद्ध होके तथा सब ससार के बीच में कीर्त्तिमान् होके हम लोग परमानन्दस्वरूप मोक्षसुख को (अगन्म०) सब दिन के लिये प्राप्त हों (प्रजापते ०) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न माने क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ न्यायकारी सब के पिता एक परमेश्वर को छोड के दूसरे की उपासना करे और राजा माने, इसलिये हम लोग उसी को अपना राजा मान के सत्यन्याय को प्राप्त हों अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है अन्य कोई नहीं (वेट् स्वाहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ सत्यस्वरूप सत्यन्याय करने वाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा हो के यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करना उचित है कि हे कृपानिधे ! आप की आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों किन्तु आप और सब के साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से वर्त्तें ॥ ७ ॥

अथोपासनाविषयः संक्षेपतः ॥

युञ्जते मनं उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः । विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥१॥ ऋ० अ०४ अ०४ व० २४ म० १॥ युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियम् । अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ २ ॥ यु-

अन्तर्यामीश्वरः कृपया (युक्त्वाय०) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्त्वा (धिया) स्वकृपाधारवृत्या (बृहज्ज्योतिः) अनन्तप्रकाश (दिवं) दिव्य स्वस्वरूपम् (प्रसुवाति) प्रकाशयति तथा (करिष्यतः) सत्यभक्तिं करिष्यमाणानुपासकात् योगिन (सविता) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन सदानन्दयतीति॥४॥उपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरःप्रतिजानीते (ब्रह्म-पूर्व्यम्) यदा तौ पुरातन सनातन नमोभिः स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते तदा तद् ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति(श्लोकः) सत्यकीर्त्तिः (वा) (वीं) (एतु) व्येतु व्याप्नोतु कस्य केव (सूरेः) परमविदुषः (पथ्येव) धर्ममार्गइव (ये) एव य उपासका (अमृतस्य) मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य (पुत्राः) तदाज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवका सन्ति त एव (दिव्यानि) प्रकाशस्वरूपाणि विद्योपासनायुक्तानि कर्माणितथादिव्यानि (धामानि) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा (आतस्थुः) आ समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति ते (विश्वे०) सर्वे (वा) उपासनोपदेष्टुपदेश्यौ द्वौ (शृण्वन्तु) प्रख्यातौ जानन्तु । इत्यनेन प्रकारेणोपासना कुर्वाणौ वा युवा द्वौ प्रतीश्वरोऽह युजे कृपया समवेतो भवामीति ॥ ५ ॥

भाषार्थ

अब ईश्वर की उपासना का विषय वेदों में लिखा है उस में से कुछ सक्षेप से यहां भी लिखा जाता है (युञ्जते मन०) इस का अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है अर्थात् उपासनासमय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्रा) अर्थात् बड़े २ बुद्धिमान् (होत्रा) उपासनायोग के ग्रहण करनेवाले हैं वे (विप्रस्य) सब को जाननेवाला (बृहत) सब से बड़ा (विपश्चित) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है उस के बीच में (मन) (युञ्जते) अपने मन को ठीक २ युक्त करते है तथा (उत०) (धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे०)धारणऔर निधान करता है (वयुनाविदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है वह्री एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है कि जिस से परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश और (सवितु) सब की रचना करनेवाले परमेश्वर की

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया ॥ ६ ॥ युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् । गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ७ ॥ य० अ० १२ मं० ६७ । ६८ ॥

भाष्यम्

(कवयः) विद्वांसः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः (पृथक्) विभागेन (सीराः) योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति तथा (युगा) युगानि योगयुक्तानि कर्माणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति । य एवं कुर्वन्ति ते (देवेषु) विद्वत्सु योगिषु (सुम्नया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ हे योगिनो यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं (युनक्त) तद्युक्ता भवत एवं मोक्षसुखं सदा (वितनुध्वं) विस्तारयत तथा (युगा०) उपासनायुक्तानि कर्माणि (सीराः) प्राणादित्ययुक्ता नाडीश्च युक्त्वोपासनाकर्माणि योजयत । एवं (कृते योनौ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारणे आत्मनि (वपतेह बीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनायाः विज्ञानाख्यं बीजं वपत तथा (गिरा च) वेदवाण्या विद्यया (युनक्त) युङ्क्त युक्ता भवत किं च (श्रुष्टिः) क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं (नो नेदीयः) नोऽस्मान्नेदीयोऽतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण (असत्) अस्तु कथंभूतं फलं (पक्वं) शुद्धानन्दसिद्धं (एयात्) आसमन्तादियात् प्राप्नुयात् (इत्सृण्य) उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्ति । इदिति निश्चयार्थे पुनः कथंभूतास्ताः (सभराः) शान्त्यादिगुणपुष्टा एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम् ॥ ७ ॥

अत्र प्रमाणम् । श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति निरु० अ० ६ ख० १२ ॥ द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च हन्ता च । निरु० अ० १३ ख० ५ ॥

भाषार्थ

(कवय) जो विद्वान् योगी लोग और (धीरा) ध्यान करने वाले हैं वे (सीरा युञ्जन्ति) (पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाडियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की

धारणा करते हैं (युगा) जो योगयुक्त कर्म्मों में तत्पर रहते हैं (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥ हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वं) विस्तार करो इस प्रकार करने से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके उस में उपासनाविधान से विज्ञानरूप (बीजं) बीज को (वपत) अच्छे प्रकार से बोओ तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर उस की स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासनायोग के फल को प्राप्त होवें और (नो नेदीयः) हम को ईश्वर के अनुग्रह से वह फल (असत्) शीघ्र ही प्राप्त हो कैसा वह फल है कि (पक्व) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ और मोक्षसुख को प्राप्त कराने वाला है (इत्सृण्यः) अर्थात् वह उपासनायोगवृत्ति कैसी है कि सब क्लेशों को नाश करने वाली और (सभराः) सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है उन उपासना योगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ॥७॥

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे । योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ ८ ॥ अथर्व० कांड १९ अनु० १ व० ८ मं० २ ॥ भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ९ ॥ नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ १० ॥ अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ११ ॥

भाष्यम्

(अष्टाविंशानि०) हे परमेश्वर भगवन् ! कृपयाऽष्टाविंशानि (शिवानि) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थाद्दशेन्द्रियाणि दश प्राणा मनोबुद्धिचित्ताहंकारविद्यास्वभावशरीरबलं चेति (शग्मानि) सुखकारकाणि भूत्वा (अहोरात्राभ्या) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं (मे) मम (भजन्तु) सेवन्तां तथा भवत्कृपयाऽहं (योग प्र०) प्राप्य (क्षेमं च) (प्रपद्ये) क्षेमं प्राप्य

योगं च प्रपद्ये । यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवेदेतदर्थं सततं नमोस्तु ते ॥ ८ ॥ इमे-वक्ष्यमाणाश्च मन्त्रा अथर्ववेदस्य सन्तीति बोध्यम् ॥ (इन्द्रा०) हे इन्द्र परमेश्वर त्वं (शच्याः) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरसि तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमत्त्वात् सर्वोत्कृष्टत्वादतिशयेन बहुरसि तथा (अरात्याः) शत्रुभूताया वाण्यास्तादृशस्य कर्मणो वा शत्रुरर्थाद्भूयान्निवारकोसि (विभूः) व्यापक (प्रभूः) समर्थश्चासि (इति) अनेन प्रकारेणैवभूतं (त्वा) त्वा (वयम्) सदैव (उपास्महे) अर्थात्तवैवोपासनं कुर्मह इति ॥ ९ ॥ अत्र प्रमाणम्—वाचोनामसु शचीति पठितम् । निघ० अ० १ ख० ११ ॥ तथा कर्मणा नामसु शचीति पठितम्, निघ० अ० २ ख० १ ॥ तथा प्रजानामसु शचीति पठितं, निघ० अ० ३ खं० ९ ॥ ईश्वरोभिवदति हे मनुष्या यूयमुपासनारीत्या सदैव (मा) मां (पश्यत) सम्यग् ज्ञात्वा चरत उपासक एवं जानीयाद्देव हे परमेश्वरानन्तविद्यायुक्त ! (नमस्ते अस्तु) ते तुभ्यमस्माकं सततं नमोस्तु भवतु ॥ १० ॥ (अन्नाद्येन) कस्मै प्रयोजनायान्नादिराज्यैश्वर्येण (यशसा) सर्वोत्तमसत्कर्मानुष्ठानोद्भूतसत्यकीर्त्या (तेजसा) निर्दीनतया प्रागल्भ्येन च (ब्राह्मणवर्चसेन) पूर्णविद्यया सह वर्त्तमानानस्मान् हे परमेश्वर त्वं कृपया सदैव (पश्य) सम्प्रेक्षस्वैतदर्थं वयं (त्वा) सर्वदोपास्महे ॥११॥

भाषार्थ

(अष्टाविंशानि शिवानि) हे परमैश्वर्य्ययुक्त मंगलमय परमेश्वर ! आप की कृपा से मुझ को उपासनायोग प्राप्त हो तथा उस से मुझ को सुख भी मिले । इसी प्रकार आप की कृपा से दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल, ये अट्ठाईस सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासनायोग को सदा सेवन करें तथा हम भी (योग) उस योग के द्वारा (क्षेम) रक्षा को और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं इसलिये हम लोग रात दिन आप को नमस्कार करते हैं ॥ ८ ॥ (भूयानराल्या) हे जगदीश्वर ! आप (शच्याः) सब प्रजा, वाणी और कर्म इन तीनों के पति हैं तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त हैं, जिस से आप (अराल्या) अर्थात् दुष्ट प्रजा मिथ्यारूपवाणी और पापकर्म्मों को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं तथा आप को (विभू) सब में व्यापक और (प्रभू) सब सामर्थ्य

वाले जान के हम लोग आप की उपासना करते हैं ॥ ९ ॥ (नमस्ते अस्तु) अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि हे उपासक लोगो! तुम मुझ को प्रेमभाव से अपने आत्मा में सदा देखते रहो तथा मेरी आज्ञा और वेदविद्या को यथावत् जान के उसी रीति से आचरण करो। फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर! आप कृपादृष्टि से (पश्य मा) हम को सदा देखिये इसलिये हम लोग आप को सदा नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥ कि (अन्नाद्येन) अन्न आदि ऐश्वर्य (यशसा) सब से उत्तम कीर्त्ति (तेजसा) भय से रहित (ब्राह्मणवर्चसेन) और सम्पूर्ण विद्या से हम लोगों को युक्त करके कृपा से देखिये इसलिये हम लोग सदा आप की उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

अम्भो॒ अमो॒ मह॒: सह॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् ॥ १२ ॥ अम्भो॒ अ॒रु॒णं र॑ज॒तं रज॒: सह॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् ॥ १३ ॥ उ॒रु पृ॒थुः सु॒भूर्भुव॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् ॥ १४ ॥ प्रथो॒ वरो॒ व्यचो॒ लो॒क इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् ॥ १५ ॥ अथर्व० कां० १३ अनु० ४ मं० ४७–५३ ॥

भाष्यम्

(हे ब्रह्मन्) (अम्भ) व्यापक शान्तस्वरूप जलवत् प्राणस्यापि प्राणम् । आप्लृधातोरसुन्प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः ॥ (अमः) ज्ञानस्वरूपम् (मह) पूज्य सर्वेभ्यो महत्तर (सहः) सहनस्वभावं ब्रह्म (त्वा) त्वां ज्ञात्वा (इति) अनेन प्रकारेण (वयं) सततं उपास्महे ॥ १२ ॥ (अम्भः) आदरार्थो द्विरारम्भः अस्यार्थ उक्तः (अरुणम्) प्रकाशस्वरूपम् (रजतम्) रागविषयमानन्दस्वरूपम् (रजः) सर्वलोकैश्वर्यसहितम् (सहः) सहनशक्तिप्रदम् (इति त्वोपास्महे वयम्) त्वां विहाय नैव कस्यचिदन्यस्यार्थे कस्यचिदुपास्योऽस्तीति ॥ १३ ॥ (उरुः) सर्वशक्तिमान् (पृथुः) अतीव विस्तृतो व्यापकः (सुभूर्भुव) सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति सुभूः अन्तरिक्षवदवकाशरूपत्वाद्भुवः (इति) एवं ज्ञात्वा (त्वो०) त्वा (उपास्महे वयम्) ॥१४॥ बहुनामसु उरुरिति पठितमस्ति। निघण्टु । अ० ३। ख० १ । (प्रथः) सर्वजग-

प्रसारकः(वरः) श्रेष्ठ. (व्यचः) विविधतया सर्वं जगज्जानातीति (लोकः) लोकयते सर्वैश्च त्रैलोकयति सर्वान् वा (इति त्वो०) वयमीदृक्स्वरूपं सर्वोत्तमं त्वामुपास्महे ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(अम्भो) हे भगवन् ! आप सब में व्यापक शान्तस्वरूप और प्राण के भी प्राण हैं तथा (अम) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देने वाले हैं (महः) सब के पूज्य सब के बड़े और (सह) सब के सहन करने वाले है (इति) इस प्रकार का (त्वो०) आप को जान के (वयम्) हम लोग सदा उपासना करते हैं ॥ १२ ॥ (अम्भ) [दूसरी बार इस शब्द का पाठ केवल आदर के लिये है] (अरुणम्) आप प्रकाशस्वरूप सब दुःखों के नाश करने वाले तथा (रजतम्) प्रीति के परम हेतु आनन्दस्वरूप (रजः) सब लोकों के ऐश्वर्य्य से युक्त (सह) [इस शब्द का भी पाठ आदरार्थ है] और सहनशक्तिवाले हैं इसलिये हम लोग आप की उपासना निरन्तर करते हैं ॥ १३ ॥ (उरु०) आप सबबल वाले (पृथुः) अर्थात् आदि अन्त रहित तथा (सुभू) सब पदार्थों में अच्छे प्रकार से वर्त्तमान और (भुव) अवकाशस्वरूप से सब के निवासस्थान हैं इस कारण हम लोग उपासना करके आप के ही आश्रित रहते हैं ॥ १४ ॥ (प्रथो वरो०) हे परमात्मन् ! आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं (व्यचः) अर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण पालन और वियोग करने वाले तथा (लोक) सब विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आप ही हैं दूसरा कोई नहीं ॥ १५ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १६ ॥ ऋ० अ० १ अ० १ व० ११ म० १ ॥

भाष्यम्

(युञ्जन्ति) ये योगिनो विद्वांसः (परितस्थुषः) परितः सर्वतः सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान्वा चरन्तं सर्वज्ञं (अरुषं) अहिंसकं करुणामयम् [रुष हिंसायाम्] (ब्रध्नं) विद्यायोगाभ्यामप्रेमभरेण सर्वानन्दवर्धकं महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति (रोचनाः) त आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते ॥ इति प्रथमोऽर्थः ॥ अथ द्वितीयः ॥ (प-

वाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं ॥ इति प्रथमोर्थ ॥ अब दूसरा अर्थ करते हैं कि (परितस्थुष) जो सूर्य्यलोक अपनी किरणों से सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में (ब्रध्नं) सब से बडा और (अरुषं) रक्तगुणयुक्त है और जिस के आकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं (रोचना) जिस के प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित हो रहे है विद्वान् लोग उसी को सब लोकों के आकर्षयुक्त जानते हैं ॥ इति द्वितीयोऽर्थः ॥ (युञ्जन्ति) इस मन्त्र का और तीसरा यह भी अर्थ है कि सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है उस को प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इन तीनों अर्थों में निघण्टु आदिके प्रमाण भाष्य में लिखे है सो देख लेना ॥ १६ ॥ इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जान के भट्टमोक्षमूलर साहब ने घोडे का जो अर्थ किया है सो ठीक नहीं है । यद्यपि सायणाचार्य्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छा ही है क्योंकि प्रोफेसर मेक्समोलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोलकल्पना की हैं ॥

इदानीमुपासना कथंरीत्या कर्त्तव्येति लिख्यते । तत्र शुद्ध एकान्तेऽभीष्टे देशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा सर्वाणीन्द्रियाणि मनश्चैकाग्रीकृत्य सच्चिदानन्दस्य रूपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सञ्चिन्त्य तत्रात्मानं नियोज्य च तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठाने सम्यक्कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः २ स्वात्मानं संलगयेत् । अत्र पतञ्जलिमहामुनिना स्वकृतसूत्रेषु वेदव्यासकृतभाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः । तद्यथा — योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥ अ० १ पा० १ सू० २ ॥ उपासनासमये व्यवहारसमये वा परमेश्वरादतिरिक्तविषयादधर्मव्यवहाराच्च मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति । निरुद्धा सती सा क्वावतिष्ठत इत्यत्रोच्यते ॥ १ ॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ २ ॥ अ० १ पा० १ सू० ३ ॥ यदा सर्वस्माद्व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते ॥ २ ॥ यदोपासको योग्युपासनां विहाय सांसारिकव्यवहारे प्रवर्त्तते तदा सांसारिकजनवत्तस्यापि प्रवृत्तिर्भवत्याहोस्विद्विलक्षणेत्यत्राह ॥ वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ३ ॥ अ० १ पा० १ सू० ४ ॥ इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्यु-

पासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽती-वतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति । नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद्वृत्तिर्जायत इति ॥ ३ ॥ कति वृत्तयः सन्ति कथं निरोद्धव्या इत्यत्राह ॥ वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ४ ॥ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ५ ॥ तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ६ ॥ विपर्य्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ७ ॥ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ८ ॥ अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ ९ ॥ अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ १० ॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ ११ ॥ अ० १ पा० १ सू० ५ । ६ । ७ । ८ । ९ । १० । ११ । १२ ॥ उपासनायाः सिद्धेः सहायकारि परमं साधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते ॥ ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥१२॥ अ०१ । पा०१ सू०२३ । भा० प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण तदभिध्यानामपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

अब जिस रीति से उपासना करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं । जब २ मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें तब२ इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छे प्रकार से लगाकर सम्यक् चिन्तन करके उस में अपने आत्मा को नियुक्त करें फिर उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना को वारंवार करके अपने आत्मा को भली भांति से उस में लगादें । इस की रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेदव्यासमुनिजी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं । (योगश्चित्त०) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के शुभ गुणों में स्थिर कर के परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं और वियोग उस को कहते हैं कि परमेश्वर और उस की आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फस के उस से दूर होजाना । (प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है तब कहां पर स्थित होती है ? इस का उत्तर यह है कि ॥ १ ॥ (तदा द्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ बांध के रोक देते हैं तब वह जिस ओर नीचा होता है उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से

रुकती है तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है और दूसरा यह है कि ॥ २ ॥ (वृत्तिसा०) उपासक योगी और ससारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति सदा हर्ष शोक रहित आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और ससार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष शोक रूप दु खसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढती रहती है और ससारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फसती जाती है ॥ ३ ॥ (वृत्तयः०) अर्थात् सब जीवों के मन में पाच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है उस के दो भेद हैं एक क्लिष्ट दूसरी अक्लिष्ट अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित उन में से जिन की वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है उन की वृत्ति अविद्यादि क्लेशसहित और जो पूर्वोक्त उपासक हैं उन की क्लेशरहित शान्त होती है ॥४॥ वे पाच वृत्तियें हैं पहिली (प्रमाण) दूसरी (विपर्य्यय) तीसरी (विकल्प) चौथी (निद्रा) और पाचमी (स्मृति) ॥ ५ ॥ उन के विभाग और लक्षण ये हैं, (तत्र प्रत्यक्षा०) इस की व्याख्या वेद विषय के होमप्रकरण में लिख दी है ॥ ६ ॥ (विपर्य्ययो०) दूसरी विपर्य्यय कि जिस से मिथ्याज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न जानना अथवा अन्य में अन्य की भावना करलेना इस को विपर्य्यय कहते है ॥ ७ ॥ तीसरी विकल्पवृत्ति (शब्दज्ञाना०) जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिरपर सींग देखे थे। इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है, सींगवाले मनुष्य भी होते होंगे ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं सो झूठी बात है अर्थात् जिस का शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके इसी से इस का नाम विकल्प है ॥ ८ ॥ चौथी (निद्रा) अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फसी हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है। पाचमी (स्मृति) (अनुभूत०) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो उसी का सस्कार ज्ञान में बना रहता और उस विषय को (अप्रमोष) भूले नहीं इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते है। इन पाच वृत्तियों को बुरे कामो और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि ॥ १० ॥ (अभ्यास०) जैसा अभ्यास उपासनाप्रकरण में आगे लिखेंगे वैसा करें और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पाच वृत्तियों को रोक के उन को उपासनायोग में प्रवृत्त रखना ॥ ११ ॥ तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि (ईश्वरप्र०) ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोयमीश्वरो नामेति । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १३ ॥ अ० १ सू० २४ ॥ भा० अविद्यादयः क्लेशाः कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फल विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयस्ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते योह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः, कैवल्य प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्य प्राप्ताः ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति योऽसौ प्रकृष्टसत्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति तस्य शास्त्रं निमित्तं शास्त्रं पुनः किं निमित्तं प्रकृष्टत्वनिमित्तमेनयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः, एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वर सदैव मुक्त इति तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम् तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः; न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति कस्मात् द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्व प्रसक्त द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति अर्थस्य विरुद्धत्वात्तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्यं स ईश्वर स च पुरुषविशेष इति किं च ॥ १३ ॥ तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम् ॥ १४ ॥ अ० १ पा० १ सूत्र २५ । भा० यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्प बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमान यत्र निरतिशय स सर्वज्ञ अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणवदिति यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्य्यन्वेष्या तस्यात्मानुग्रहाभावेपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणःपुरुषानुद्धरिष्यामीति । तथा चोक्त । आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्र प्रोवाचेति ॥ १४ ॥ स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १५ ॥ अ० १ पा० १ सू० २६ ॥ भा० पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छे

द्यन्ते यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः, यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्ध तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ १५ ॥ तस्य वाचकः प्रणव ॥ १६ ॥ अ० १ पा० १ सू० २७ ॥ भा०—वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य किमस्य सङ्केतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवद् वस्थितमिति स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति यथावस्थितः पितापुत्रयो सम्बन्ध. संकेतेनावद्योत्यते अयमस्य पिता अयमस्य पुत्र इति सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचक शक्त्यपेक्षस्तथैव संकेत क्रियते संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्य शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिन. प्रतिजानते विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः ॥ १ ॥ तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १७ ॥ अ० १ पा० १ सू० २८ ॥ भा०–प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना तदस्य योगिनः प्रणव जपतः प्रणवार्थं च प्रभावयतश्चित्तमेकाग्र सम्पद्यते। तथा चोक्तम् । स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति ॥ १७ ॥

भाषार्थ

अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि (क्लेशकर्म०) अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो २ वासना इन सब से जो सदा अलग और बन्धरहित है उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते है। फिर वह कैसा है जिस से अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं तथा जो सदा आनन्द ज्ञानस्वरूप सर्वशक्तिमान् है उसी को ईश्वर कहते हैं क्योंकि ॥ १३ ॥ (तत्र निरति०) जिस में नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है जिस के ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है जिस के सामर्थ्य की अवधि नहीं। और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है इसालिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें ॥ १४ ॥ अब उस की भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं (तस्य वा०) जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता ईश्वर के जितने नाम हैं उन में से ओंकार सब से उत्तम नाम है इसलिये ॥ १५ ॥ (तज्जप०) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये कि जिस से उपासक का मन एकाग्रता प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत प्राप्त हो-

कर स्थिर हो जिस से उस के हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाय। फिर उस से उपासकों को यह भी फल होता है कि। १६ ॥

किंचास्य भवति। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ १८ ॥ अ० १ पा० १ सू० २९ ॥ भा०—ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवल अनुपसर्गः तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदीयः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपकाः के पुनस्तेकियन्तोवेति ॥ १८ ॥ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ १९ ॥ अ० १ पा० १ सू० ३० ॥ भा० नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः, व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्, स्त्यानमकर्मण्यता, चित्तस्य संशय उभयकोटिस्पृक् विज्ञानं स्यादिदमेव नैव स्यादिति। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम् (आलस्यम्) कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः॥ अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्द्धः। भ्रान्तिदर्शनं विपर्य्ययज्ञानं, अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ १९ ॥ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ १९ ॥ अ० १ पा० १ सू० ३१ ॥ भा० दुःखमाध्यात्मिकं, आधिभौतिकं आधिदैविकं, च येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखं दौर्मनस्यम्। इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः। यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वं। प्राणोयद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं निस्सारयति स प्रश्वासः। विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति। अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह ॥ १९ ॥ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ २० ॥ अ० १ पा० १ सू० ३२ ॥ भा०—विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यस्येत् यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तं यदि पुनरिदम् सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते

तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतं योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात् अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन् । अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत् । अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् कथञ्चित्समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति किञ्च स्वात्मानुभवापह्नवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति कथं यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीति । अहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः नच प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तं यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ॥ २० ॥

भाषार्थ

इस मनुष्य को क्या होता है (ततः प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और (अन्तराय) उस के अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है वे विघ्न नव प्रकार के हैं ॥ १७ ॥ (व्याधि) एक व्याधि अर्थात् धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना । (दूसरा) (स्त्यान) अर्थात् सत्य कर्मों में अप्रीति । (तीसरा) (संशय) अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उस का यथावत् ज्ञान न होना । (चौथा) (प्रमाद) अर्थात् समाधिसाधनों के ग्रहण में प्रीति और उन का विचार यथावत् न होना । (पांचवां) (आलस्य) अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना (छठा) (अविरति) अर्थात् विषयसेवा में तृष्णा का होना (सातवां) (भ्रान्तिदर्शन) अर्थात् उलटे ज्ञान का होना जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना (आठवां) (अलब्धभूमिकत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना और (नववां) (अनवस्थितत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उस में चित्त स्थिर न होना ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं ॥ १८ ॥ अब इन के फल लिखते हैं (दुःख दौर्म०) अर्थात् दुःख की प्राप्ति

मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कपना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। ये सब क्लेश अशान्तचित्तवाले को प्राप्त होते हैं शांतचित्तवाले को नहीं और उन के छुडाने का मुख्य उपाय यही है ॥ २० ॥ कि (तत्प्रतिषेधा०) जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है अन्य कोई नहीं इसलिये सब मनुष्यों को अच्छे प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिस से वे सब विघ्न दूर हो जाय। आगे जिस भावना से उपासना करने वाले को व्यवहार में अपने चित्त को प्रसन्न करना होता है सो कहते हैं ॥ २० ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनं ॥ २१ ॥ अ० १ पा० १ सू० ३३ ॥ भा० तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत् दुःखितेषु करुणां पुण्यात्मकेषु मुदितां अपुण्यशीलेषूपेक्षामेवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते ततश्च चित्तं प्रसीदति प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ २१ ॥ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ २२ ॥ अ० १ पा० १ सू० ३४ ॥ भा० कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनं विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्॥ छर्दनं भक्षितान्नवमनवत् प्रयत्नेन शरीरस्थं प्राणं बाह्यदेशं निस्सार्य्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता सम्पादनीया ॥ २२ ॥ योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २३ ॥ अ० १ पा० २ सू० २८॥ एषामुपासनायोगाङ्गानामनुष्ठानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति ॥ २३ ॥ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २४ ॥ अ० १ पा० २ सू० २९ ॥ तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ २५ ॥ अ० १ पा० २ सू० ३० ॥ भा० तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते (तथा चोक्तम्) स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति, सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि

न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेत् इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत् तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रकृतिरूपकेन कष्टन्तमं प्राप्नुयात् तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् । स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ २४ ॥ एषां विवरणं प्राकृतभाषया वक्ष्यते ॥

भाषार्थ

(मैत्री) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं उन सबों के साथ मित्रता करना । दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी । पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता । पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उन के साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उस का मन स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ (प्रच्छर्दन०) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे २ भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है । इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उस के स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये । जैसे मनुष्य जल में गोता मार कर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में वारंवार मग्न करना चाहिये ॥ २३ ॥ (योगाङ्गानु०) आगे जो उपासनायोग के आठ अंग लिखते हैं जिन के अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥ (यमनियमा०) अर्थात् एक (यम) दूसरा (नियम) तीसरा (आसन) चौथा (प्राणायाम) पांचवां (प्रत्याहार) छठा (धारणा) सातवां (ध्यान) और आठवां (समाधि) ये सब उपासनायोग के अंग कहाते हैं और आठ अंगों का सिद्धान्तरूप फल संयम है ॥२५॥ (तत्राहिंसा०) उन आठों में से पहिला यम है सो पांच प्रकार का है एक (अहिंसा) अर्थात् सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से

वर्त्तना । दूसरा (सत्य) अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने । तीसरा (अस्तेय) अर्थात पदार्थ वाले की आज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना इसी को चोरीत्याग कहते हैं । चौथा (ब्रह्मचर्य्य) अर्थात् विद्या पढने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त विवाह का करना परस्त्री वेश्या आदि का त्यागना सदा ऋतुगामी होना विद्या को ठीक २ पढ के सदा पढाते रहना और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना । पाचवा (अपरिग्रह) अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना, इन पाचों का ठीक २ अनुष्ठान करने से उपासना का वीज वोया जाता है । दूसरा अग उपासना का नियम है जोकि पाच प्रकार का है ॥ २५ ॥

ते तु—शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २६ ॥ अ० १ पा० २ सू० ३२ ॥ शौच बाह्यमाभ्यन्तर च बाह्य जलादिनाऽभ्यन्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम् । संतोष—धर्मानुष्ठानेन सम्यक प्रसन्नता सम्पादनीया । तपः—सदैव धर्मानुष्टानमेव कर्त्तव्यं वेदादिसत्यशास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानम्—परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमर्पणमित्युपासनायाः पञ्च नियमा द्वितीयमङ्गम् ॥ २६ ॥ अथाहिंसा धर्मस्य फलम्—अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग ॥ २७ ॥ अथ सत्याचरणफलम् ॥ सत्यप्रतिष्ठाया क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २८ ॥ अथ चौरीत्यागफलम्—अस्तेयप्रतिष्ठाया सर्वरत्नोपस्थानम् ॥२९॥ अथ ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानेन यल्लभ्यते तदुच्यते—ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३० ॥ अथापरिग्रहफलमुच्यते—अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ ३१ ॥ अथ शौचानुष्ठानफलम् ॥ शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ ३२ ॥ किंच सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ३३ ॥ सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ३४ ॥ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ३५ ॥ स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ३६ ॥ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ३७ ॥ योग० अ० १ पा० १ सू० ३५ । ३६ । ३७ । ३८ । ३९ । ४० । ४१ । ४२ । ४३ । ४४ । ४५ ।

भाषार्थ

(पहिला) (शौच) अर्थात् पवित्रता करनी, सो भी दो प्रकार की है । एक भीतर की और दूसरी वाहर की । भीतर की शुद्धि धर्माचरण सत्यभाषण

विद्याभ्यास सत्संग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से, शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती है। (दूसरा) (सन्तोष) जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं हैं। (तीसरा) (तप) जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरण रूप तप से निर्मल कर देना (चौथा) (स्वाध्याय) अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेद शास्त्र का पढ़ना पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना कराना और (पांचवां) (ईश्वरप्रणिधानम्) अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण प्राण आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना, ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा अङ्ग है। अब पांच यम और पांच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं ॥ २६ ॥ (अहिंसाप्र०) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है किन्तु उस के सामने वा उस के संग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है ॥ २७ ॥ (सत्यप्र०) तथा सत्याचरण का ठीक २ फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता बोलता और करता है तब वह जो २ योग्य काम करता और करना चाहता है वे २ सब सफल हो जाते हैं ॥ २८ ॥ चोरीत्याग करने से यह बात होती है कि (अस्तेय०) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है तब उस को सब उत्तम २ पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं और चोरी इस का नाम है कि मालिक की आज्ञा के विना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना ॥ २९ ॥ (ब्रह्मचर्य०) ब्रह्मचर्यसेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है। एक शरीर का दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है ॥ ३० ॥ (अपरिग्रहस्थै०) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है तब कौन हूं कहां से आया हूं और मुझ को क्या करना चाहिये अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा इत्यादि शुभ गुणों का विचार उस के मन में स्थिर होता है। ये ही पांच यम कहाते हैं। इन का ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये ॥ ३१ ॥ परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण

है जो कि उपासना का दूसरा अंग कहाता है और जिस का साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है सो भी पांच प्रकार का है। उन में से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है (शौचात्स्वा०) पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उस के सब अवयव बाहर भीतर से मलिन ही रहते हैं तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सब के शरीर मल आदि से भरे हुए हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच कर के सदा अलग रहता है ॥ ३२ ॥ और उस का फल यह है—(किञ्च०) अर्थात् शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है तदनन्तर—॥ ३३ ॥ (सन्तोषाद०) अर्थात् पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है वह सब से उत्तम है और उसी को मोक्षसुख कहते हैं ॥ ३४ ॥ (कायेन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वोक्त तप से उन के शरीर और इन्द्रियां अशुद्धि के क्षय से दृढ होके सदा रोगरहित रहती हैं तथा ॥ ३५ ॥ (स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साक्षात् होता है फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय अपने आत्मा की शुद्धि सत्याचरण पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है तथा—॥ ३६ ॥ (समाधि०) पूर्वोक्तप्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है तथा—॥ ३७ ॥

तत्र स्थिरसुखमासनम् ॥ ३८ ॥ अ० १ पा० २ सू० ४६ ॥ भा०—तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि ॥ ३८ ॥ पद्मासनादिकमासनं विदध्यात् यद्वा यादृशीच्छा तादृशमासनं कुर्यात् ॥ ३८ ॥ ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ अ० १ पा० २ सू० ४८ ॥ भा०—शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ३९ ॥ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४० ॥ अ० १ पा० २ सू० ४९ ॥ भा०—सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४० ॥ आसने सम्यक् सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्युक्त्या शनैः शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः ॥ ४० ॥ स तु बाह्याभ्यन्तरस्तंभवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ४१ ॥ अ० १ पा० २ सू० ५० ॥ भा०—यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः

यत्र श्वासपूर्वको गत्यभाव स आभ्यन्तर तृतीयस्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति यथा तप्तन्यस्तमुपले जल सर्वतः सङ्कोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति ॥ ५१ ॥ बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु बाह्यदेश गत प्राण तत्रैव यथाशक्ति सरुध्य प्रथमो बाह्याख्य प्राणायामः कर्त्तव्य तथोपासकैर्यो बाह्याद्देशादन्तः प्रविशति तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः क्रियते स आभ्यन्तरो द्वितीयः सेवनीयः । एवं बाह्याभ्यन्तराभ्यामनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्सरोधो यः क्रियते स स्तम्भ वृत्तिस्तृतीय प्राणायामोऽभ्यसनीयः ॥४०॥ बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥ अ० १ पा० २ सू० ५१ ॥ भा०—देशकालसख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः तथाभ्यन्तरविषय परिदृष्ट आक्षिप्तउभयथा दीर्घसूक्ष्मः तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामस्तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभाव सकृदारब्ध एव देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मश्चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थ प्राणायाम इत्ययं विशेष इति य प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थो गृह्यते । तद्यथा यदोदराद्बाह्यदेश प्रतिगन्तु प्रथमक्षणे प्रवर्त्तते त सलक्ष्य पुन बाह्यदेश प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्तव्याः पुनश्च यदा बाह्याद्देशादाभ्यन्तर प्रथममागच्छेत्समाभ्यन्तर एव पुनः पुनः यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत्स द्वितीयः ॥ एव द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभाव क्रियते स चतुर्थः प्राणायामः । यस्तु खलु तृतीयोस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षा करोति किन्तु यत्र २ देशे प्राणो वर्त्तते तत्र तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः । यथा किमप्यद्भुत दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्य्यमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ

(तत्र स्थिर०) अर्थात् जिस में सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो उस को आसन कहते हैं अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे ॥ ३८ ॥ (ततोद्वन्द्वा०) जब आसन दृढ़ होता है तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है और न सर्दी गर्मी अधिक बाधा करती है ॥ ३९ ॥ (तस्मिन्सति०) जो वायु बाहर से भीतर

को आता है उस को श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है उस को प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के जाने आने को विचार से रोके, नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उन के रोकने को प्राणायाम कहते हैं और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है ॥४०॥ स तु बाह्या०) अर्थात् एक बाह्य विषय दूसरा आभ्यान्तर विषय तीसरा स्तम्भवृत्ति और चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है ॥४१॥ अर्थात् जो कि (बाह्याभ्य०) इस सूत्र का विषय। वे चार प्राणायाम इस प्रकार से होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले तब उस को बाहर ही रोक दे इस को प्रथम प्राणायाम कहते हैं जब बाहर से श्वास भीतर को आवे तब उस को जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे इस को दूसरा प्राणायाम कहते है तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर लेजाय, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उस को जहां का तहां ज्यों का त्यों एक दम रोक दे और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ २ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उस को भीतर ही थोड़ा २ रोकता रहे इस को बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिस से चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे ॥ ४२ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥४२॥ अ० १ पा० २ सू० ५२ ॥ एव प्राणायामाभ्यासाद्यत्परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशे सत्यविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति तत्क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति ॥४२॥ किंच धारणासु च योग्यता मनसः ॥४३॥ अ० १ पा० २ सू० ५३ ॥ भा०—प्राणायामाभ्यासादेव प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात् ॥ ४३ ॥ प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्यता भवति ॥ ४३ ॥ अथ कः प्रत्याहारः ॥ स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ४४ ॥ अ० १ पा० २ सू० ५४ ॥ यदा चित्तं जितं भवति परमेश्वरस्मरणालम्बनाद्विषयान्तरे नैव गच्छति तदिन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति। कस्य केषामिव यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथैवेन्द्रियाण्यप्यर्थाच्चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम् ॥ ४४ ॥ ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ४५ ॥ अ० १ पा० २ सू० ५५ ॥ ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासंप्रयोगेऽर्थात्स्वस्वविषयान्निवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमावश्यता यथावद्विजयो जायते स उपासको यदा यदेश्वरोपासनं कर्तुं प्रवर्त्तते तदा तदैव चित्तस्येन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्तुं शक्नोतीति ॥४५॥ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा

४६ ॥ अ०१ पा ०३ सू०१ ॥ भा० नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति बन्धो धारणा ॥ ४६ ॥ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ४७ ॥ अ०१ पा०३ सू० २ ॥ तस्मिन्देशेऽध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेण परामृष्टो ध्यानम् ॥ ४७ ॥ तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ४८ ॥ अ० १ पा० ३ सू० ३ ॥ ध्यानसमाध्यारय भेदः ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति ॥ ४८ ॥ त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४९ ॥ अ० ५ पा० ३ सू० ४ ॥ भा०—तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि सयम इत्युच्यते तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा सयम इति ॥४९॥ सयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम् ॥

भाषार्थ

इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आवरण अर्थात् ढाकने वाला जो अज्ञान है वह नित्य प्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे २ बढता जाता है, उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि ॥ ४३ ॥ (किञ्च धारणा०) परेमश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और ज्ञान की योग्यता बढती जाती है तथा उस से व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढता रहता है इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना ॥ ४४ ॥ (स्वविषया०) प्रत्याहार उस का नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है ॥ ४५ ॥ (तत पर०) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय हो के जहा अपने मन को ठहरना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है असत्य में कभी नहीं ॥ ४६ ॥ (देशबं०) जब उपासना योग के पूर्वोक्त पाचों अग सिद्ध हो जाते हैं तब उसका छटा अग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है । (धारणा) उसको कहते हैं कि मन को चचलता से छुडा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर कर के ओंकार का जप और उस का अर्थ जो परमेश्वर है उस का विचार करना तथा—॥ ४७ ॥ (तत्र प्र०) धारणा के पिछे उसी देश में ध्यान

करने और आश्रय लेने के योग्य जो अंतर्यामी व्यापक परमेश्वर है उस के प्रकाश और आनन्द में अत्यंत विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना इसी का नाम ध्यान है इन सात अंगों का फल समाधि है ॥ ४८ ॥ (तदेवार्थ०) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं ॥ ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से जिस चीज का ध्यान करता है वे तीनों विद्यमान रहते हैं परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता जैसे मनुष्य जल में डुबकी मार के थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर बाहर को आजाता है ॥ ४९ ॥ (त्रयमेकत्र०) जिस देश में धारणा की जाय उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है उन में बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है परंतु जब समाधि होती है तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है ॥ ५० ॥

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि ॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ १ ॥ कठोपनि० वल्ली० २ मं० २४ ॥ तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ २ ॥ मुण्ड० १ ख०२ मं० ११॥ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ३ ॥ तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ४ ॥ स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि

यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥५॥ तं चेद् ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ६ ॥ स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ८ ॥ मं० १ । २ । ३ । ४ । ५ ॥ अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते ॥ सेयं तस्य परमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति ॥ एका सगुणा द्वितीया निर्गुणा चेति । तद्यथा– (सपर्य्यगाच्छुक्र०) इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्रशुद्धमिति सगुणोपासनम् । अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादिनिर्गुणोपासनं च । तथा एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥१॥

भाषार्थ

यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग हो कर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता तब तक कितना ही पढ़े वा सुने उस को परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ १ ॥ (तप श्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उस की आज्ञा में अत्यन्त प्रेम कर के अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्य आदि कर्म कर के सन्न्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुण वाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण ०) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके (विरजा) अर्थात् सब दोषों से छूट के परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं जहां कि पूर्ण पुरुष सब में भरपूर सब से सूक्ष्म (अमृत) अर्थात् अविनाशी और जिस में हानि लाभ कभी नहीं होता ऐसे परमेश्वर को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं, जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना कर के उस में प्रवेश किया चाहें उस समय इस रीति से करें कि– ॥ २ ॥ (अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर

का नगर कहते हैं उस के बीच में जो गर्त्त है उस में कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उस के बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस हो कर भर रहा है वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उस के मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ॥ ३ ॥ और कदाचित् कोई पूछे कि (त चेद् ब्रूयु०) अर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है जिस की खोजना की जाय तो उस का उत्तर यह है कि॥४॥ (स ब्रूयाद्या०) हृदयदेश में जितना आकाश है वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य्य आदि प्रकाश तथा पृथिवीलोक अग्नि वायु सूर्य्य चन्द्र बिजुली और सब नक्षत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखने वाले और नहीं दीखने वाले पदार्थ हैं वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं ॥ ५ ॥ (त चेद् ब्रूयु०) इस में कोई ऐसी शङ्का करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं उस हृदयदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उस के बीच में क्या बाकी रह जाता है कि जिस को तुम खोजने को कहते हो ? तो इसका उत्तर यह है ॥ ६ ॥ (स ब्रूयात्) सुनो भाई! उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है उस को न तो कभी वृद्धावस्था होती है, और न कभी नाश होता है, उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर है कि जिस में सब काम परिपूर्ण हो जाते हैं, वह (अपहतपाप्मा) अर्थात् सब पापों से रहित शुद्धस्वभाव (विजरः) जरा अवस्थारहित (विशोकः) शोकरहित (विजिघत्सोऽपि०) जो खाने पीने की इच्छा कभी नहीं करता (सत्यकाम) जिस के सब काम सत्य हैं (सत्यसङ्कल्पः) जिस के सब सङ्कल्प भी सत्य हैं उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती हैं और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस२ काम की जिस २ देश की जिस २ क्षेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं उन सब को वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ सो उपासना दो प्रकार की है एक सगुण और दूसरी निर्गुण उन में से (स पर्य्यगा०) इस मन्त्र के अर्थानुसार शुक्र अर्थात् जगत् का रचने वाला वीर्यवान् तथा शुद्ध कवि मनीषी परिभू और स्वयम्भू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है और अकाय अव्रण अस्नावि० इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह निर्गुण कहाता है तथा ॥

एको देव इत्यादिसगुणोपासनम्, निर्गुणश्चेति वचनान्निर्गुणोपासनम् तथा सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्त्तमानः सगुणः अविद्यादिक्लेशपरिमाणद्वित्वादिसंख्याशब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः। तद्यथा—परमेश्वरः

सर्वव्यापी सर्वाध्यक्षः सर्वस्वामी चेत्यादिगुणैः सह वर्त्तमानत्वात् परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम्, तथा सोऽज्जोऽर्थाज्जन्मरहित (अव्रणः) छेदरहितः । निराकारः । आकाररहितः । अकायः । शरीरसम्बन्धरहितः । तथैव रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणादयो गुणास्तस्मिन्न सन्तीदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम् । अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति तस्मात्सज्जनैर्यथैव रीतिः सदा त्याज्येति शिवम् ॥

भाषार्थ

(एको देव॰) एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण और (निर्गुणश्च॰) इस के कह ने से निर्गुण समझा जाता है तथा ईश्वर के सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् शुद्ध सनातन न्यायकारी दयालु सब में व्यापक, सब का आधार मंगलमय, सब की उत्पत्ति करने वाला और सब का स्वामी इत्यादि सत्यगुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को सगुणोपासना कहते हैं और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात आकारवाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अव्रण अर्थात् जिस में छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द स्पर्श रूप रस और गन्धवाला कभी नहीं होता, जिस में दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लंबा चौड़ा और हलका भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उस का स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं। इस से क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण और देहत्याग करने से निर्गुण उपासना कहते है, सो यह उन की कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिये किन्तु सब को पूर्वोक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये ॥

इति संक्षेपतो ब्रह्मोपासनाविधानम् ॥

अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः

एवं परमेश्वरोपासनेनाविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिं प्राप्नोतीति ॥ अथात्र योगशास्त्रस्य प्रमाणानि तद्यथा। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥१॥ अविद्या-

क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २ ॥ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ३ ॥ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ४ ॥ सुखानुशयी रागः ॥ ५ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ६ ॥ स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ७ ॥ अ० १ पा० २ सू० ३--९ ॥ तदभावात्संयोगाभावो हानन्तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ अ० १ पा० २ सू० २५ ॥ तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ९ ॥ अ० १ पा० ३ सू० ४८ ॥ सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ १ ॥ अ० १ पा० ३ सू० ५३ ॥ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ ११ ॥ अ० १ पा० ४ सू० २६ ॥ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति । १२ ॥ अ० १ पा० ४ सू० ३४ ॥ अथ न्यायशास्त्रप्रमाणानि ॥ दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥१॥ बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २ ॥ तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ ३ ॥ न्यायद० अ०१ आह्निक १ सू० २ । २१ । २२ ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्म्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं। पूर्व लिखी हुई चित्त की पांच वृत्तियों को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत्त रहने से नीचे लिखे हुए पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वे क्लेश ये हैं (अविद्या०) एक (अविद्या) दूसरा (अस्मिता) तीसरा (राग) चौथा (द्वेष) और पांचवां (अभिनिवेश) ॥ १ ॥ (अविद्याक्षेत्र०) उन में से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है जो कि मूढ जीवों को अन्धकार में फंसा के जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा डुबाती है; परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से अविद्या (विच्छिन्न) अर्थात् छिन्नभिन्न होके (प्रसुप्ततनु) नष्ट हो जाती है तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २ ॥ अविद्या के लक्षण ये हैं (अनित्या०) (अनित्य) अर्थात् कार्य्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोक लोकान्तर में नित्यबुद्धि) तथा जो (नित्य) अर्थात् ईश्वर जीव जगत् का कारण क्रिया क्रियावान् गुण गुणी और धर्म धर्मी हैं इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है इन में अनित्यबुद्धि का होना यह

अविद्या का प्रथम भाग है तथा (अशुचि) मल मूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना तथा तलाव, बावरी, कुंड, कुआ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उन का चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना, स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्सङ्ग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सब से प्रेमभाव से वर्त्तना आदि शुद्धव्यवहार और पदार्थों में अपवित्रबुद्धि करना यह अविद्या का दूसरा भाग है तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुःख रूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, संतोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःख बुद्धि का करना यह अविद्या का तीसरा भाग है, इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड में चेतनभाव और चेतन में जडभावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य अशुचि दुःख और अनात्मा में अनित्य अपवित्रता दुःख और अनात्मबुद्धि का होना तथा नित्य शुचि सुख और आत्मा में नित्य पवित्रता सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ (अस्मिता०) दूसरा क्लेश (अस्मिता) कहाता है अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना अभिमान और अहङ्कार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानना, जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इस की निवृत्ति हो जाती है तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है ॥ ४ ॥ तीसरा (सुखानु०) राग अर्थात् जो २ सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है इसका नाम राग है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग वियोग संयोगवियोगान्त हैं अर्थात् वियोग के अंत में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है तब इस की निवृत्ति हो जाती है ॥ ५ ॥ (दुःखानु०) चौथा द्वेष कहाता है। अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो उस पर और उस के साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना इसकी निवृत्ति भी रागकी निवृत्ति से ही होती है ॥ ६ ॥ (स्वरसवा०) पांचवां (अभिनिवेश) क्लेश है जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव श

रीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है और इस से पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है क्योंकि छोटे २ कृमि, चीटी आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर बना रहता है इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्र जन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्य्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जान लेगा । इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥ (तदभावात्०) अर्थात् जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥ (तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है उस के नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे क्योंकि उस के नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ तथा (सत्वपुरुष) अर्थात् सत्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है अन्यथा नहीं ॥ १० ॥ (तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है तब कैवल्य मोक्ष धर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फसता जाता है तब तक उस को मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है॥ ११ ॥ कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि (पुरुषार्थ) अर्थात् कारण के सत्व रज और तमोगुण और उन के सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् हो के स्वरूपप्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्व है वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त हो के शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है उसी को कैवल्य मोक्ष कहते हैं ॥ १२ ॥ अब मुक्तिविषय में गोतमाचार्य्य के कहे हुए न्यायशास्त्र के प्रमाण लिखते हैं (दुःखजन्म०) जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं उसके पीछे (प्रवृत्ति०) अर्थात् अधर्म अन्याय विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाता है उस के नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता उस के न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है । दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रहजाता है इसी का नाम मोक्ष है ॥ १ ॥ (बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है ॥ २ ॥ (तदत्यन्त०) फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानन्द प्राप्त होता है उसी सुख का नाम मोक्ष है ॥ ३ ॥

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १ ॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ २ ॥ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ ३ ॥ अ० ४ पा० ४ सू० १० । ११ । १२॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥ बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १ ॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ॥ अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥२॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ॥ अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ ३ ॥ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ॥ अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ ४ ॥ कठो० वल्ली० ६ मं० १० । ११ । १४ । १५ । दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥ य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाᳬ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाᳬश्च लोकानाप्नोति सर्वाᳬश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य जानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥ यदन्तरापस्तद्ब्रह्म तदमृतᳬ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि सहाहं यशसां यशः ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ८ ॥ अणुः पन्था विततः पुराणो माᳬस्पृष्टो वित्तो मयैव ॥ तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः ॥ ८ ॥ तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ॥ एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च ॥ ९ ॥ प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः ॥ ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ॥ १० ॥ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ॥ ११ ॥ विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः ॥ तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥ १२ ॥ श० कां० १४ अ० ७ ॥

भाषार्थ

अब व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और लक्षण लिखा है सो आगे लिखते हैं (अभाव०) व्यास जी के पिता जो बादरि आचार्य्य थे उनका मुक्तिविषय में ऐसा मत है कि जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है तब

रीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है और इस से पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है क्योंकि छोटे २ कृमि, चींटी आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर बना रहता है इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्य्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जानलेगा। इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥ (तदभावात्०) अर्थात् जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥ (तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है उस के नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे क्योंकि उस के नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ तथा (सत्वपुरुष) अर्थात् सत्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है अन्यथा नहीं ॥ १० ॥ (तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है तब कैवल्य मोक्ष धर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फसता जाता है तब तक उस को मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है ॥ ११ ॥ कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि (पुरुषार्थ) अर्थात् कारण के सत्व रज और तमोगुण और उन के सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् हो के स्वरूपप्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्व है वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त हो के शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है उसी को कैवल्य मोक्ष कहते हैं ॥ १२ ॥ अब मुक्तिविषय में गोतमाचार्य्य के कहे हुए न्यायशास्त्र के प्रमाण लिखते हैं (दुःखजन्म०) जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट होजाते हैं उसके पीछे (प्रवृत्ति०) अर्थात् अधर्म अन्याय विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाती है उस के नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता उस के न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रहजाता है इसी का नाम मोक्ष है ॥ १ ॥ (बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है ॥ २ ॥ (तदत्यन्त०) फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानन्द प्राप्त होता है उसी सुख का नाम मोक्ष है ॥ ३ ॥

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १ ॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ २ ॥ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोतः ॥ ३ ॥ अ० ४ पा० ४ सू० १० । ११ । १२॥ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥ बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १ ॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ॥ अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥२॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ॥ अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ ३ ॥ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ॥ अथ मर्त्योमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ ४ ॥ कठो० वल्ली० ६ मं० १० । ११ । १४ । १५ । दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥ य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाᳬ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाᳬश्च लोकानाप्नोति सर्वाᳬश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य जानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥ यदन्तरापस्तद्ब्रह्म तदमृतᳬ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि सहाहं यशसां यशः ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ८ ॥ अणुः पन्था विततः पुराणो माᳬस्पृष्टो वित्तो मयैव ॥ तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः ॥ ८ ॥ तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ॥ एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च ॥ ९ ॥ प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः ॥ ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ॥ १० ॥ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ॥ ११ ॥ विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः ॥ तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥ १२ ॥ श० का० १४ अ० ७ ॥

भाषार्थ

अब व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और लक्षण लिखा है सो आगे लिखते हैं (अभाव०) व्यास जी के पिता जो बादरि आचार्य्य थे उनका मुक्तिविषय में ऐसा मत है कि जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है तब,

वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव हो जाता है ॥ १ ॥ तथा (भाव जैमिनि०) इसी विषय में व्यास जी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे उनका ऐसा मत है कि जैसे मोक्ष में मन रहता है वैसे ही शुद्धसकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्धशक्ति भी बराबर बनी रहती है क्योंकि उपनिषद् में (स एकधा भवति द्विधा भवति त्रिधा भवति) इत्यादि वचनों का प्रमाण है कि मुक्त जीव सङ्कल्पमात्र से ही दिव्य शरीर रच लेता है और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड भी देता है और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है ॥२॥ (द्वादशाह०) इस मुक्तिविषय में वादरायण जो व्यासजी थे उन का ऐसा मत है कि मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं अर्थात् क्लेश अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है और परमानन्द ज्ञान शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है । इस में दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है उस में थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से क्षुधा का कुछ भाव भी बना रहता है इसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्तशास्त्र में किया है ॥ ३ ॥ अब मुक्तिविषय में उपनिषद्कारों का जो मत है सो भी आगे लिखते हैं कि (यदा पञ्चाव०) अर्थात् जब मन के सहित पाच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर हो के उसी में सदा रमण करती हैं और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥ १ ॥ (ता योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते है जब मनुष्य उपासनायोग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ। वह उपासनायोग कैसा है कि प्रभव अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करनेवाला तथा (अप्यय) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करने वाला है इसलिये केवल उपासना योग ही मुक्तिका साधन है ॥ २ ॥ (यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग हो के शुद्ध हो जाता है तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है (प्र०) क्या वह मोक्षपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थविशेष है? क्या वह किसी एक ही जगह में है वा सब जगह में? (उत्तर) नहीं ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है वही मोक्षपद कहाता है और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ तथा (यदा सर्वे०) जब जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गाठें छिन्न भिन्न हो के टूट जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त

होता है ॥ ४ ॥ (प्र०) जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियां नहीं रहतीं तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता ? (उत्तर) (दैवेन०) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्ध मन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोगता हुआ उस में सदा रमण करता है क्योंकि उस का मन और इन्द्रियां प्रकाशरूप होजाती है ॥ ५ ॥ (प्र०) वह मुक्तजीव सब सृष्टि में घूमता है अथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है ? (उ०) (य एते ब्रह्मलोके०) जो मुक्त पुरुष होते हैं वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके और सब के आत्मरूप परमेश्वर की उपासना करते हुए उसी के आश्रय से रहते है; इसी कारण से उन का जाना आना सब लोकलोकान्तरों में होता है, उन के लिये कहीं रुकावट नहीं रहती और उन के सब काम पूर्ण होजाते हैं, कोई काम अपूर्ण नहीं रहता इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सब का आत्मा जान के उस की उपासना करता है वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होताहै, यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है ॥ ६ ॥ पूर्व प्रसग का अभिप्राय यह है कि मोक्ष की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये (यदन्तरा०) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है उसी को ब्रह्म कहते हैं और वही अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है और जैसे वह सब का अन्तर्यामी है वैसे उस का अन्तर्यामी कोई भी नहीं किन्तु वह अपना अन्तर्यामी आपही है। ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर के व्याप्तिरूप सभास्थान को मैं प्राप्त होऊ और इस ससार में जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण है उनके बीच में (यश) अर्थात् कीर्त्ति को प्राप्त होऊ तथा (राज्ञाम्) क्षत्रियों (विशाम्) अर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच में यशस्वी होऊ। हे परमेश्वर! मैं कीर्त्तियों का भी कीर्त्तिरूप होके आप को प्राप्त हुआ चाहता हू आप भी कृपा कर के मुझ को सदा अपने समीप रखिये ॥ ७ ॥ अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं (अणु पन्था०) मुक्ति का जो मार्ग है सो अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है (विततः) उस मार्ग से सब दु खों के पार सुगमता से पहुच जाते हैं जैसे दृढ नौका से समुद्र को तर जाते हैं तथा (पुराण.) जो मुक्ति का मार्ग है वह प्राचीन है दूसरा कोई नहीं मुझ को (स्पृष्टः) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए (धीरा) अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित् वेदविद्या और परमेश्वर के जाननेवाले जीव (उत्क्रम्य) अर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उल्लङ्घन करके (स्वर्गलोक०) सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते है ॥८॥ (तस्मिञ्छुक०) अर्थात् उसी मोक्षपद में (शुक्ल) श्वेत (नील) शुद्ध घनश्याम (पिङ्गल) पीला श्वेत (हरित) हरा और (लोहित)

लाल ये सब गुणवाले लोक लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं, यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है उसी मार्ग से ब्रह्म का जानने वाला तथा (तैजस) शुद्ध स्वरूप और पुण्य का करने वाला मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त होता है अन्य प्रकार से नहीं ॥ ९ ॥ (प्राणस्य प्राण०) जो परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है उस को जो विद्वान् निश्चय करके जानते हैं वे पुरातन और सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं (नेह ना०) जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है ॥ १० ॥ (मृत्यो स मृत्यु०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस, जानता है वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है वह वारवार मृत्यु अर्थात् जन्ममरण को प्राप्त होता है क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्रस्वरूप ही है तथा प्रमादरहित और व्यापक हो के सब में स्थिर है उस को मन से ही देखना होता है क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है ॥ ११ ॥ (विरज पर आ०) जो परमात्मा विक्षेपरहित आकाश से परम सूक्ष्म (अज) अर्थात् जन्मरहित और महाध्रुव अर्थात् निश्चल है ज्ञानी लोग उसी को जान के अपनी बुद्धि को विशाल करें और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है ॥ १२ ॥

स होवाच । एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कश्चन न तदश्नोति कश्चन ॥ १३ ॥ श० का० १४ अ० ६ क० ८ ॥ इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्त्या जीवस्सदासुखी भवतीति बोध्यम् ॥

अथ वैदिकप्रमाणम्

ये य॒ज्ञेन॒ दक्षि॑णया॒ सम॑क्ता॒ इन्द्र॑स्य स॒ख्यम॑मृत॒त्वमा॑न॒श । तेभ्यो॑ भ॒द्रम॑ङ्गिरसो वो अस्तु॒ प्रति॑ गृभ्णीत मान॒वं सु॑मेधसः ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ अ० २ व० १ । म० १ ॥ स नो॒ बन्धु॑र्जनि॒ता स वि॑धा॒ता धामा॑नि वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑ । यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त ॥ २ ॥ यजु० अ० ३२ म० १० ॥

अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्यैरयन्तेत्यन्तेन मोक्षस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदितव्यम् । एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकाश्यते ॥

भाषार्थ

(स होवाच ए०) याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गि ! जो परब्रह्म नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, सग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आकार, विकाश, संकोच, पूर्व, अपर, भीतर, बाह्य अर्थात् बाहर, इन सब दोष और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है । वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता और न कोई उस को मूर्त्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है क्योंकि वह सब में परिपूर्ण सब से अलग अद्भुत स्वरूप परमेश्वर है उस को प्राप्त होने वाला कोई नहीं हो सकता। जैसे मूर्त्त द्रव्य को चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् करसकता है क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है तथा (ये यज्ञेन) अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्ष सुख में प्रसन्न रहते हैं (इन्द्रस्य) जो परमेश्वर की सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं (आङ्गिरसः) अर्थात् उन के जो प्राण हैं वे (सुमेधसः) उन की बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं और उस मोक्षप्राप्त मनुष्य को पूर्व मुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं (स नो बन्धु०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करने वाला (जनिता) सब सुखों का उत्पन्न और पालन करने वाला है तथा वही सब कामों का पूर्णकर्त्ता और सब लोकों को जानने वाला है कि जिस में देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं ॥ २ ॥ इस प्रकार संक्षेप से मुक्तिविषय कुछ तो वर्णन करादिया और कुछ आगे भी कहीं २ करेंगे सो जानलेना। जैसे (वेदाहमेतं) इस मन्त्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है ॥

इति मुक्तिविषयः संक्षेपतः ॥

अथ नौविमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः । तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥ १ ॥ तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः । समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः ॥ २ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ८ व० ८ मं० ३ । ४ ॥

भाष्यम्

एषामभिप्रायः। तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु शिल्पविद्या विधीयत इति (तुग्रो ह०) तुजिहिंसाबलादाननिकेतनेषु । अस्माद्धातोरौणादिके रक्प्रत्यये कृते तुग्र इति पदं जायते । यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत् स (रयिं) धनं कामयमानो (भुज्युं) पालनभोगमय धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात् । स च (अश्विना०) पृथिवीमयैः काष्ठलोष्टादिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वाऽग्निजलादिप्रयोगेण (उदमेघे) समुद्रे गमयेदागमयेच्च तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत् । एवं कुर्वन् न कश्चित् ममृवान् योगक्षेमविरहः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति कुतः तस्य कृतपुरुषार्थत्वात् अतो नावं (अवाहाः) अर्थात् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहना वहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्य्यात् । कौ साधयित्वा (अश्विना) द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवीमयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया । अश्विनौ युवां तौ साधितौ द्वौ नावादिकं यानं (ऊहथुः) देशान्तरगमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः । पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः । कथंभूतैर्यानैः (नौभिः) समुद्रे गमनागमनहेतुरूपाभिः । (आत्मन्वतीभिः) स्वयं स्थिताभिः (स्वात्मीयस्थिताभिर्वा । राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्यैर्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमनागमने नित्यं कार्य्ये इति शेषः । तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि । एवमेव (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्षं प्रति यन्त्रभिर्विमानाख्यैर्यानैः साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः परमैश्वर्यं सम्यक् प्रापणीयम् ॥

पुनः कथम्भूताभिर्नौभिः (अपोदकाभिः) अपगतं दूरीकृतं जललेपो यासां ता अपोदका नावः। अर्थात् सच्छिद्रकनास्ताभिः। उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्य्यात्तथैव भूयानैर्भूमौ जलयानैर्जले अन्तरिक्षयानैश्चान्तरिक्षे चेति त्रिविधं यानं रचयित्वा जलभूम्याकाशगमनं यथावत्कुर्य्यादिति ॥१॥ अत्र प्रमाणम्। अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमगामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभस्तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येकेसूर्य्याचन्द्रमसावित्येके ॥ निरु० अ० १२ ख० १ ॥ तथाश्विनौ चापि भर्त्तारौ जर्भरीभर्त्तारावित्यर्थस्तुर्फरीतू हन्तारौ ॥ उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे ॥ निरु० अ० ३ ख० ५ ॥ एतैः प्रमाणैरेतत्सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं यानं रचनीयमिति ॥ १ ॥ (तिस्रः क्षपस्त्रिरहा०) कथम्भूतैर्नावादिभिः तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः। (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा (धन्वनः) स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे (अतिव्रजद्भिः) अत्यन्तवेगवद्भिः पुनः कथम्भूतैः (पतङ्गैः) प्रतिपातं वेगेन गन्तृभिः। तथा (त्रिभीरथैः) त्रिभी रमणीयसाधनैः (शतपद्भिः) शतेनासंख्यातेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत्तादृशैरत्यन्तवेगवद्भिः (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि तैः षडश्वैर्यानैस्त्रिषु मार्गेषु सुखेन गन्तव्यमिति शेषः। तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह ॥ (नासत्या) पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्याम्। अतएवोक्तं नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ तानि यानानि (ऊहथुः) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः। प्रत्यक्षविषयवाचकत्वात् अत्र प्रमाणम्। व्यत्ययो बहुलम्। अष्टाध्याय्याम्। अ० ३ पा० १ अत्राह महाभाष्यकारः ॥ सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेनेति महाभाष्यप्रामाण्यात् ॥ तावेव नासत्यावश्विनौ सम्यग् यानानि वहतं इत्यत्र सामान्यकाले लिङ्विधानात्। ऊहथुरित्युक्तम्। तावेव तेषां यानानां मुख्ये साधने स्तः ॥ एवं कुर्वन्तो भुज्युमुत्तमसुखभोगं प्राप्नुयुर्नान्यथेति ॥ २ ॥

भाषार्थ

अब मुक्ति के आगे समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में शीघ्र चलने के लिये यानविद्या लिखते हैं जैसी कि वेदों में लिखी है (तुग्रो ह०) तुजि धातु से रक् प्रत्यय करने से

तुम शब्द सिद्ध होता है उस का अर्थ हिंसक, बलवान्, ग्रहण करने वालों और स्थान वाला है क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य अर्थ में वर्त्तमान है जो शत्रु को हनन करके अपने विजय बल और धनादि पदार्थ और जिस २ स्थान में सवारियों से अत्यन्त सुख का ग्रहण किया चाहे उन सबों का नाम तुग्र है (रयिं) जो मनुष्य उत्तमविद्या सुवर्ण आदि पदार्थों की कामनावाला है उस को जिन से पालन और भोग होता है उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति भोग और विजय की इच्छा को आगे लिखे हुए प्रकारों से पूर्ण करे (अश्विना) जो कोई सोना, चांदी, तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रच के उन में अग्नि वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर और पदार्थों को भर के व्यापार के लिये (उदमेघे) समुद्र और नदी आदि में (अवाहाः) आवे जावे तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है वह (न कश्चिन्ममृवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता। वे नौका आदि किन को सिद्ध करने से होते हैं अर्थात् जो अग्नि वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से सिद्ध हैं वेही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् कर देते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किये हुए नाव विमान और रथ अर्थात् भूमि में चलने वाली सवारियों का (ऊहथु) जाना आना जिन पदार्थों से देश देशान्तर में सुख से होता है [यहां पुरुषव्यत्यय से (ऊहतुः) इस के स्थान में (ऊहथु.) ऐसा प्रयोग किया गया है] उन से किस २ प्रकार की सवारी सिद्ध होती है सो लिखते हैं (नौभिः) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम नौका होती है (आत्मन्वतीभिः) जिन से उन के मालिक अथवा नौकर चला के जाते आते रहें, व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सवारियों से समुद्र में जावें आवें तथा (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अर्थात् जिन से आकाश में जाने आने की क्रिया सिद्ध होती है, जिन का नाम विमान शब्द करके प्रसिद्ध है तथा (अपोदकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहियें जो जलसे न गलें और न जलदी टूटें फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहिले कह आये और जो आगे कहेंगे उसी के अनुसार बराबर उन को सिद्ध करें। इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है सो देख लेना। उस का अर्थ यह है—(अथातोद्युस्थाना दे०) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जयरूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं। तथा जल और

अग्नि का नाम भी अश्वि है क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और रस से युक्त हो के व्याप्त हो रहा है। (अश्वे) अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त हैं। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो वे वायु अग्नि और जल से उन को सिद्ध करें यह और्णवाभ आचार्य्य का मत है। तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है। पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि (अहोरात्रौ) अर्थात् दिन रात्रि का नाम अश्वि है क्योंकि इन से भी सब पदार्थों के सयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं अर्थात् जैसे शरीर और ओषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते है इसी प्रकार कई एक शिल्पविद्या जानने वाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि (सूर्य्याचन्द्रमसौ) सूर्य्य और चन्द्रमा को अश्वि कहते हैं क्योंकि सूर्य्य और चन्द्रमा के आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में सयोग वियोग वृद्धि क्षय आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं। तथा (जर्भरी) और (तुर्फरीतू) ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम है (जर्भरी) अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करने वाले और (तुर्फरीतू) अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु अग्नि जल और पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होता है। जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। (उदन्यजे) अर्थात् वायु अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है ॥ १ ॥ (तिस्रः क्षपस्त्रि०)। नासत्या०। जो पूर्वोक्त अश्वि कह आये हैं वे (ऋभुज्युमूहथु) अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त करते हैं क्योंकि जिन के वेग से तीन दिन रात में (समुद्र) सागर (धन्वन्०) आकाश और भूमि के पार नौका विमान और रथ करके (व्रजाद्भिः ०) सुखपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं (त्रिभीरथैः) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना चाहिये तथा (षडश्वै) छः अश्व अर्थात् उन में अग्नि और जल के छः घर बनाने चाहियें जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सके तथा (पतङ्गैः) जिन से तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है ॥ २ ॥

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे। यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥ ३ ॥ यमश्विना

दुदथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति । तद्वां दात्रं महि कीर्त्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः ॥ ४ ॥ ऋ० अ० १ अ० ८ व० ६ । म० ५ । १ ॥

भाष्यम्

हे मनुष्याः पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः (अनारम्भणे) आलम्बरहिते (अनास्थाने) स्थातुमशक्ये (अग्रभणे) हस्तालम्बनाविद्यमाने (समुद्रे) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णे । अन्तरिक्षे वा कार्य्यसिद्ध्यर्थं युष्माभिर्गन्तव्यमिति । अश्विना तुहग्रुभुज्युमिति पूर्ववद्विज्ञेयम् । तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां (अस्तं) क्षिप्तं चालितं सम्यक् कार्य्यं साधयतीति ॥ कथम्भूतां नावं समुद्रे चालयेत् (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्रां एवमेव शतारित्र भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयं तथा तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीयमिति । तद्यानैः कथम्भूतं भुज्युभोगं प्राप्नुवन्ति ॥ (तस्थिवांस) स्थितिमन्तमित्यर्थः ॥३॥ यद्यस्मादेवभोगो जायते तस्मादेवं सर्वमनुष्यैः प्रयत्नः कर्त्तव्यः (यमश्विना०) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्लवर्णं वाष्पाख्यमश्वं (अघाश्वाय) शीघ्रगमनाय शिल्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति । (शश्वत्) तानि शश्वन्निरन्तरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि भवन्ति । तद्यानसिद्ध (अश्विना ददथुः) दत्तस्ताभ्यामेवाय गुणो मनुष्यैर्ग्राह्य इति(वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः । तयोरश्विनोर्मध्ये यत्सामर्थ्यं वर्त्तते तत् कीदृश (दात्रं) दानयोग्य सुखकारकत्वात् पोषक च (महि०) महागुणयुक्तम् (कीर्त्तन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम् । कृत्यार्थे तवैकेन केन्य त्वन इति केन्यप्रत्यय. । अन्येभ्यस्तच्छ्रेष्ठोपकारम् (भूत्) अभूत् भवतीति अत्र लडर्थे लुङ् विहित इति वेद्यम् । स चाग्न्याख्यो वाजी वेगवान् (पैद्वः०) यो यान मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति पैद्वपसङ्गावश्वनाम्नी । निघं० अ० १ खं० १४ । (सदमित्) यः सदं वेग इव एति प्राप्नोतीतीदृशोऽश्वोऽग्निरस्माभिः (हव्यः)

ग्राह्योस्ति । (अर्य॰) समश्वमर्य्यो वैश्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात् ॥ अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः ।इति पाणिनिसूत्रात्। अर्य्यो वैश्यस्वामिवाचीति ॥४॥

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्वइद्विदुः । त्रयः स्कम्भासःस्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा ॥ ५ ॥ ऋ॰ अष्ट॰ १ अ॰ ३ वर्ग ४ म॰ १ ॥

भाष्यम्

(मधुवाहने) मधुरगतिमति रथे (त्रयः पवयः) वज्रतुल्याश्चक्रसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता दृढाः शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्य्याः । तथैव शिल्पिभिः (त्रयः स्कम्भासः) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्या (स्कभितासः॰) किमर्थाः सर्वकलानां स्थापनार्था (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांस (सोमस्य) सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेना) कमनीया कामनासिद्धिं विदुर्जानन्त्येव ॥ अर्थात् (अश्विना) अश्विभ्यामेवैतद्यानसारब्धुमिच्छेयु । कुतः तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धि (याथः) प्रापयत इति । तत्कीदृशमित्यत्राह (त्रिर्नक्तम्) (त्रिर्दिवा) तिसृभीरात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि मार्गं गमयतीति बोध्यम्॥५॥

भाषार्थ

(अनारम्भणे॰) हे मनुष्य लोगो ! तुम पूर्वोक्त प्रकार से अनारम्भण अर्थात् आलंबरहित समुद्र में अपने कार्य्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को रचलो (तद्वीरयेथाम्) वे यान पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने आने के लिये सिद्ध होते हैं (अनास्थाने) अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में विना आलंब से कोई भी नहीं ठहर सकता (अग्रभणे) जिस में हाथ से पकड़ने का आलंब कोई भी नहीं मिल सकता (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यक्ष है तथा अन्तरिक्ष का भी नाम समुद्र है क्योंकि वह भी वर्षा के जल से पूर्ण रहता है उन में किसी प्रकार का आलंबन सिवाय नौका और विमान से नहीं मिल सकता। इस से इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें (यदश्विना ऊहथुर्भु॰) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है वह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है क्योंकि (अस्त) जो उन से चलाया है वह पूर्वोक्त समुद्र भूमि और अन्तरिक्ष में सब कार्य्यों को सिद्ध करता है (शतारित्राम्) उन नौकादि सवारियों में सैंकड़ह अरित्र अर्थात् जल की थाह लेने उन के थामने और वायु आदि विघ्न से रक्षा के लिये लोह आदि के लंगर भी रखना चाहिये जिन से जहां चाहे वहां उन यानों को थामे इसी

प्रकार उन में सैकडह कलबन्धन और थांमने के साधन रचने चाहियें। इस प्रकार के यानों से (तस्थिवासम्) स्थिरभोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ (यमश्विना) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल है उन के सयोग से (श्वेतमश्वं) भाफरूप अश्व अत्यन्त वेग देने वाला होता है जिस से कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त करदेते हैं जिस वेग की हानि नहीं हो सकती उस को जितना बढाया चाहे उतना बढ सकता है (शश्वदित्स्वस्ति०) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वास्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है (ददथु) जो कि वायु अग्नि और जल आदि से वेग गुण उत्पन्न होता है उस को मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्विसयुक्त पदार्थों ही में है (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य (महि) अर्थात् बडे २ शुभ गुणों से युक्त (कीर्त्तेन्यम्) अत्यन्त प्रशसा करने के योग्य और सब मनुष्यों को उपकार करने वाला (भूत) है क्योंकि वही (पैद्व) अश्व मार्ग में शीघ्र चलाने वाला है। (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है (हव्य) वह ग्रहण और दान देने योग्य है (अर्य्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इस को अवश्य ग्रहण करे क्योंकि इन यानों के विना द्वीपान्तर में जाना आना कठिन है ॥ ४ ॥ यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रय पवयो मधु०) जिस में तीन पहिये हों जिन से वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय और मधुर वेगवाला हो उस के सब अग वज्र के समान दृढ हों जिन में कला यन्त्र भी दृढ हों जिन से शीघ्र गमन होवे (त्रय स्कम्भास) उन में तीन २ थंभे ऐसे बनाने चाहियें कि जिन के आधार सब कलायन्त्र लगे रहें तथा (स्कभितास) वे थंभे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें (आरा) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं। (विश्वे) सब शिल्पिविद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें (सोमस्य वेनाम्) जिन से सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है (रथे) जिस रथ में सब क्रीडासुखों की प्राप्ति होती है (आरभे) उस के आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं (त्रिर्नक्त याथस्त्रिवश्विना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप द्वीपान्तर में जा सकते हैं ॥

त्रिर्नो अश्विना यजता दिवेदिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम् । तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम् ॥ ६ ॥ ऋ० अष्ट० १ अ० ३ व० ५ मं० ७ ॥ अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः । धिया युयुज्र इन्दवः ॥ ७ ॥ ऋ० अष्ट० १ अ० ३ व० ३४ मं० ८ ॥ वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा । मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥ ८ ॥ ऋ० अ० १ अ० ६ व० ६ मं० ४ ॥

भाष्यम्

यत्पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं तत् पुनः कीदृशं कर्त्तव्यमित्यत्राह । (परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम् । इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह । (आत्मेव वातः०) आगमनागमने यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपतः ॥ ६ ॥ तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह ।(अरित्रं)स्तम्भनार्थसाधनयुक्तं (पृथु) अतिविस्तीर्णम् । ईदृशं स रथः अग्न्यश्वप्रयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासमुद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तव्येऽलंवेगवान् भवतीति बोध्यम् (धिया यु०) तत्र त्रिविधे रथे (इन्दवः) जलानि वाष्पवेगार्थं (युयुज्रे) यथावद्युक्तानि कार्य्याणि । येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति (इन्दवः) इति जलनामसु निघण्टौ खण्डे १२ पठितम् [उन्देरिच्चादेः] उणादौ प्रथमे पादे सूत्रम् ॥ ७ ॥ हे मनुष्याः (मनोजवः) मनोवद्गतयो वायवो यन्त्रकलाचालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत । कथम्भूता अग्निवाय्वादयः । (आवृष व्रातासः) जलसेचनयुक्ताः येषां संयोगे वाष्पजन्यावेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्तीत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

प्रकार उन में सैकड़ह कलबन्धन और थाभने के साधन रचने चाहियें। इस प्रकार के यानों से (तास्थिवासम्) स्थिरभोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ (यमाश्विना) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल है उन के संयोग से (श्वेतमश्वं) भाफरूप अश्व अत्यन्त वेग देने वाला होता है जिस से कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त करदेते हैं जिस वेग की हानि नहीं हो सकती उस को जितना बढ़ाया चाहे उतना बढ सकता है (शश्वदित्स्वस्ति०) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वस्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है (ददथु) जो कि वायु अग्नि और जल आदि से वेग गुण उत्पन्न होता है उस को मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्विसयुक्त पदार्थों ही में है (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य (महि) अर्थात् बडे २ शुभ गुणों से युक्त (कीर्त्तेन्यम्) अत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों को उपकार करने वाला (भूत) है क्योंकि वही (पैद्वः) अश्व मार्ग में शीघ्र चलाने वाला है। (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है (हव्य) वह ग्रहण और दान देने योग्य है (अर्य्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इस को अवश्य ग्रहण करे क्योंकि इन यानों के विना द्वीपान्तर में जाना आना कठिन है ॥ ४ ॥ यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रय पवयो मधु०) जिस में तीन पहिये हों जिन से वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय और मधुर वेगवाला हो उस के सब अंग वज्र के समान दृढ हों जिन में कला यन्त्र भी दृढ़ हो जिन से शीघ्र गमन होवे (त्रय स्कम्भास) उन में तीन २ थंभे ऐसे बनाने चाहियें कि जिन के आधार सब कलायन्त्र लगे रहें तथा (स्कभितास) वे थंभे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें (आरा) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं। (विश्वे) सब शिल्पिविद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें (सोमस्य वेनाम्) जिन से सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है (रथे) जिस रथ में सब क्रीडासुखों की प्राप्ति होती है (आरभे) उस के आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं (त्रिर्नक्त याथस्त्रिवश्विना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप द्वीपान्तर में जा सकते हैं ॥

त्रिर्नो अश्विना यजता दिवेदिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम्। तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम् ॥ ६ ॥ ऋ० अष्ट० १ अ० ३ व० ५ म० ७ ॥ अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः ॥ ७ ॥ ऋ० अष्ट० १ अ० ३ व० ३४ म० ८ ॥ वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा। मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥ ८ ॥ ऋ० अ० १ अ० ६ व० ६ म० ४ ॥

भाष्यम्

यत्पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं तत् पुनः कीदृशं कर्त्तव्यमित्यत्राह। (परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम्। इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह। (आत्मेव वातः०) आगमनागमने यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपतः ॥ ६ ॥ तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह। (अरित्रं) स्तम्भनार्थसाधनयुक्तं (पृथु) अतिविस्तीर्णम्। ईदृशः स रथः अग्न्यश्वयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासमुद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तव्येऽलंवेगवान् भवतीति बोध्यम् (धिया यु०) तत्र त्रिविधे रथे (इन्दवः) जलानि वाष्पवेगार्थं (युयुज्रे) यथावद्युक्तानि कार्य्याणि। येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति (इन्दवः) इति जलनामसु निघण्टौ खण्डे १२ पठितम् [उन्देरिच्चादेः] उणादौ प्रथमे पादे सूत्रम् ॥ ७ ॥ हे मनुष्याः (मनोजुवः) मनोवद्गतयो वायवो यन्त्रकलाचालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत। कथम्भूता अग्निवाय्वादयः। (वृषव्रातासः) जलसेचनयुक्ताः येषां संयोगे वाष्पजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्तीत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

भाषार्थ

फिर वह सवारी कैसी बनानी चाहिये कि (त्रिर्नो अश्विना य०) (पृथिवीमशायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना आना बनता है (परित्रिधातु पृ०) वे लोहा तांबा चांदी आदि तीन धातुओं से बनती हैं और जैसे (रथ्या परावतः०) नगर वा ग्राम की गलियों में झटपट जाना आना बनता है वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र २ जाना आना होता है । (नासत्या०) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं उन से बड़े २ कठिन मार्ग में भी सहज से जाना आना करें, जैसे (आत्मेव वातः स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें ॥ ६ ॥ (अरित्रं वाम्) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते है वे (तीर्थे सिन्धूना रथः) जो रथ बड़े २ समुद्रों के मध्य से भी पार पहुचाने में श्रेष्ठ होते है (दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते है उन रथों में जो मनुष्य यन्त्र सिद्ध करते हैं वे सुखों को प्राप्त होते है । (धिया युयुज्र०) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दवः) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बना के उस में जलसेचन करना चाहिये जिस से वह अत्यंत वेग से चलने वाला यान सिद्ध हो ॥ ७ ॥ (वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्यलोगो (मनोजुव) अर्थात् जैसा मन का वेग है वैसे वेगवाले यान सिद्ध करो (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में (मरुत्) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ और (आ वृष व्रातासः) उन के योग में जलों का भी स्थापन करो (पृषतीरयुग्ध्वम्) जैसे जल के बाष्प घूमने की कलाओं को वेगवाली कर देते हैं वैसे ही तुम भी उन को सब प्रकार से युक्त करो । जो इस प्रकार से प्रयत्न करके सवारी सिद्ध करते हैं वे (विभ्राजन्ते) अर्थात् विविध प्रकार के भोगों से प्रकाशमान होते हैं और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करने वाले सब भोगों से युक्त होते हैं (अच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं क्योंकि कलाकौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की (ऋष्टि) अर्थात् कलाओं से (प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़ के मनोवेग यानों मे जाते आते हैं उन ही से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है इसलिये इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें ॥ ८ ॥

आ नो॑ ना॒वा म॑ती॒नां या॒तं पा॒राय॒ गन्त॑वे । यु॒ञ्जाथा॑मश्विना॒ रथ॑म् ॥ ९ ॥ ऋ० अष्ट० १ अ० ३ व० ३४ म० ७ ॥ कृ॒ष्णं नि॒यानं॒ हर॑यः सुप॒र्णा अ॒पो वसा॑ना॒ दिव॒मुत्प॑तन्ति । त आव॑वृत्र॒न्त्सद॑नादृ॒तस्यादिद् घृ॒तेन॑ पृथि॒वी व्यु॑द्यते ॥ १० ॥ द्वाद॑श प्र॒धय॑श्च॒क्रमेकं॒ त्रीणि॒ नभ्या॑नि॒ क उ॒तच्चि॑केत । तस्मि॑न्त्सा॒कं त्रि॑श॒ता न श॒ङ्कवो॑ऽर्पि॒ताः ष॒ष्टिर्न च॑लाच॒लासः॑ ॥ ११ ॥ ऋ० अष्ट० २ अ० ३ व० २३ । २४ ॥ म० ४७ । ४८ ॥

भाष्यम्

समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय) (गन्तवे) गन्तुं यानानि रचनीयानि (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तीनां मेधाविनां नावा नौकया पारं गच्छन्ति तथैव (नः) अस्माकमपि नौरुत्तमा भवेत् (आयुञ्जाथाम०) यथा मेधाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते तथास्माभिरपि योजनीये भवतः एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ मेधाविनामसु निघण्टौ १५ खण्डे मतय इति पठितम् ॥ ९ ॥ हे मनुष्याः (सुपर्णाः) शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः (अपोवसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेत्तदा (कृष्णं) पृथिवीविकारमयं (नियानं) निश्चितं यानं (दिवमुत्प०) द्योतनात्मकमाकाशमुत्पतन्ति ऊर्ध्वं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्था द्वादश कर्त्तव्याः ॥ (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं चक्रं रचनीयम् (त्रीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः (चलाचलासः) ताः कलाः चलाः चालनार्हाः अचलाः स्थित्यर्हाः । (षष्टिः) षष्टिसङ्ख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि । तस्मिन् याने । एवमादिविधानं सर्वं कर्त्तव्यम् । (क उतच्चिकेत) इत्येतत् कृत्य

भाषार्थ

फिर वह सवारी कैसी बनानी चाहिये कि (त्रिर्नो अश्विना य०) (पृथिवीमशायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना आना बनता है (परित्रिधातु पृ०) वे लोहा तांबा चांदी आदि तीन धातुओं से बनती हैं और जैसे (रथ्या परावतः०) नगर वा ग्राम की गलियों में झट पट जाना आना बनता है वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र २ जाना आना होता है । (नासत्या०) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं उन से बड़े २ कठिन मार्ग में भी सहज से जाना आना करें, जैसे (आत्मेव वातः स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें ॥ ६ ॥ (अरित्र वाम्) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं वे (तीर्थे सिन्धूनां रथः) जो रथ बड़े २ समुद्रों के मध्य से भी पार पहुचाने में श्रेष्ठ होते हैं (दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं उन रथों में जो मनुष्य यन्त्र सिद्ध करते हैं वे सुखों को प्राप्त होते हैं । (धिया युयुज्र०) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दव) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बना के उस में जलसेचन करना चाहिये जिस से वह अत्यंत वेग से चलने वाला यान सिद्ध हो ॥ ७ ॥ (वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्यलोगो (मनोजुवः) अर्थात् जैसा मन का वेग है वैसे वेगवाले यान सिद्ध करो (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में (मरुत्) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ और (आ वृष व्रातासः) उन के योग में जलों का भी स्थापन करो (पृषतीरयुग्ध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलाओं को वेगवाली कर देते हैं वैसे ही तुम भी उन को सब प्रकार से युक्त करो । जो इस प्रकार से प्रयत्न करके सवारी सिद्ध करते हैं वे (विभ्राजन्ते) अर्थात् विविध प्रकार के भोगों से प्रकाशमान होते हैं और (सुमखास ऋष्टिभि.) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करने वाले सब भोगों से युक्त होते हैं (अच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं क्योंकि कलाकौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की (ऋष्टि) अर्थात् कलाओं से (प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़ के मनोवेग यानों से जाते आते हैं उन ही से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है इसलिये इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें ॥ ८ ॥

आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे । युञ्जाथामश्विना रथम् ॥ ९ ॥ ऋ० अष्ट० १ अ० ३ व० ३४ म० ७ ॥ कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥ १० ॥ द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत । तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥ ११ ॥ ऋ० अष्ट० २ अ० ३ व० २३ । २४ ॥ म० ४७ । ४८ ॥

भाष्यम्

समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय) (गन्तवे) गन्तुं यानानि रचनीयानि (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तीना मेधाविना नावा नौकया पारं गच्छन्ति तथैव (नः) अस्माकमपि नौरुत्तमा भवेत् (आयुञ्जाथाम०) यथा मेधाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते त यास्माभिरपि योजनीये भवतः एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ मेधाविनामसु नियण्टौ १५ खण्डे मतय इति पठितम् ॥ ९ ॥ हे मनुष्याः (सुपर्णाः) शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः (अपोवसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेत्तदा (कृष्णं) पृथिवीविकारमयं (नियानं) निश्चितं यानं (दिवमुत्प०) द्योतनात्मकमाकाशमुत्पतन्ति ऊर्ध्वं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्था द्वादश कर्त्तव्याः ॥ (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं चक्रं रचनीयम् (त्रीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः (चलाचलासः) ताः कलाः चलाः चालनार्हाः अचला स्थित्यर्हाः । (षष्टिः) षष्टिसङ्ख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि । यानेषु । एतदादिविधानं सर्वं कर्त्तव्यम् । (क उतच्चिकेत) इत्येतत्

को विजानीति (न) नहि सर्वे । इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! (आ नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से (पाराय) समुद्र के पारावार जाने के लिये सुगमता होती है वैसे ही (आ०) (युञ्जाथाम्) पूर्वोक्त वायु आदि अश्वि का योग यथावत् करो (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको (न)हे मनुष्यो ! आओ आपस में मिल के इस प्रकार के यानों को रचें जिन से सब देश देशान्तर में हमारा जाना आना बने ॥ ९ ॥ (कृष्णं नि०) अग्निजलयुक्त (कृष्णं) अर्थात् खेंचने वाला जो (नियान) निश्चित यान है उस के (हरय) वेगादि गुण रूप (सुपर्णा) अच्छे प्रकार गमन कराने वाले जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं वे (अपोवसाना) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति०) उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उडा चलते हैं (त आववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेग युक्त होते हैं तब (ऋतस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देने वाले होते हैं। (पृथिवी घृ०) जब जल कलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त किई जाती है तब उस से उत्तम २ भोग प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधय) इन यानों के बारह थमे रचने चाहियें जिन में सब कलायन्त्र लगाये जाय (चक्रमेकम्) उन में एक चक्र बनाना चाहिये जिस के घुमाने से सब कला घूमें (त्रीणि नभ्यानि०) फिर उस के मध्य में तीन चक्र रचने चाहियें कि एक के चलाने से सब रुक जाय, दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उन में तीन तीन सौ (शङ्कव) बडी बड़ी कीलें अर्थात् पेच लगाने चाहियें कि जिन से उन के सब अंग जुड जाय और उन के निकालने से सब अलग २ हो जाय (षष्टिर्न चलाचलास०) उन में ६० साठ कलायन्त्र रचने चाहियें कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें अर्थात् जब विमान को ऊपर चढाना हो तब भाफघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहियें और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो तो पूर्व के बन्द पश्चिम के खोलने चाहियें और जो पश्चिम को चलाना हो तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहियें इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना (न) उन में किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये (क उतच्चिकेत) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते किन्तु जो

महाविद्वान् हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं वे ही सिद्ध कर सकते हैं। इस विषय के वेदों में बहुत मंत्र है परन्तु यहां थोडा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे ॥ ११ ॥

इति नौविमानादिविद्याविषयः सङ्क्षेपतः ॥

अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः ॥

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः । शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम् ॥ ८ ॥ ऋ० अष्ट० १ अ० ८ व० २१ मं० १० ॥

भाष्यम्

अस्याभि०—अस्मिन् मन्त्रे तारविद्याबीजं प्रकाश्यत इति । हे मनुष्याः (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं (पुरुवार) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्त्तव्यं बहूत्तमगुणयुक्तम् ॥ (श्वेत) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम् । (अभिद्यु) प्राप्तविद्युत्प्रकाशम् (पृतनासु दुष्टरं) राजसेनाकार्येषु दुस्तरं प्लवितुमशक्यं (चर्कृत्य) वारंवारं सर्वक्रियासु योजनीयम् । (तरुतारं) ताराख्यं यन्त्रं यूयं कुरुत । कथम्भूतैर्गुणैर्युक्तं (शर्यैः) पुनः पुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम् । कस्मै, प्रयोजनाय (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिमापणाय । पुनः कथम्भूतं (स्पृधां) स्पर्द्धमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम् । पुनः कथम्भूतं (चर्षणीसहम्०) मनुष्यसेनायाः कार्यसहनशीलम् । पुनः कथम्भूतं (इन्द्रमिव०) सूर्यवत् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थं (युवं) युवामश्विनौ (दुवस्यथ) पुरुषव्यत्ययेन पृथिवीविद्युदाख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत्ताराख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्वमिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(युवं पेदवे०) भाभि भा०—इस मंत्र से तारविद्या का मूल जाना जाता है पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यंत्र और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के प्रयोग से

को विजानीति (न) नहि सर्वे । इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्रास्सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! (आ नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से (पाराय) समुद्र के पारावार जाने के लिये सुगमता होती है वैसे ही (आ०) (युञ्जाथाम्) पूर्वोक्त वायु आदि अश्वि का योग यथावत् करो (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको (न) हे मनुष्यो ! आओ आपस में मिल के इस प्रकार के यानों को रचें जिन से सब देश देशान्तर में हमारा जाना आना बने ॥ ९ ॥ (कृष्णं नि०) अग्निजलयुक्त (कृष्णं) अर्थात् खेंचने वाला जो (नियान) निश्चित यान है उस के (हरय) वेगादि गुण रूप (सुपर्णा) अच्छे प्रकार गमन कराने वाले जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं वे (अपोवसाना) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति०) उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं (त आववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेग युक्त होते हैं तब (ऋतस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देने वाले होते हैं। (पृथिवी घृ०) जब जल कलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त किई जाती है तब उस से उत्तम २ भोग प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) इन यानों के बारह थंभे रचने चाहियें जिन में सब कलायन्त्र लगाये जाय (चक्रमेकम्) उन में एक चक्र बनाना चाहिये जिस के घुमाने से सब कला घूमें (त्रीणि नभ्यानि०) फिर उस के मध्य में तीन चक्र रचने चाहियें कि एक के चलाने से सब रुक जाय, दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उन में तीन तीन सौ (शङ्कव) बड़ी बड़ी कीलें अर्थात् पेच लगाने चाहियें कि जिन से उन के सब अंग जुड़ जाय और उन के निकालने से सब अलग २ हो जाय (षष्टिर्न चलाचलास०) उन में ६० साठ कलायन्त्र रचने चाहियें कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तब भाफघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहियें और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो तो पूर्व के बन्द पश्चिम के खोलने चाहियें और जो पश्चिम को चलाना हो तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहियें इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना (न) उन में किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये (क उतच्चिकेत) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते किन्तु जो

महाविद्वान् हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग है वे ही सिद्ध कर सकते हैं। इस विषय के वेदों में बहुत मंत्र है परन्तु यहा थोडा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे ॥ ११ ॥

इति नौविमानादिविद्याविषय. सङ्क्षेपतः ॥

अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः ॥

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः। शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम् ॥ ८ ॥ ऋ० अष्ट० १ अ० ८ व० २१ मं० १० ॥

भाष्यम्

अस्याभि०—अस्मिन् मन्त्रे तारविद्याबीजं प्रकाश्यत इति। हे मनुष्याः (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं (पुरुवार) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्त्तव्य बहूत्तमगणयुक्तम् ॥ (श्वेत) अग्निगुणविद्युन्मय शुद्धधातुनिर्मितम्। (अभिद्यु) प्राप्तविद्युत्प्रकाशम् (पृतनासु दुष्टर) राजसेनाकार्येषु दुस्तर प्लवितुमशक्य (चर्कृत्य) वारंवार सर्वक्रियासु योजनीयम्। (तरुतारं) ताराख्यं यन्त्र यूय कुरुत। कथम्भूतैर्गुणैर्युक्त (शर्यैः) पुनः पुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम्। कस्मै प्रयोजनाय (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय। पुनः कथम्भूत (स्पृधा) स्पर्द्धमानानां शत्रूणा पराजयाय स्वकीयाना वीराणा विजयाय च परमोत्तमम्। पुनः कथम्भूत (चर्षणीसहम्०) मनुष्यसेनायाः कार्यसहनशीलम्। पुनः कथभूत (इन्द्रमिव०) सूर्यवत् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थं (युव) युवामश्विनौ (दुवस्यथ) पुरुषव्यत्ययेन पृथिवीविद्युदाख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत्ताराख्य यन्त्र नित्य सेवध्वमिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(युव पेदवे०) अभि प्रा०—इस मत्र से तारविद्या का मूल जाना जाता है पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यत्र और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के प्रयोग से

तारविद्या सिद्ध होती है क्योंकि (द्यावापृथिव्योरित्येके०) इस निरुक्त के प्रमाण से इन का अश्वि नाम जान लेना चाहिये (पेदवे) अर्थात् वह अत्यन्त शीघ्र गमनागमन का हेतु होता है (पुरुवारम्) अर्थात् इस तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं (स्पृधाम्) अर्थात् लडाई करने वाले जो राजपुरुष हैं उन के लिये यह तारविद्या अत्यन्त हितकारी है (श्वेत०) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिये (अभिद्युम्) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिये (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिस का दुःसह प्रकाश होता और उल्लंघन करना अशक्य है (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के वारंवार चलाने के लिये योग्य होता है (शर्य्यैः) अनेक प्रकार कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये विद्युत् की उत्पत्ति करके उस का ताडन करना चाहिये (तरुतारम्) जो इस प्रकार का तारारूय यन्त्र है उस को सिद्ध करके प्रीति से सेवन करो किस प्रयोजन के लिये (पेदवे०) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये तारविद्या सिद्ध करनी चाहिये (चर्षणीसह०) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्य्यों को सहनकरनेवाला है (इन्द्रमिव०) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य्य करता है वैसे तारयन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है (युव) (दुवस्यथ) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त अश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है इस को बडे प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिये ॥ १ ॥

इति तारविद्यामूल संक्षेपतः ॥

अथवैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः ॥

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु । दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ य० अ० ६ म० २२ ॥

भाष्यम्

अस्याभिप्रायार्थः । इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति । हे परमवैद्येश्वर ! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः) सोमादयः (सुमित्रिया) अत्र [इया-

ङियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम्] इति वार्त्तिकेन जसः स्थाने " ङियाच् " इत्यादेशः ॥ सुमित्राः सुखप्रदा रोगनाशका सन्तु यथावद्विज्ञाताश्च । तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु । तथा (योऽस्मान्द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा काम क्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति (य च वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोग च वय द्विष्म (तस्मै०) दुर्मित्रिया दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु । अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रावद् दुःखनाशिका भवन्ति । तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति । एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति प्रसङ्गाभावान्नात्र लिख्यन्ते यत्र यत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थ

(सुमित्रिया न०) हे परमेश्वर ! आप की कृपा से (आप) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ तथा (ओषधयः) सोमलता आदि सब ओषधि (न) हमारे लिये (सुमित्रिया) (सन्तु) सुखकारक हों तथा (दुर्मित्रिया) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं और जो हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं उन के लिये विरोधिनी हों क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं उन को ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देनेवाले होते हैं और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं उन के लिये सदा दुःख देनेवाले होते हैं इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं ॥

इति वैद्यकविद्याविषयः संक्षेपतः ॥

अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः ॥

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥ १ ॥ पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम् । पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्तिः ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ अ० १ व० २३ म० ६ । ७ ॥

भाष्यम्

एतेषामभि०— एतदादिमन्त्रेष्वत्रापूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाश्यन्त इति (असुनीते०) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सम्बुद्धौ हे असुनीते ईश्वर! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम (पुनरस्मा०) अर्थाद्यदा वयं पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं कुर्मस्तदा (चक्षुः) चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणाम् । पुनर्जन्मनि सर्वाणीन्द्रियाण्यस्मासु धेहि (पुनः प्राणमि०) प्राणमिति वायोरन्तःकरणस्योपलक्षणम् । पुनर्द्वितीयजन्मनि प्राणमन्तःकरणं च धेहि । एवं हे भगवन्! पुनर्जन्मसु (नः) अस्माकं (भोग) भोगपदार्थान् (ज्योक्) निरन्तरमस्मासु धेहि । यतो वयं सर्वेषु जन्मसु (उच्चरन्तं) सूर्य्यं श्वासप्रश्वासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सूर्य्यलोकं च निरन्तरं पश्येम (अनुमते) हे अनुमन्तः परमेश्वर! (नः) अस्मान् सर्वेषु जन्मसु (मृडय) सुखय भवत्कृपया पुनर्जन्मसु (स्वस्ति) सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते ॥ १ ॥ (पुनर्नो) हे भगवन्! भवदनुग्रहेण!(नः) अस्मभ्यं (असुं) प्राणमन्नमयं बलं च (पृथिवी पुनर्ददातु) तथा (पुनर्द्यौः०) पुनर्जन्मनि द्यौर्देवी द्योतमाना सूर्य्यज्योतिरसुं ददातु (पुनरन्तरिक्षम्) तथान्तरिक्षं पुनर्जन्मन्यसुं जीवनं ददातु (पुनर्नः सोमस्त०) तथा सोम ओषधिसमूहजन्यो रसः पुनर्जन्मनि तन्वं शरीरं ददातु (पुनः पूषा०) हे परमेश्वर! पुष्टिकर्त्ता भवान् (पथ्या) पुनर्जन्मनि धर्ममार्गं ददातु तथा सर्वेषु जन्मसु (या स्वस्तिः) सा भवत्कृपया नोऽस्मभ्यं सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान् ॥ १ ॥

भाषार्थ

(असुनीते०) हे सुखदायक परमेश्वर! आप (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये तथा (पुनः प्राणं०) प्राण अर्थात् मन बुद्धि चित्त अहंकार बल पराक्रम आदि युक्त शरीर पूर्वजन्म में कीजिये (इह नो धेहि भोग०) हे जगदीश्वर! इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम२ भोगों को प्राप्त हों तथा (ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन्! आप की कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण और आप को विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें (अनुमते मृडया न

स्वस्ति) हे अनुमते ! सब को मान देनेहारे ! सब जन्मो मे हम लोगों को (मृडय) सुखी राखिये जिस से हम लोगो को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो ॥ १ ॥ (पुनर्नो असु पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशक्तिमन्! आप के अनुग्रह से हमारेलिये वारवार पृथिवी प्राणको, प्रकाश चक्षु को और अतरिक्ष स्थानादि अवकाशो को देते रहे (पुनर्न सोमस्तन्वददातु) पुनर्जन्म मे सोम अर्थात् ओषधियो का रस हम को उत्तम शरीर देने मे अनुकूल रहे तथा (पूषा०) पुष्टि करनेवाला परमेश्वर कृपा कर के सब जन्मो मे हम को सब दुःख निवारण करने वाली पथ्य रूप स्वस्ति को देवे ॥ २ ॥

पुनर्मन पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन । वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ ३ ॥ यजु० अ० ४ म० १५ ॥ पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च । पुनरग्नयो धिष्ण्यां यथास्थाम कल्पन्तामिहैव ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ७ अनु० ६ व० ६७ म० १॥ आ यो धर्माणि प्रथम ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि । धास्युर्योनिं प्रथम आविवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ ५ ॥ अथर्व० कां० ५ अनु० १ व० १ मं० २

भाष्यम्

(पुनर्मन पु०) हे जगदीश्वर भवदनुग्रहेण विद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्त मन आयुश्च (मे) मह्यमागन्पुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात् (पुनरात्मा) पुनर्जन्मनि मदात्मा विचारः शुद्धः सन् प्राप्नुयात् (पुनश्चक्षुः) चक्षुः श्रोत्र च मह्य प्राप्नुयात् (वैश्वानरः) यः सकलस्य जगतो नयनकर्त्ता (अदब्धः) दम्भादिदोषरहितः (तनूपाः) शरीरादिरक्षकः (अग्निः) विज्ञानानन्दस्वरूपः परमेश्वर (पातु दुरि०) जन्मजन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रक्षतु येन वय निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम ॥ ३ ॥ (पुनर्मै०) हे भगवन् पुनर्जन्मनीन्द्रियमर्थात् सर्वाणीन्द्रियाण्यात्मा प्राण धारको बलाख्यः (द्रविणं) विद्यादिश्रेष्ठधन (ब्राह्मणं च) ब्रह्मनिष्ठात्व (पुनरग्नयः) मनुष्यशरीरं धारयित्वाऽऽहवनीयाद्यग्न्याधानकरण (मैतु) पुन पुनर्जन्मस्वेतानि मामाप्नुवन्तु (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर

वयं यथा येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिष्ण्या धारणवत्या धिया सोत्तमशरीरेन्द्रिया आस्थाम तथैवेहास्मिन् संसारे पुनर्जन्मनि बुध्या सह स्वस्व कार्यकरणे समर्था भवेम येन वयं केनापि कारणेन न कदाचिद्विकला भवेम ॥ ४ ॥ (आ यो धर्म्माणि) यो जीव (प्रथमः) पूर्वजन्मनि (धर्म्माणि) यादृशानि धर्मकार्य्याणि (आससाद) कृतवानस्ति स (ततो वपूंषि०) तस्य दु धर्मकरणाद्बहू युतमानि शरीराणि पुनर्जन्मनि कुणुषे धारयति । एवं यश्चाधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्यशरीराणि प्राप्नोति किन्तु पश्वादीनि हि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते ॥ इदमेव मन्त्रार्थेनेश्वरो ज्ञापयति (धास्युर्योनि०) धारयतीति धास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीलो जीव त्मा (प्रथमः) पूर्वं देहं त्यक्त्वा वायुजलोषध्यादिपदार्थान् (आविवेश) प्रविश्य पुनः कृतपापपुण्यानुसारिणो योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः । (यो वाचम०) यो जीवोऽनुदितामीश्वरोक्तां वेदवाणीं आ समन्ताद् विदित्वा धर्ममाचरति स पूर्ववद्विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते । तद्विपरीताचरणस्तिर्यग्देहं धृत्वा दुःखभागी भवतीति विज्ञेयम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(पुनर्मन पुनरात्मा) हे सर्वज्ञ ईश्वर! जब जब हम जन्म लेवें तब २ हम को शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्य, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों (वैश्वानरोऽदब्ध) जो विश्व मे विराजमान ईश्वर है वह सब जन्मों मे हमारे शरीरों का पालन करे (अग्निर्न) सब पापों के नाश करने वाले आप हम को (पातु दुरितादवद्यात्) बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म मे अलग रक्खें ॥ ३ ॥ (पुनर्मैत्विन्द्रियम्) हे जगदीश्वर आप की कृपा से पुनर्जन्म मे मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझ को प्राप्त हों अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणों को धारण करने हारा सामर्थ्य मुझको प्राप्त होता रहे जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें (द्रविण) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी पुनर्जन्म मे प्राप्त होते रहें(ब्राह्मण च०) और सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है उसका व्याख्यान सहित विज्ञान तथा आप ही मे हमारी निष्ठा बनी रहे (पुनरग्नयः)

तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ को करते रहें (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर ! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रियसहित थे वैसे ही इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों, ये सब शुद्धबुद्धि के साथ (मेतु) मुझ को यथावत् प्राप्त हों (इहैव) जिन से हम लोग इस संसार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें और इस सामग्री से आप की भक्ति को प्रेम से सदा किया करें जिस करके किसी जन्म में हम को कभी दुःख प्राप्त न हो ॥ ४॥ (आ यो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्व जन्म में धर्माचरण करता है (ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है (धास्युर्योनिं०) जो पूर्वजन्म में किए हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है (पुन०) जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य्य में प्रवेश करता है तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है (यो वाचमनुदितां चिकेत) जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जान के बोलता है और धर्म ही में (समाद) यथावत् स्थित रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है और जो अधर्माचरण करता है वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतङ्ग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है ॥ ५ ॥

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ६ ॥ य० अ० १९ मं० ४७ ॥ मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः । नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥ १ ॥ आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः । मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ २ ॥ अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ॥ निरु० अ० १३ ख० १९ ॥

(द्वे सृती०) अस्मिन् संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः। एकः पितॄणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च द्वितीयः (मर्त्यानां) विद्याविज्ञानरहितानां मनुष्याणाम्। तयोरेकः पितृयानो द्वितीयो देवयानश्चेति यत्र जीवो मातापितृभ्यां देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनःपुनर्भुङ्क्ते। अर्थात् पूर्वापरजन्मानि च धारयति सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति। तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद्विमुच्यते सा द्वितीया सृतिर्भवति। तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसञ्चयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते म्रियते च। द्वितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न म्रियते चेत्यहमेवम्भूते द्वे सृती (अशृणव) श्रुतवानस्मि। (ताभ्यामिदं विश्व०) पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यां मार्गाभ्यां सर्वं जगत् (एजत्समेति०) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति (यदन्तरा पितरं मातरं च) यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥ अत्र मृतश्चाह पुनर्जात इत्यादिनिरुक्तकारैरपि पुनर्जन्मधारणमुक्तमिति बोध्यम् ॥ ७ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथाऽभिरूढोऽभिनिवेशः ॥ ८ ॥ पात० अ० १ पा० २ सू० ९ ॥ पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ ९ ॥ न्या० अ० १ आ० १ सू० १९ ॥

(स्वरस०) योगशास्त्रे पतञ्जलिमहामुनिना तदुपरि भाष्यकर्त्रा वेदव्यासेन च पुनर्जन्मसद्भावः प्रतिपादितः। या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्य मरणत्रासाख्या प्रवृत्तिर्दृश्यते तया पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति विज्ञायते। कुतः जातमात्रकृमिरपि मरणत्रासमनुभवति तथा विदुषोऽप्यनुभवो भवतीत्यतो जीवेनानेकानि शरीराणि धार्य्यन्ते। यदि पूर्वजन्मनि मरणानुभवो न भवेच्चेत्तर्हि तत्संस्कारोऽपि न स्यान्नैव संस्कारेण विना स्मृतिर्भवति स्मृत्या विना मरणत्रासः कथं जायेत। कुतः—प्राणिमात्रस्य मरणभयदर्शनात् पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम् ॥ ८ ॥ (पुनरु०) तथा महाविदुषा गोतमेनर्षिणा न्यायदर्शने तद्भाष्यकर्त्रा वात्स्यायनेनापि पुनर्जन्मभावो मतः यत् पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्यभावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम्। प्रेत्यार्थान्मरणं प्राप्य भावोऽर्थात् पुनर्जन्म धृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

भाषार्थ

(द्वे सृती०) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (अशृणवम्) सुनते है एक मनुष्यशरीर का धारण करना और दूसरा नीचगति से पशु, पक्षि, कीट, पतङ्ग, वृक्ष आदि का होना। इन में मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारणमनुष्यशरीर का धारण करना। इन में प्रथम गति अर्थात् मनुष्यशरीर पुण्यात्माओं और पुण्यपापतुल्यवालों को होता है और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिये है (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति०) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने २ पुण्य और पापोंके फल भोग रहे हैं (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना वारवार होता है। जैसा वेदों में पूर्वापर जन्म के धारण करने का विधान किया है वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है। जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक २ जानता है कि (मृतश्चाहपु०) मैंने अनेक वार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हजारों गर्भाशयों का सेवन किया ॥ १ ॥ (आहारवि०) अनेक प्रकार के भोजनकिये, अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया, अनेक माता पिता और सुहृदों को देखा ॥ २ ॥ (अवाङ्मुखः) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये परन्तु अब इन महादुःखों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उस की आज्ञा का पालन करूंगा नहीं तो इस जन्ममरणरूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं होसकता। तथा योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है (स्वरस०) (सर्वस्य प्रा०) हर एक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि (भूयासमिति) अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूं, मरूं नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मा न भूवं) अर्थात् मैं न होऊं ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती। यह अभिनिवेश क्लेश कहलाता है जो कि कृमिपर्य्यंत को भी मरण का भय बराबर होता है यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है ॥ तथा न्यायदर्शन के (पुनरु०) सू० । और उसी के वात्स्या० भा० में कहा है कि जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़ के पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मरके पुनर्जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहते हैं ॥ ६ ॥

भाष्यम्

अत्र केचिदेकजन्मवादिनो वदन्ति—यदि पूर्वजन्मासीत्तर्हि तत्स्मरणं कुतो न भवतीत्यत्र ब्रूमः । भो ! ज्ञाननेत्रमुद्घाट्य द्रष्टव्यमस्मिन्नेव शरीरे जन्मतः पञ्चवर्षपर्यन्तं यद्यत्सुखं दुःखं च भवति यच्च जागरितावस्थास्थानां सर्वव्यवहाराणां सुषुप्त्यवस्थायां च । तदनुभूतस्मरणं न भवति पूर्वजन्मवृत्तस्मरणस्य तु का कथा । (प्रश्न) यदि पूर्वजन्मकृतयोः पापपुण्ययोः सुखदुःखफले ईश्वरोऽस्मिन् जन्मनि ददाति तर्हीश्वरश्चास्माकं साक्षात्काराभावात् सोऽन्यायकारी भवति नातोऽस्माकं शुद्धिश्चेति । अत्र ब्रूमः । द्विविधं ज्ञानं भवत्येकं प्रत्यक्षं द्वितीयमानुमानिकं च । यथा कस्यचिद्वैद्यस्याऽवैद्यस्य च शरीरे ज्वरावेशो भवेत्तत्र खलु वैद्यस्तु विद्यया कार्यकारणसङ्गत्यनुमानतो ज्वरनिदानं जानाति नापरश्च परन्तु वैदिकविद्यारहितोऽपि ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात् किमपि मया कुपथ्यं पूर्वं कृतमिति जानाति विना कारणेन कार्यं नैव भवतीति दर्शनात् । तथैव न्यायकारीश्वरोऽपि विना पापपुण्याभ्यां न कस्मैचित् सुखं दुःखं च दातुं शक्नोति संसारे नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनं दृष्ट्वा विज्ञायते पूर्वजन्मकृते पापपुण्ये अभूवतुरिति । अनेकजन्मवादिनामन्येऽपीदृशाः प्रश्नाः सन्ति तेषां विचारेणोत्तराणि देयानि किन्तु न बुद्धिमतः प्रत्यखिललेखनं योग्यं भवति ते च दृश्यमानात्प्रमाणाधिकं जानन्ति ग्रन्थोऽपि भूयान्न भवेदिति मत्वाऽत्राधिकं नोल्लिख्यते ॥

भाषार्थ

इस में अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पूर्वजन्म होता है तो हम को उस का ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता (उत्तर) आंख खोल के देखो कि जब इसी जन्म में जो २ सुख दुःख तुम ने बाल्यावस्था में अर्थात् जन्म से पांचवर्ष पर्यन्त पाये हैं उन का ज्ञान नहीं रहता अथवा जो कि नित्य पठन पाठन और व्यवहार करते हैं उन में से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है? तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हम को पूर्वजन्म

के पाप पुण्य का ज्ञान नहीं होता और ईश्वर उन का फल सुख वा दुःख देता है इस से ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता (उत्तर) ज्ञान दो प्रकार का होता है एक प्रत्यक्ष दूसरा अनुमानादि से। जैसे एक वैद्य और दूसरा अवैद्य, इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इस का पूर्व निदान जान लेता है और दूसरा नहीं जान सकता परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य्य जो ज्वर है वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है अन्यथा नहीं। इस में इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक २ रोग के कारण और कार्य्य को निश्चय करके जानता है और वह अविद्वान् कार्य्य को तो ठीक २ जानता है परन्तु कारण में उस को यथावत् निश्चय नहीं होता वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता। जब हम को पुण्य पाप का कार्य्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है तब हम को ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप पुण्यों के विना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्ध्यादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। इस से हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं, इत्यादि प्रश्नोत्तर बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जान लेवें मैं यहां इस विषय के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं देखता ॥

॥ इति पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः ॥

अथ विवाहविषयः संक्षेपतः

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्य्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ १ ॥ इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ अ० ३ व० २७। २८। मं० १। २॥

भाष्यम्

अनयोरभि०—अत्र विवाहविधानं क्रियत इति। हे कुमारि शुभे कन्ये! (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धये (ते) तव हस्तं (गृभ्णामि) गृह्णामि त्वया सहाहं विवाहं करोमि त्वं च मया सह हे स्त्रि! (यथा) येन प्रकारेण (मया पत्या) सह (जरदष्टिः) (आसः) जरावस्थां प्राप्नु-

याहतथैव त्वया स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं वृद्धावस्थां प्राप्नुयाम् । एव-नावां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं कुर्य्यावहि । (भगः) सकलैश्वर्य्यसम्पन्नः (अर्यमा) न्यायव्यवस्थाकर्त्ता (सविता) सर्वजगदुत्पादकः (पुरन्धिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यं गार्हपत्याय) गृहकार्य्याय त्वां मदर्थं दत्तवान् तथा (देवाः) अत्र सर्वे विद्वांसः साक्षिणः सन्ति यद्यावां प्रतिज्ञोल्लङ्घनं कुर्य्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्ड्यौ विद्वद्दण्ड्यौ च भवेवेति ॥१। विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्त्तमानौ भवेतामेतदर्थमीश्वर आज्ञां ददाति (इहैवस्तं०) हे स्त्रीपुरुषौ! युवां द्वाविहास्मिंल्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा (वस्तम्) निवासं कुर्यातम् (मा वियौष्ट) तथा कदाचिद्विरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्तौ वियोगं प्राप्तौ मा भवेताम् । एवमस्मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिणौ सत्क्रियामाचरन्तौ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) विविधसुखरूपमायुः प्राप्नुतम् । पुनः (स्वे गृहे) स्वकीये गृहे पुत्रैर्नप्तृभिश्च सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्तुवन्तौ (क्रीडन्तौ) सद्धर्मक्रिया कुर्वन्तौ सदैव भवतम् । इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवत्वेकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति । अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्या स्त्रियाश्चेति सर्वेषु वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात् । एवं विवाहविधायका वेदेष्वनेके मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम् ॥

भाषार्थ

(गृभ्णामि ते०) (सौभगत्वाय हस्त) हे स्त्रि ! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिये तेरा हस्तग्रहण करता हूं और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूं कि जो काम तुझ को अप्रिय होगा उस को मैं कभी न करूंगा । ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आप को अप्रिय होगा उस को मैं भी कभी न करूंगी और हम दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्थापर्य्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे । हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इस से उलटा काम कभी न किया जायगा । (भगः) जो ऐश्वर्यवान् (अर्यमा) सब जीवों के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देनेवाला (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य्य का देनेवाला तथा (पुरन्धि) सब जगत का धारण करनेवाला परमेश्वर है वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है तथा (मह्यं त्वा०) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझ को तेरे

लिये और तुझ को मेरे लिये दिया है कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में वर्त्तेंगे, सब जगत् का उपकार करने के लिये सत्यविद्या का प्रचार करेंगे और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न कर के उन को सुशिक्षित करेंगे इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक २ पालन करेंगे। दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे (देवा) हे विद्वान् लोगो! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं। फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड के मन वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूंगी तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इस के सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन कर्म और वचन से कभी न चाहूंगा॥ १ ॥ (इहैवस्त०) विवाहित स्त्रीपुरुषों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के शुभ व्यवहारों में रहो (मा वियौष्ट) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत हो और व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो, ऋतुगामित्व से सन्तानों की उत्पत्ति, उन का पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एकवर्षपर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य और लड़कों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ १०० वा १२५ वर्ष पर्यन्त आयु को सुख से भोगो (क्रीडन्तौ०) अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक क्रीडा करो इस से विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्त्तमान रहो। इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं। उन में से कई एक मन्त्र संस्कारविधि में भी लिखे हैं वहां देखलेना ॥

इति संक्षेपतो विवाहविषयः ॥

अथ नियोगविषयः संक्षेपतः ॥

कुहंस्विद्दोषा कुह वस्तोर॒श्विना॒ कुहा॑भिपि॒त्वं क॑रतः॒ कुहो॑षतुः। को वां॑ शयु॒त्रा वि॒धवे॑व दे॒वरं॒ मर्यं॒ न योषा॑ कृणुते स॒धस्थ॒ आ ॥ १ ॥ ऋ० अ० ७ अ० ८ व० १८ मं० २ ॥ इ॒यं नारी॑ पतिलो॒कं वृ॑णा॒ना नि प॑द्यत॒ उप॑ त्वा मर्त्य॒ प्रेत॑म्। धर्मं॑ पुरा॒णम॑नुपा॒लय॑न्ती॒ तस्यै॑ प्र॒जां द्रवि॑णं चे॒ह धे॑हि ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १८ अनु० ३ व० १ मं० १ ॥

उदीर्ष्व नार्य्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥३॥ ऋ० मं०१०सू०१८मं०८ ॥

भाष्यम्

एषामभि०—अत्र विधवाविस्त्रीकनियोगव्यवस्था विधीयत इति (कुहस्विद्दोषा) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ युवा (कुह) कस्मिन्स्थाने (दोषा) रात्रौ (वस्तो) वसथः (कुह०) अश्विना दिवसे च क्व वासं कुरुथ (कुहाभि०) क्वाभिपित्वं प्राप्तिं करतः कुरुत (कुहोषतुः) क्व युवयोर्निजस्थानवासोऽस्ति (को वां शयुत्रा) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति। इति स्त्रीपुरुषौ प्रतिप्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति। तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद्वियोगव्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते (विधवेव देवरं) क केव यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवा इव। अत्रप्रमाणम्। देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते। निरु० अ० ३। ख १५। विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति तथा पुरुषस्य च विधवया सह। विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्य्यान्न कुमारेण सह तथा कुमारस्य विधवया सह च। अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात्। पुनरेव नियोगश्च नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात्। नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेतामित्यत्राह। (मर्यं न योषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कृणुते) आकृणुते। तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्त्तेयाताम् ॥ १ ॥ (इयनारी०) इयं विधवा नारी (प्रेतं) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं) पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्य) हे मनुष्य! (त्वा) त्वामुपनिपद्यते त्वां पतिं प्राप्नोति तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति तां त्वं गृहाणाऽस्यां सन्तानान्युत्पादय। कथम्भूता सा (धर्मं पुराणं) वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धर्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते। त्वमपीमां वृणु (तस्यै) विधवायै (इह) अस्मिन् समये

लोके वा (प्रजा धेहि) त्वमस्या प्रजोत्पत्तिं कुरु (द्रविणा) द्रव्यं वीर्य्यं (च) अस्यां धेहि अर्थात् गर्भाधानं कुरु ॥ २ ॥ (उदीर्ष्वनारी०) हे विधवे! नारि! (एतं) (गतासुम्) गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोक) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि (उपशेषे) तस्यैवोपशेषे सन्तानोत्पादनाय वर्त्तस्व तत्सन्तानं (हस्तग्राभस्य) विवाहे सङ्गृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात् । यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषो) तस्यैव सन्तानं भवेत् (त्वमेद) इदमेव विधवायास्तव (जनित्व) सन्तानं भवति । हे विधवे! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वं (उदीर्ष्व) विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ तथा (अभिसम्बभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव ॥ ३ ॥

भावार्थ

नियोग उस को कहते हैं जिस से विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मरगई हो वह पुरुष ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं । नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की स्त्री मरजाय अथवा उन में किसी प्रकार का स्थिर रोग हो जाय वा नपुंसक वन्ध्यादोष पड़जाय और उन की युवावस्था हो तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो तो उस अवस्था में उन का नियोग होना अवश्य चाहिये इस का नियम आगे लिखते हैं (कुहस्वित्०) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री पुरुषों ने (दोषा) रात्रि में कहां निवास किया था (कुह वस्तोरश्विना) तथा दिन में कहां वसे थे (कुहाभिपित्वं करतः) तुम ने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति कहां की थी (कुहोषतुः) तुम्हारा निवासस्थान कहां है (को वां शयुत्रा) रात्रिमें तुम कहां शयन करते हो, वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाहविषय में एक ही वचन के प्रयोग करने से यह निश्चित हुआ कि वेदरीति से एक पुरुष के लिये एकही स्त्री और एक स्त्री के लिये एकही पुरुष होना चाहिये अधिक नहीं और न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा वियोग होना चाहिये (विधवेव देवरम्) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है वैसे तुम भी करो । विधवा का जो दूसरा पति होता है उस को देवर कहतेहैं इससे यह नियम होना चाहिये कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में दो २ सन्तानों के लिये नियोग होना और शूद्रकुल में पुनर्विवाह मरणपर्य्यन्त के लिये होना चाहिये परन्तु माता गुरुपत्नी भगिनी कन्या पुत्रवधु आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है। यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से हो सकता

है जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय और जो कोई इस नियम को तोडे उस को द्विजकुल में से अलग कर के शूद्रकुल में रख दिया जाय॥ १ ॥ (इयं नारी पतिलोक०) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा कर के नियोग किया चाहे तो (प्रेतम्) अर्थात् वह पति मर जाने के अनन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो (उपत्वामर्त्य०) इस मन्त्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता है कि हे पुरुष! (धर्मं पुराणमनुपालयन्ती) जो इस सनातन नियोगधर्म की रक्षा करने वाली स्त्री है उस के सन्तानोत्पत्ति के लिये (तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि) धर्म से वीर्य्यदान कर जिस से वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मरजाय और वह सन्तानोत्पत्ति किया चाहे तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उस को प्रजायुक्त कर दे इस लिये मैं आज्ञा देता हूं कि तुम मन कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मतकरो किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ॥ २ ॥ (उदीर्ष्वनारी)हे स्त्रि! अपने मृतक पति को छोड़ के (अभिजीवलोक) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो नहीं तो ब्रह्मचर्य्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर। और जो नियोगधर्म में स्थित हो तो जब तक मरण न हो तब तक ईश्वरका ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर (हस्तग्राभस्य दिधिषो.) जोकि तेरा हस्त ग्रहण करनेवाला दूसरा पति है उस की सेवा किया कर वह तेरी सेवा किया करे और उसका नाम दिधिषु है (तवेद) वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो तो वह तेरा सन्तान हो (पत्युर्जनित्वम०) और जो नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो तो वह सन्तान पुरुष का हो इस प्रकार नियोग से अपने २ सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो ॥ ३ ॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४ ॥ सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ५ ॥ ऋ० अष्टक० ८ अध्याय ३ व० २८ । २७ । म० ५ । ५ ॥ अदेवृघ्न्यपतिघ्नी हैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती

वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥ ६ ॥ अथर्व० । कां० १४ अनु० २ मं० १८ ॥

भाष्यम्

इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियते । कतिवारं नियोगः कर्त्तव्यः कियन्ति सन्तानानि चोत्पाद्यानीति । तद्यथा-(इमां त्वमिन्द्र०) हे इन्द्र विवाहितपते (मीढ्वः) हे वीर्य्यदानकर्त्तस्त्वमिमां विवाहितां स्त्रियं वीर्य्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु । तां (सुपुत्रां) श्रेष्ठपुत्रवतीं (सुभगां) अनुत्तमसुखयुक्तां (कृणु) कुरु (दशास्यां) अस्यां विवाहितस्त्रियां दशपुत्रानाधेहि उत्पादय नातोऽधिकमिति । ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम् । तथा (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्रि ! त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्य्यन्तं नियोगं कुरु । अर्थात् कस्याञ्चिदापत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्य्यन्तं नियोगं कुर्य्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्विति इच्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम् ॥ ४ ॥ अथोत्तरोत्तरं पतीनां संज्ञा विधीयते (सोमः प्रथमः) हे स्त्रि ! यस्त्वां प्रथमं (विविदे) विवाहितं पतिः प्राप्नोति स सौकुमार्य्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति । (गन्धर्वो वि०) यस्तु (उत्तरः) द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञां लभते कुतस्तस्य भोगाभिज्ञत्वात् (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते। कुतः—द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां भुक्तभोगया त्वया सह नियुक्तत्वादग्निदाहवत्तस्य शरीरस्यधातवो दहान्त इत्यतः । (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रि ! चतुर्थमारभ्य दशमपर्य्यन्तास्तव पतयः । साधारणबलवीर्य्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम् । तथैव स्त्रीणामपि सौम्या गन्धर्व्याग्नायी मनुष्यजाः संज्ञा-

है जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय और जो कोई इस नियम को तोडे उस को द्विजकुल में से अलग कर के शूद्रकुल में रख दिया जाय ॥ १ ॥ (इय नारी पतिलोक०) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा कर के नियोग किया चाहे तो (प्रेतम्) अर्थात् वह पति मर जाने के अनन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो (उपत्वामर्त्य०) इस मत्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता है कि हे पुरुष! (धर्म पुराणमनुपालयन्ती) जो इस सनातन नियोगधर्म की रक्षा करने वाली स्त्री है उस के सतानोत्पत्ति के लिये (तस्यै प्रजा द्रविण चेह धेहि) धर्म से वीर्य्यदान कर जिस से वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मरजाय और वह सतानोत्पत्ति किया चाहे तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उस को प्रजायुक्त कर दे इस लिये मै आज्ञा देता हू कि तुम मन कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मतकरो किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ॥ २ ॥ (उदीर्ष्वनारी) हे स्त्रि! अपने मृतक पति को छोड के (अभिजीवलोक) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो नहीं तो ब्रह्मचर्य्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढाया कर। और जो नियोगधर्म में स्थित हो तो जब तक मरण न हो तब तक ईश्वरका ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर (हस्तग्राभस्य दिधिषो.) जोकि तेरा हस्त ग्रहण करनेवाला दूसरा पति है उस की सेवा किया कर वह तेरी सेवा किया करे और उसका नाम दिधिषु है (तवेद) वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो तो वह तेरा सन्तान हो (पत्युर्जनित्वम०) और जो नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो तो वह सतान पुरुष का हो इस प्रकार नियोग से अपने २ सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो ॥ ३ ॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४ ॥ सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ५ ॥ ऋ० अष्टक० ८ अध्याय ३ व० २८ । २७ । म० ५ । ५ ॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नी हैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती

वीरसन्तानोत्पादिका (देवृकामा) नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती (स्योना) सम्यक् सुखयुक्ता सुखकारिणी सती (इममग्निं गार्हपत्य) गृहसम्बन्धिनमाहवनीयादिमग्निं सर्वं गृहसम्बन्धिव्यवहारं च (सपर्य्य) प्रीत्या सम्यक् सेवय। अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यम्। इति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(इमां०) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इन्द्रपते ! ऐश्वर्ययुक्त ! तू इस स्त्री को वीर्यदान दे के सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर, हे वीर्यप्रद ! (दशास्या पुत्राना धेहि) पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित स्त्री में दश सन्तानपर्यन्त उत्पन्न कर अधिक नहीं (पतिमेकादश कृधि०) तथा हे स्त्री ! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर अर्थात् एक तो उन में प्रथम विवाहित और दशपर्यन्त नियोग के पति कर अधिक नहीं। इस की यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे तथा दूसरे को भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ करले इसी प्रकार दशवें तक करने की आज्ञा है परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे दूसरा नहीं। इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मरजाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है और जब वह भी रोगी हो वा मर जाय तो सन्तानोत्पत्ति के लिये दशमस्त्रीपर्यन्त नियोग कर लेवे ॥ ४ ॥ अब पतियों की सञ्ज्ञा कहते हैं (सोम प्रथमो विविदे) उन में से जो विवाहित पति होता है उस की सोमसञ्ज्ञा है क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणयुक्त होता है (गन्धर्वो विविद उत्तरः) दूसरा पति जो नियोग से होता है सो गन्धर्वसञ्ज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है (तृतीयो अग्निष्टे पतिः०) तीसरा पति जो नियोग से होता है वह अग्निसञ्ज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) और चौथे से ले के दशमपर्य्यंत जो नियुक्त पति होते हैं वे सब मनुष्यसञ्ज्ञक कहाते हैं क्योंकि वे मध्यम होते हैं ॥ ५ ॥ (अदेवृघ्न्यपतिघ्नी०) हे विधवा स्त्रि ! तू देवर और विवाहितपति को सुखदेनेवाली हो किन्तु उन का अप्रिय किसी प्रकार से मत कर और वे भी तेरा अप्रिय न करें (एधि शिवा०) इसी प्रकार मंगलकार्य्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके जितेन्द्रिय होके धर्मयुक्त श्रेष्ठकार्य्यों को

करती रहो तथा सब प्रकार के विद्यारूप उत्तम तेज को बढ़ाती जा (प्रजावती वीरसू) तू श्रेष्ठप्रजायुक्त हो बड़े २ वीर पुरुषों को उत्पन्न कर (देवृकामा) जो तू देवर की कामना करने वाली है तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी तथा नपुंसक हो जाय तब दूसरे पुरुष से नियोग करके संतानोत्पत्ति कर (स्योनेमग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से विधवा और पुरुष तुम दोनों आपत्काल में धर्म करके संतानोत्पत्ति करो और उत्तम २ व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ, गर्भहत्या वा व्यभिचार कभी मत करो किन्तु नियोग ही करलो, यही व्यवस्था सब से उत्तम है ॥

इति नियोगविषयः संक्षेपतः ॥

अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि । अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वा अपि वायुकेशान् ॥ १ ॥ ऋ० अ० ३ अ० २ व० २४ म० ६ ॥ क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि । मा त्वा हिᳬसीन्मा माहिᳬसीः ॥ २ ॥ य० अ० २० म० १ ॥ यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह । तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ ३ ॥ य० अ० २० म० २५ ॥

भाष्यम्

एषामभि०—अत्र मन्त्रेषु राजधर्मो विधीयत इति । यथा सूर्य्यचन्द्रौ राजानौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतस्तथा सूर्य्यचन्द्रगुणशीलौ प्रकाशन्याययुक्तौ व्यवहारैः त्रीणि सदांसि (भूषथः) भूषयतोऽलङ्कुरुतः (विदथे) ताभिः सभाभिरेव युद्धे (पुरूणि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति तथा (परिविश्वानि) राजधर्म्मादियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्वस्थानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति । इदमत्र बोध्यम् । एका राजा-

य्यं सभा तत्र विशेषतो राजकार्य्याण्येव भवेयुः । द्वितीयाऽऽर्य्यं विद्यासभा तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती एव कार्य्यं भवतः । तृतीयाऽऽर्य्यं धर्मसभा तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्त्तव्या परन्त्वेतास्तिस्रस्स-भाःसामान्ये कार्य्ये मिलित्वैवसर्वानु त्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरि-ति । यत्रैतासु सभासु धर्मात्मभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्य स्य प्रचारो निरोधश्च क्रियते । तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति । यत्रैको मनुष्यो राजा भवति तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः (अपश्यमत्र) इ-दमत्राहमपश्यम् । ईश्वरोऽभिवदति यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हित जायत इति (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे (मनसा) विज्ञानेन सत्य न्याय (जगन्वान्) विज्ञातवान् स राजसभामर्हति नेतरश्च (गन्धर्वान्) पूर्वोक्तासु सभासु गन्धर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुः केशान्) वायुवद्दूतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहारान् सभासदः कुर्य्यात् । केशास्सूर्य्य रश्मयस्तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान्सर्वेहितं चिकीर्षून् धर्मात्मन सभासदस्स्थापयितुमहमाज्ञापयामि नेतरांश्चेतीश्वरो-पदेशः सर्वैर्मन्तव्य इति ॥ १ ॥ (क्षत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर! त्व यथा क्षत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि । तथा (क्षत्रस्य नाभिरसि) एव राजधर्मस्य त्व प्रबन्धकर्त्तासि तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमि त्तान् क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तॄंश्च कुरु (मात्वाहिंꣳसीन्मा माहिंꣳसी) तथाऽस्माकं मध्यात् कोपि जनस्त्वा मा हिंसीदर्थाद्भवन्त तिरस्कृत्य नास्तिको मा भवतु तथा त्वं मा माहिंसीरर्थान्मम तिरस्कार कदाचिन्मा कुर्य्याः यतो वयं भ-वत्सृष्टौ राज्याधिकारिणस्सदा भवेम ॥ २ ॥ (यत्र ब्रह्म च क्षत्र च) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो वेदो वा ब्राह्मणो ब्रह्मविच्चैतत्सर्वं ब्रह्म तथा (क्षत्रं) शौर्य्य धैर्य्यादिगुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ द्वौ (सम्यञ्चौ) यथावद्विज्ञानयुक्ता-वविरुद्धौ (चरतः सह) त लोकं त देश पुण्य पुण्ययुक्त (यज्ञेष) यज्ञक-रणेच्छाविशिष्ट विजानीमः (यत्र देवाः सहाग्निना) यस्मिन्देशे विद्वासः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्त्तन्ते तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ

सब जगत् का राजा एक परमेश्वर ही है और सब संसार उस की प्रजा है इस में यह यजुर्वेद के अठारवें अध्याय के २९ वें मन्त्र के वचन का प्रमाण है

(वय प्रजापते प्रजा अभूम) अर्थात् सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिये कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और वही एक हमारा राजा है (त्रीणि राजाना) तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिये एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं--प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिये एक आर्य्यराजसभा कि जिस से विशेष करके सब राज्यकार्य्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी आर्य्यविद्यासभा कि जिस से सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी आर्य्यधर्मसभा कि जिस से धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे; इन तीन सभाओं से (विदथे) अर्थात् युद्ध में (पुरूणि परिविश्वानि भूषथः) सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये ॥ १ ॥ (क्षत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देने वाले परमेश्वर ! आपही राज्यसुखके परम कारण है (क्षत्रस्य नाभिरसि) आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं तथा क्षत्रियवर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है (मा त्वा हिंसीन्माहिंसी) हे जगदीश्वर ! सब प्रजा आप को छोड के किसी दूसरे को अपना राजा कभी न माने और आप भी हम लोगों को कभी मत छोडिये किन्तु आप और हम लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्त्तें ॥ २ ॥ (यत्र ब्रह्म च क्षत्र च) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग ये सब मिलके राजकामों को सिद्ध करते हैं वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त हो के सुख को प्राप्त होता है (यत्रदेवा सहाग्निना०) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्त्तमान विद्वान् होते हैं वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखण्डराज को नित्य भोगता है ॥ ३ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि ॥ इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि ॥ ४ ॥ कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा। सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ५ ॥ शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि। राजा मे प्राणो अमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ ६ ॥ य० अ० २० मं० ३।४।५॥

भाष्यम्

(देवस्य त्वा सवितुः) हे सभाध्यक्ष! स्वप्रकाशमानस्य सर्वस्य जगत उत्पादकस्य परमेश्वरस्य(प्रसवे) अस्यां प्रजायां (अश्विनोर्बाहुभ्यां) सूर्य्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां (पूष्णो हस्ताभ्यां) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्यां (अश्विनोर्भैषज्येन) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोगनिवारकेण सह वर्त्तमानं त्वा (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय (ब्रह्मवर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय (अभिषिञ्चामि) सुगन्धजलैर्मूर्द्धनि मार्जयामि तथा(इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्य्येण विज्ञानेन च (बलाय) उत्तमबलार्थं (श्रियै) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं त्वा (यशसे) अतिश्रेष्ठकीर्त्यर्थं च (अभिषिञ्चामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतीश्वरोपदेशः ॥ ४ ॥ (कोसि) हे परमात्मन् त्वं सुखस्वरूपोसि भवानस्मानपि सुराज्येन सुखयुक्तान् करोतु (कतमोसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तोसि । अस्मानपि राजसभाप्रबन्धेनात्यन्तानन्दयुक्तान्सम्पादय (कस्मैत्वा) अतो नित्यसुखाय त्वामाश्रयामः। तथा (कायत्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे (सुश्लोक) हे सत्यकीर्त्ते!(सुमङ्गल) हे सुष्ठुमङ्गलमय सुमङ्गलकारक ! (सत्यराजन्) हे सत्यप्रकाशक ! सत्यराज्यप्रदेश्वरास्मद्राजसभायां भवानेव महाराजाधिराजोस्तीति वयं मन्यामहे ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष एवं मन्येत (शिरो मे श्रीः) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवत् (यशो मुखं) उत्तमकीर्त्तिर्मुखवत् (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशश्मश्रुवत् (राजा मे प्राणः) परमेश्वरः शरीरस्थो जीवनहेतुर्वायुश्च मम राजवत् (अमृतꣳसम्राट) मोक्षाख्यं सुखं ब्रह्म वेदश्च सम्राट् चक्रवर्तिराजवत् (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वत् । एवं सभासदोपि मन्येरन्। एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः ॥ ३ ॥

भाषार्थ

(देवस्य त्वा सवितु) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उस का हम लोग अभिषेक करें और उस से कहें कि हे सभाध्यक्ष ! आप सब जगत् को प्रकाशित और उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर की (प्रसवे) सृष्टि में प्रजापालन के लिये (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्य्य चन्द्रमा के बल और वीर्य्य से (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पुष्टि करने वाले प्राण को ग्रहण और दान की शक्तिरूप हाथों से आप को सभाध्यक्ष होने

में स्वीकार करते हैं (अश्विनोर्भैषज्येन) परमेश्वर कहता है कि पृथिवीस्थ और शुद्ध वायु इन ओषधियों से दिन रात में सब रोगों से तुझ को निवारण कर के (तेजसे) सत्यन्याय के प्रकाश, (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वर के परमैश्वर्य्य और आज्ञा के विज्ञान से (बलाय) उत्तम सेना, (श्रियै) सर्वोत्तम लक्ष्मी और (यशसे) सर्वोत्तम कीर्त्ति की प्राप्ति के लिये मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूं कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के अर्थ है इस से सब मनुष्य लोग इस का यथावत् प्रचार करें ॥ ४ ॥ हे महाराजेश्वर! आप (कोसि कतमोसि) सुखस्वरूप अत्यन्त आनन्दकारक हैं हम लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिये (सुश्लोक) हे सर्वोत्तम कीर्त्ति के देने वाले! तथा (सुमङ्गल) शोभनमङ्गलरूप आनन्द के करने वाले जगदीश्वर! (सत्यराजन्) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करने वाले! हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देने वाले आप ही हैं (कस्मैत्वाकायत्वा) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठ विचार और आनन्द के लिये हम लोगों ने आप का शरण लिया है क्योंकि इसी से हम को पूर्ण राज्य और सुख निस्सन्देह होगा ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि (शिरो मे श्री) श्री मेरा शिरस्थानी (यशो मुख) उत्तम कीर्त्ति मेरा मुखवत (त्विषि केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यगुणों का प्रकाश मेरे केश और डाढी मूछ के समान तथा (राजा मे प्राण) जो ईश्वर सब का आधार और जीवनहेतु है वही प्राणप्रिय मेरा राजा (अमृतꣳसम्राट्) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है वही मेरा चक्रवर्त्ती राजा तथा (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) जो अनेक सत्यविद्याओं के प्रकाशयुक्त मेरा श्रोत्र है वही मेरी आंख है ॥ ६ ॥

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्तौ मे कर्म वीर्य्यम् । आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥ पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी । ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥ य० अ० २० मं० ७ । ८ ॥

भाष्यम्

(बाहू मे बल) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहुवदस्ति (इन्द्रियꣳहस्तौ मे) शुद्धं विद्यायुक्तं मनः श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत् (कर्म वीर्य्यं) यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत् (आत्मा क्षत्रमुरो मम) यन्मम हृदयं तत् क्षत्रवत् ॥ ७ ॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) यद्राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत् (उदरमꣳसौ) यौ सेनाकोशौ स्तस्तत्कर्म मम हस्तमूलोदरवत् (ग्रीवाश्चश्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन भूषणं पुरुषार्थीकरणं तत्कर्म मम नितम्बाङ्गवत् (ऊरू अरत्नी) यत्प्रजायाः व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरन्त्यङ्ग वदस्ति (जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) यत्प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणं तन्मम कर्म जानुवत् । एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावय ववत् सन्ति । यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति तथा प्रजापालने च स्वकीया बुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(बाहू मे बल) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा (इन्द्रियꣳहस्तौ) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन है वे मेरे हाथो के समान (आत्माक्षत्रमुरो- मम) जो राजधर्म शौर्य्य धैर्य्य और हृदय का ज्ञान है यही सब मेरे आत्मा के समान है ॥ ७ ॥ (पृष्ठीर्मे राष्ट्र) जो उत्तम राज्य है सो मेरी पीठ के समतुल्य (उदरमꣳसौ) जो राज्य सेना और कोश है वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान तथा (ग्रीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है सो मेरे कण्ठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य (ऊरू अरत्नी) जो प्रजा को व्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है सो ही अरत्नी और ऊरू अङ्ग के समान तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना यह मेरी जानु के समान है (विशो- मेऽङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजा पालन मे उत्तम कर्म करते हैं ये सब मेरे अङ्गों के समान है ॥ ८ ॥

प्रति क्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु । प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे प्रतिद्यावा- पृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे ॥ १० ॥ त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳ- हवेहवे सुहवꣳशूरमिन्द्रम् । ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳ स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥ ११ ॥ य० अ० २० मं० १० । ५० ॥

भाष्यम्

(प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते क्षत्रे प्रतिष्ठितो भवामि विद्याधर्मप्रचारिते देशे च (प्रत्यश्वेषु) प्रत्यश्वं प्रतिगा च तिष्ठामि (प्रत्यङ्गेषु) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रतितिष्ठामि तथा चास्मानसात्मानं प्रतितिष्ठामि (प्रतिप्राणे०) प्राणं प्राणं प्रत्येव पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रतितिष्ठामि (प्रति द्यावापृथिव्योः) दिवं दिवं प्रति पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठाम्यहमेव सर्वत्र व्यापकोऽस्मीति । मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाभ्युदयौ भवतः । एवं राजपुरुषैश्चापि प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रक्षणीयो यतोऽन्यायाविद्याविनाशः स्यादिति ॥ १० ॥

(त्रातारमिन्द्र०) यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं परमैश्वर्य्यवन्तं (सुहवꣳशूरमिन्द्रं) सुहवं शोभनयुद्धकारिणमत्यन्तशूरं जगतो राजानमनन्तबलवन्तं (शक्रं) शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं च (पुरुहूतं) बहुभिः शूरैः सुसेवितं (इन्द्रं) न्यायेन राज्यपालकं (इन्द्रꣳहवेहवे) युद्धे युद्धे स्वविजयार्थं इन्द्रं परमात्मनं (ह्वयामि) आह्वयामि आश्रयामि (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति (धातु) निरन्तरं विजयसुखं दधातु ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा से न्यायपूर्वक राज्य करते हैं उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष है मैं उन के क्षात्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूं और वे सदा मेरे समीप रहते हैं (प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु०) उन की सेना के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूं (प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन्) तथा सब सेना राजा के अंगों और उन के आत्माओं के बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूं (प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे) उन के प्राण और पुष्टव्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूं (प्रतिद्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे) जितना सूर्य्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं इन सब के बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक

होने से प्रतिष्ठित रहता हूं इस प्रकार से तुम लोग मुझ को सब स्थानों में परिपूर्ण देखो ॥ १० ॥ जिन लोगो की ऐसी निष्ठा है उनका राज्य सदा बढ़ता है (त्रातारमिन्द्र) जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है (अविता) जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला है (सुहव᳖शूरमिन्द्र᳖ हवे हवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रतियुद्ध में जो उत्तम युद्ध करानेवाला शूरवीर और हमारा राजा है (ह्वयामि शक्र पुरुहूतमिन्द्र) जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है जिस का सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं वही हमारा सब प्रकार से राजा है (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उन का पराजय कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

इमं देवा असपत्नᳬसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳬराजा ॥ १२ ॥ य० अ० ९ मं० ४० ॥ इन्द्रो जयाति न पराजयाता अधिराजो राजसु राजयातै। चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १३ ॥ त्वमिन्द्राधिराज श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्। त्वं दैवीर्विश इमा विराजा युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ६ अनु० १० व० ९८। मं० । १ । २ ॥

भाष्यम्

(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासद (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय (महते जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्य्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इम) (असपत्नᳬसुवध्वम्)

इमं प्रत्यक्षं शत्रूपद्रवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्म्मं सुवध्वमीशिध्वमैश्वर्य्य-हितं कुरुत यूयमप्येव जानीत (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳬराजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सौम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु । हे सभासदः (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्यप्येवमाज्ञा श्राव्या (एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च स सभासद् कोय राजसभाध्यक्षहार एव राजास्तीति । एतदर्थं वय. (इममसुष्यपुत्रममुष्यै पुत्र) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्या स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति ॥ १२ ॥ (इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु (न पराजयाते) स मा कदाचित्पराजयं प्राप्नोतु (अधिराजो राजसु राजया-ते) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्त्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्व-कीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् । (चर्क्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योऽस्ति (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः (वन्द्यश्च) पूजनीयः (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति (भवेह) हे महाराजेश्वर त्वमुत्तमप्रकारेणा-स्मिन् राज्ये सत्कृतो भव [भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् च-क्रवर्त्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम] ॥ १३ ॥ (त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोसि श्रव इवाचरतीति सर्वस्य श्रो-ता च स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन् त्वं भूः सदा भवसि यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु (त्वं दैवीर्विश इमा विराजाः) हे जगदीश्वर यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना विविधोत्तमराजपालिताः प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्य-न्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे महारा-जाधिराजेश्वर तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्र-मस्ति तदिदं भवद्दत्तमस्माकमस्त्विति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं मद्रचितं भू-गोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु ॥ २४ ॥

भाषार्थ

(इमं देवा असपत्न०) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्य व्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि हे विद्वान् लोगो ! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य

होने से प्रतिष्ठित रहता हूं इस प्रकार से तुम लोग मुझ को सब स्थानों में परिपूर्ण देखो ॥ १० ॥ जिन लोगो की ऐसी निष्ठा है उनका राज्य सदा बढ़ता है (त्रातारमिन्द्र) जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है (अविता) जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला है (सुहव॑ᳬशूरमिन्द्रᳬ हवे हवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रतियुद्ध में जो उत्तम युद्ध करानेवाला शूरवीर और हमारा राजा है (ह्वयामि शक्र पुरुहूतमिन्द्र) जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है जिस का सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं वही हमारा सब प्रकार से राजा है (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उन का पराजय कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

इ॒मं दे॑वा अस॒प॒त्नᳬसु॑वध्वं मह॒ते क्ष॒त्राय॑ मह॒ते ज्यैष्ठ्या॑य मह॒ते जान॑राज्या॒येन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॑। इ॒मम॒मुष्य॑ पु॒त्रम॒मुष्यै॑ पु॒त्रम॒स्यै वि॒श ए॒ष वो॑ऽमी राजा॒ सोमो॒ऽस्माकं॑ ब्राह्म॒णाना॒ᳬराजा॑ ॥ १२ ॥ य० अ० ९ मं० ४० ॥ इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै । च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो॑ भवे॒ह ॥ १३ ॥ त्वमि॑न्द्राधिरा॒ज श्र॑व॒स्युस्त्वं भू॑र॒भिभू॑ति॒र्जना॑नाम् । त्वं दैवी॒र्विश॑ इ॒मा वि रा॑जा॒ युष्म॑त्क्ष॒त्रम॒जरं॑ ते अस्तु ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ६ अनु० १० व० ९८ । मं० । १ । २ ॥

भाष्यम्

(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासद (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तमानवृद्धव्यवहारस्थापनाय (महते जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्य्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इम) (असपत्नᳬसुवध्वम्)

इमं प्रत्यक्षं शत्रूपद्रवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्म्मं सुवध्वमीशिध्वमैश्वर्य्य-हितं कुरुत यूयमप्येवं जानीत (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳬं राजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सौम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजाऽस्तु । हे सभासदः (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्यप्येवमाज्ञा श्राव्या (एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च स सभासद् कोऽयं राजसभाव्यवहार एव राजास्तीति । एतदर्थं वयं (इममुष्यपुत्रममुष्यै पुत्रं) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति ॥ १२ ॥ (इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयानि विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु (न पराजयाते) स मा कदाचित्पराजयं प्राप्नोतु (अधिराजो राजसु राजयाते) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्त्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् । (चर्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योऽस्ति (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः (वन्द्यश्च) पूजनीयः (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति (भवेह) हे महाराजेश्वर त्वमुत्तमप्रकारेणाऽस्मिन् राज्ये सत्कृतो भव [भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्त्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम] ॥ १३ ॥ (त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोऽसि श्रव इवाचरतीति सर्वस्य श्रोता च स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन् त्वं भूः सदा भवसि यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु (त्वं दैवीर्विश इमा विराजाः) हे जगदीश्वर यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना विविधोत्तमराजपालिताः प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवद्दत्तमस्माकमस्त्विति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं मद्रचितं भूगोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु ॥ २४ ॥

भाषार्थ

(इमं देवा असपत्न०) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्य व्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि हे विद्वान् लोगो ! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य

होने से प्रतिष्ठित रहता हूं इस प्रकार से तुम लोग मुझ को सब स्थानों में परिपूर्ण देखो ॥ १० ॥ जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है उनका राज्य सदा बढ़ता है (त्रातारमिन्द्र) जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है (अविता) जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला है (सुहवꣳशूरमिन्द्रꣳ हवे हवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रतियुद्ध में जो उत्तम युद्ध करानेवाला शूरवीर और हमारा राजा है (ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्र) जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है जिस का सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं वही हमारा सब प्रकार से राजा है (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उन का पराजय कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

इमं देवा असपत्नꣳसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा ॥ १२ ॥ य० अ० ९ मं० ४० ॥ इन्द्रो जयाति न पराजयाता अधिराजो राजसु राजयातै। चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १३ ॥ त्वमिन्द्राधिराज श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्। त्वं दैवीर्विश इमा विराजा युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ६ अनु० १० व० ९८। मं० । १ । २ ॥

भाष्यम्

(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासद (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय (महते जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्य्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इमं) (असपत्नꣳसुवध्वम्)

इमं प्रत्यक्षं शत्रूद्भवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्म्मं सुवध्वमीशिध्वमैश्वर्य्य-हितं कुरुत यूयमप्येवं जानीत (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु । हे सभासदः (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्यप्येवमाज्ञा श्राव्या (एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च स सभासद्कोऽयं राजसभाव्यवहार एव राजास्तीति । एतदर्थं वयं (इममुष्यपुत्रममुष्यै पुत्रं) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति ॥ १२ ॥ (इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु (न पराजयाते) स मा कदाचित्पराजयं प्राप्नोतु (अधिराजो राजसु राजयाते) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्त्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् । (चर्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योऽस्ति (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः (वन्द्यश्च) पूजनीयः (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति (भवेह) हे महाराजेश्वर त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव [भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्त्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम] ॥ १३ ॥ (त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोऽसि श्रव इवाचरतीति सर्वस्य श्रोता च स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन् त्वं भूः सदा भवसि यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु (त्वं दैवीर्विश इमा विराजाः) हे जगदीश्वर यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना विविधोत्तमराजपालिताः प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवद्दत्तमस्माकमस्त्विति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं मद्रक्षितं भूगोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु ॥ २४ ॥

भाषार्थ

(इमं देवा असपत्न०) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्य व्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि हे विद्वान् लोगो ! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य

का ऐसा प्रबन्ध करो कि जिस से तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आजाय (महते क्षत्राय०) हे शूरवीर लोगो ! अपने क्षत्रियधर्म चक्रवर्त्ति राज्य श्रेष्ठकीर्त्ति सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के अर्थ (महते जानराज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक २ राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बडे ऐश्वर्य्य सत्य न्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुवध्वं) अच्छे २ राज्यसबन्धी प्रबन्ध करो कि जिन से सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढता जाय ॥ १२ ॥ (इन्द्रो जयाति) हे बन्धु लोगो ! जो परमात्मा अपने लोगों का विजय कराने वाला (न पराजयाता) जो हम को दूसरों से कभी हारने नहीं देता (अधिराजो) जो महाराजाधिराज (राजसु राजयातै) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हम को भी भूगोल में प्रकाशमान करने वाला है (चर्कृत्य) जो आनन्दस्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करने हारा तथा (ईड्यो वन्द्यश्च) सब मनुष्यों को स्तुति और बदुना करने के योग्य (उपसद्यो नमस्य) सब को शरण लेने और नमस्कार करने के योग्य है (भवेह) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय कराने वाला रक्षक न्यायाधीश और राजा है इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये और हम लोग आप के पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी हो कर आप के राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें ॥ १३ ॥ (त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्यु) हे परमेश्वर ! आप ही सब ससार के अधिराज और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक (त्व भूरभिभूतिर्जनानाम्) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देने वाले (त्व दैवीर्विश इमा विराजाः) आप इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय कराने वाले हैं (युष्मत्क्षत्रमजर ते अस्तु) हे जगदीश्वर ! आप का राज्य नित्य तरुण बना रहे जिससे सब ससार को विविध प्रकार का सुख मिले इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उस की आज्ञा पालन करते हैं उन को वह आशीर्वाद देता है कि मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे आधीन हो ॥ १४ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥१५॥ ऋ० अ० १ अ० ३ व० १८ म० २ ॥ **तं सभा च समितिश्च सेना च ॥१६॥** अथर्व० कां० १५ अनु० २ व० ६ मं० २ ॥ **इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्। ग्रामजितं गोजित**

वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥१७॥ अथर्व० कां० ६ अनु० १० व० ६७ मं० ३ ॥ सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः। त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवम् ॥ १८॥ अथर्व० कां० १९ अनु० ७ व० ५५ मं० ६ ॥

भाष्यम्

(स्थिरा वः०) अस्यार्थे प्रार्थनाविषय उक्तः ॥ १५ ॥ (तं सभा च) राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्येत (समितिश्च) तमनुश्रित्यैव समितिर्युद्धमाचरणीयम् (सेना च) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं ससभाध्यक्षां सभां स्वसेनानीं चानुश्रित्य युद्धं कुर्य्यात् ॥ १६ ॥ ईश्वरः सर्वान्मनुष्यान्प्रत्युपदिशति (सखाय) हे सखायः (इमं वीरमुग्रमिन्द्रं) शत्रूणां हन्तारं युद्धकुशलं निर्भयं तेजस्विनं प्रतिराजपुरुषं तथेन्द्रं परमैश्वर्य्यवन्तं परमेश्वरं (अनुहर्षध्वं) सर्वे यूयमनुमोदयध्वमेव कृत्वैव दुष्टशत्रूणां पराजयार्थं (अनुसरभध्वं) युद्धारम्भं कुरुत कथम्भूतं तं (ग्रामजितं) येन पूर्वं शत्रूणां समूहा जिताः (गोजितं) येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं च जितं (वज्रबाहुं) वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य (जयन्तं) जयं प्राप्नुवन्तं (प्रमृणन्तमोजसा) ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तं (अज्म) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुम ॥ १७ ॥ (सभ्य सभां मे पाहि) हे सभायां साधो परमेश्वर मे मम सभां यथावत् पालय। म इत्यस्मच्छन्दनिर्देशात्सर्वान्मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति (ये च सभ्याः सभासदः) ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां सीदन्तिते ऽस्माकं पूर्वोक्ता त्रिविधा सभां पान्तु यथावद्रक्षन्तु (त्वयेद्गाः पुरुहूत) हे बहुभिः पूजित परमात्मन् त्वया सह ये सभाध्यक्षाः सभासद इद्गा इत राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति त एव सुखं प्राप्नुवन्ति ॥ (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) एवं सभापालितोऽहं सर्वो जनः शतवार्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(स्थिरा वः सन्त्वायुधा०) इस मन्त्र का अर्थ प्रार्थनादि विषय में कर दिया है ॥ १५ ॥ (त सभा च) प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान के सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करे (समितिश्च) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करे तथा (सेना च) जो सेना सेनापति और सभाध्यक्ष हैं वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेनाको बना के सदैव प्रजापालन और युद्ध करे ॥१६॥ ईश्वर सब मनुष्योंको उपदेशक करता है कि (सखाय) हे बन्धुलोगो (इम वीर) हे शूरवीर लोगो न्याय और दृढभक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट कर के (अनुहर्षध्व) शूरवीर लोगों को सदा आनन्द मे रक्खो (उग्रमिन्द्र) तुमलोग अत्यत उग्र परमेश्मर के सहाय से एकसमति होकर (अनुसरभध्व) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो (ग्रामजित) जिसने सब भूगोल तथा (गोजित) सबके मन और इन्द्रियो को जीत रक्खा हैं (वज्रबाहु) प्राण जिस के बाहु और (जयन्त) जो हम सब को जिताने वाला है (अज्म) उसी को इष्ट जान के हम लोग अपना राजा मानें (प्रमृणन्तमोजसा) जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हम को सुख देता है ॥१७॥ (सभ्य सभा मे पाहि) हे सभों के योग्य परमेश्वर आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिये (ये च सभ्याः सभासद) हम लोग जो सभा के सभासद् हैं सो आप की कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छे प्रकार से सत्य न्याय की रक्षा करें (त्वयेद्गा पुरुहूत०) हे सब के उपास्य देव (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) हम लोग आप ही के सहाय से आप की आज्ञा को पालन करते रहें जिस से सपूर्ण आयु को सुख से भोगे ॥ १८ ॥

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सह स्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं मन्द्र ओजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम् ॥१॥ बृहत्पृष्ठं भवति क्षत्रं वै बृहत्क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्धयत्यथो क्षत्रं वै बृहदात्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यद्बृहत्पृष्ठं भवति ॥ २ ॥ ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद्-ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म ॥३॥ ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं पञ्चदश, ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्येण समर्द्धयति तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत् ॥४॥ ऐ० प० ८ कं० २॥

तानहमनु राज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्यायमाहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति ॥ ५ ॥ नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति। ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ॥ ६ ॥ ऐ० पञ्चि० ८। कं० ६। ९ ॥

भाष्यम्

इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपेण लिखिताऽतोऽग्र ऐतरेयशतपथब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते। तद्यथा—(जनिष्ठा उग्रः०) राजसभाया जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मानः श्रेष्ठप्रकृतीन् मनुष्यान् प्रति सदा सुखदाः सौम्या भवेयुः तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो व्यवहारो धार्य इति कुतो यद्राजकर्म्मास्ति तद् द्विविधं भवत्येकं सहस्वद् द्वितीयमुग्रवदर्थात्क्वचिद्देशकालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्त्तव्यम्। क्वचित्तद्विपर्यये राजपुरुषैर्दुष्टेषूग्रो दण्डो निपातनीयश्चैतत्क्षत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति तथा (मन्द्र ओजिष्ठः०) उत्तमकर्मकारिभ्य आनन्दकरो दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चात्युत्तमवीरपुरुषसेनादिपदार्थसामग्र्या सहितो यो राजधर्मोऽस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपमस्ति ॥ १ ॥ (बृहत्पृष्ठ०) यत्क्षत्रं कर्म तत्सर्वेभ्यः कर्मभ्यो बृहन्महदस्ति तथा पृष्ठमर्थाभिर्बलानां रक्षकं सत् पुनरुत्तमसुखकारकं भवति। एतेनोक्तेन च क्षत्रराजकर्म्मणा मनुष्यो राजकर्म्म वर्द्धयति नातोऽन्यथा क्षत्रधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति। तस्मात्क्षत्रं सर्वस्मात्कर्मणो बृहद्यजमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्मात्मवदानन्दप्रदं भवति तथा सर्वस्य संसारस्य निष्कैवल्यं निरन्तरं केवलं सुखसम्पादयितुं यत समर्थं भवति तस्मात्तत्क्षत्रकर्म सर्वेभ्यो महत्तरं भवतीति ॥ २ ॥ (ब्रह्म वै रथन्तर०) ब्रह्मशब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति नैव कदाचित्सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धिरक्षणे भवतः तथा (क्षत्रे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति। नैवास्माद्विना कदाचिद्विद्याया वृद्धिरक्षणे सम्भवतस्तस्माद्विद्याराजव्यवहारौ मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्तुं शक्नुत इति ॥ ३ ॥ (ओजो वा इन्द्रिय०) राज-

पुरुषैर्बलपराक्रमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयान्यर्थोऽजितेन्द्रियतयैव सदैव वर्त्तितव्यम् । कुत ओज एव क्षत्रं वीर्य्यमेव राजन्य इत्युक्तत्वात् । तत्तस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्य्येण राजन्येनेन राजधर्मं मनुष्य समर्द्धयति सर्वैसुखैरेधमानं करोतीदमेव भारद्वाजं भरणीयं वृहद्दर्थान्महत्कर्मास्तीति ॥ ४ ॥ (तानहमनुराज्याय०) सर्वे मनुष्या एवमिच्छा कृत्वा पुरुषार्थं कुर्यु । प रमेश्वरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकाना राज्ञामुपरि राजत्वप्राप्तये (साम्राज्याय) सार्वभौमराज्यकरणाय (भौज्याय) धर्मेन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च (स्वाराज्याय) स्वस्मै राज्यप्राप्तये (वैराज्याय) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्वेन प्रकाशाय (पारमेष्ठ्याय) परमराज्यस्थितये (माहाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय तथा (आधिपत्याय) अधिपतित्वकरणाय (स्वावश्याय) स्वार्थप्रकाशवशत्वकरणाय च । (अतिष्ठाया) अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठा सभा तस्यां सर्वैर्गुणैः सुखैश्च रोहामि वर्द्धमानो भवामीति ॥ ५ ॥ (नमो ब्रह्मणे०) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भ कुर्य्यात् यत् क्षत्रं ब्रह्मण परमेश्वरस्य वशमेति तद्राष्ट्रं समर्द्धं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति । तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते नान्यत्रेत्याह परमेश्वर ।६।

भाषार्थ

इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके इस के आगे वेद की सनातन व्याख्या जो ऐतरेय और शतपथब्राह्मणादि ग्रंथ हैं उन की साक्षी भी यहां लिखते हैं (जनिष्ठा उग्र) राजाओं की सेना और सभा में जो पुरुष हों, वे सब दुष्टों पर तेजधारी श्रेष्ठों पर शान्तरूप सुख दुःख के सहन करने वाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुषार्थी हों क्योंकि दुष्टों पर क्रुद्धस्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना यही राज्य का स्वरूप है ॥ १ ॥ (मन्द्र ओजिष्ठ०) जो आनन्दित और पराक्रमयुक्त होना है वही राज्य का स्वरूप है क्योंकि राज्यव्यवहार सब से बड़ा है इस में शूर वीर आदि गुणयुक्त पुरुषों की सभा और सेना रख कर अच्छे प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिये ॥ २ ॥ (ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण है वही राज्य के प्रबन्धों में सुखप्राप्ति का हेतु होता है इसलिये अच्छे राज्य के होने सेही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है । उत्तम विद्या और न्याय युक्त राज्य का नाम ओज है जिस को दण्ड के भय से उल्लंघन वा अन्यथा कोई नहीं कर सकता क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का

नाम राजन्य है ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं तभी संसार की उन्नति होती है इस के होने और परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राज कर्म चक्रवर्त्तिराज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठि राज्य प्रकाश रूप राज्य, महाराज्य, राजों का अधिपतिरूप राज्य, और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम २ सुख बढ़ते हैं इसलिये उस परमात्मा को मेरा वारवार नमस्कार है कि जिस के अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं ॥ ६ ॥

स प्रजापतिका अथ वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सत्तम पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्धैतदिन्द्रमेव ॥ ७ ॥ सम्राज साम्राज्य भोज भोजपितरं स्वराज स्वाराज्य विराज वैराज्य राजान राजापितर परमेष्ठिन पारमेष्ठ्य क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि पुरां भेत्ताजन्यसुराणां हन्ताजनि ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनीति । ऐतरे० पं० ८ क० १२ ॥ स परमेष्ठी प्राजापत्योऽभवत् ॥ ८ ॥ ऐत० पं० ८ क० १४ ॥ स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः क्षत्रियः सर्वा जितीर्जयति सर्वान् लोकान् विन्दति सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यप्रतिष्ठां परमतां गच्छति साम्राज्य भौज्यं स्वाराज्य वैराज्य पारमेष्ठ्य राज्य महाराज्यमाधिपत्य जित्वास्मिल्लोके स्वयम्भू स्वराडमृतोऽमुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः सभवति यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रिय शापयित्वाऽभिषिञ्चति ॥ ९ ॥ ऐत० प० ८ क० १६ ॥

भाष्यम्

(स प्रजापतिका०) सर्वे सभासद प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्त्तमाना भवेयुः । सर्वे मिलित्वैव विचार कुर्युर्यतो न कदाचित्सुखहानिपराजयौ स्याताम् । यो देवाना विदुषा मध्ये (ओजिष्ठः) पराक्रमवत्तमः (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्टबलसहितः (सहिष्ठः) अतिशयेन सह-

नशीलः (सत्तमः) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः (पारयिष्णुतमः) सर्वेभ्यो युद्धादि-दुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वांस्तारयितृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोस्तीति वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः। तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रतिजानीयुरेव भूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं सर्वैश्वर्यप्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः॥ ७ ॥ (सम्राजं०) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं (साम्राज्यं) सार्वभौमराज्यं (भोजं) उत्तमभोगसाधकं (भोजपितरं) उत्तमभोगानां रक्षकं (स्वराजं) राजकर्मसु प्रकाशमानं सद्विद्यादिगुणैस्स्वहृदये देदीप्यमानं (स्वाराज्यं) स्वकीयराज्यपालनं (विराजं) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं (वैराज्यं) विविधराज्यप्राप्तिकरं (राजानं) श्रेष्ठैश्वर्येण प्रकाशमानं (राजपितरं) राज्ञां रक्षकं (परमेष्ठिनं) परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं (पारमेष्ठ्यं) परमेष्ठिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं, वयमभिषिञ्चामहे। एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुखयुक्तं क्षत्रमजनि प्रादुर्भवतीति। अजनीति छन्दसि लुङ्लङ्लिट इति वर्त्तमानकाले लुङ्। (क्षत्रियोजनि) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः (विश्व०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यक्षः (विशामत्ता०) दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः (पुरां भे०) शत्रुनगराणां विनाशकः (असुराणां हन्ता) दुष्टानां हन्ता हननकर्त्ता (ब्रह्मणो०) वेदस्य रक्षकः (धर्मस्य गो०) धर्मस्यच रक्षकोजनि प्रादुर्भवतीति (स परमेष्ठीप्रा०) स राजधर्मः सभाध्यक्षादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः) अर्थात् परमेश्वर इष्टः करणीयः। न तद्भिन्नोऽर्थः केनचिन्मनुष्येणेष्टः कर्त्तुं योग्योस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः ॥ ८ ॥ यो मनुष्यो राज्यं कर्त्तुमिच्छेत्स (एतेनैन्द्रेण०) पूर्वोक्तेन सर्वैश्वर्य-प्राप्तिनिमित्तेन (महाभिषेकेणा०) अभिषिक्तः स्वीकृतः (क्षत्रियः) क्षत्रधर्मवान् (सर्वा०) सर्वेषु युद्धेषु जयति सर्वत्र विजयं तथा सर्वानुत्तमांल्लोकांश्च विन्दति प्राप्नोति सर्वेषां राज्ञां मध्ये श्रैष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं पूर्वोक्तामप्रतिष्ठां या परेषु शत्रुषु विजयेन हर्षनिमित्ता तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमित्ता सा परमत्ता सभा तां वा गच्छति प्राप्नोति तया सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं महाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिन् लोके चक्रवर्त्ती सार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति तथा शरीरं

त्वाऽस्मिन्स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके परब्रह्मणि स्वयम्भूः स्वाधीनः (स्वराट्) स्वप्रकाशः (अमृत) प्राप्तमोक्षसुखः सन्सर्वान्कामानाप्नोति (आप्तामृतः) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति (परमेणैन्द्रेण) एतेनोक्तेन सर्वैश्वर्येण (शापयित्वा) प्रतिज्ञां कारयित्वा च सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं (महाभिषे०) अभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ

जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रबन्ध मे होता हैं वह सब सुख कारक पदार्थ और वीर पुरुषो से अत्यन्त प्रकाशित होता है (स प्रजापतिका०) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं क्योंकि वही एक परमात्मा सब देवों के बीच में अनंत विद्यायुक्त और अपार बलवान् है तथा अत्यन्त सहनस्वभाव और सब से उत्तम है वही हम को सब दु खो के पार उतार के सब सुखों को प्राप्त करने वाला है उसी परमात्मा को हम लोग अपने राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं तथा जिस का नाम इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्य्ययुक्त है वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्ती राजा और वही हम को भी चक्रवर्त्ति राज्यदेनेवाला है जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करने वाला स्वराट् अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रकाशरूप राज्य का देने वाला है तथा जो विराट् अर्थात् सब का प्रकाशक विविध राज्य का देने वाला है उसी को हम राजा और सब राजाओं का पिता मानते हैं क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है। उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का अधिपति हुआ तथा प्रजाओ का समूह दुष्टों के नगरों का भेदन असुर अर्थात् चोर डाकुओं का ताडन ब्रह्म अर्थात् वेद विद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हू। जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्य कर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता है वह सब युद्धों को जीत लेता है तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बन कर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है जिस से इस लोक

में चक्रवर्त्ति राज्य और लक्ष्मी को भोग के पश्चात् परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महाऐश्वर्ययुक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

क्षत्रं वै स्विष्टकृत् ॥ क्षत्रं वै साम ॥ साम्राज्यं वै साम ॥ श० कां० १२ अ० ८ । ब्रा० २ ॥ ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳराजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्री परिगृहीता भवति । युद्धं वै राजन्यस्य वीर्य्यम् । श० कां० १३ । अ० १ । ब्रा० ५ ॥ राष्ट्रं वा अश्वमेधः ॥ श० कां० १३ । अ० १ । ब्रा० ६ ॥ राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे । श० कां० १३ । अ० १ ॥ ब्रा० ९ ॥

(क्षत्र वै०) क्षत्रमर्थाद्राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत्प्रजापालनं क्रियते तदेव स्विष्टकृदर्थादिष्टसुखकारि (क्षत्रं वै साम०) यद्धि दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्तृ च भवति (साम्राज्य वै०) तदेव श्रेष्ठं राज्यं वर्णयन्ति (ब्रह्म वै०) ब्रह्मार्थाद्वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति । (क्षत्र०) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्य्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुषः क्षत्रधर्मं स्वीकरोति स राजन्यो भवितुमर्हति । (तदस्य ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणै राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति नैव राजधर्मानुष्ठानेनास्याः श्रियः कदाचिन्नाशोऽन्यथात्वे भवतः । (युद्ध वै०) अत्रेदं बोध्यं युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्य्यं बलं भवति नानेन विना महाधनसुखयोः कदाचित्प्राप्तिर्भवति । कुतः । निघ० अ० २ ख० १७ । सङ्ग्रामस्यैव महाधनसञ्ज्ञत्वात् । महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन्स महाधनः सङ्ग्रामो नास्त्यस्माद्विना कदाचित् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः । (राष्ट्रं वा अश्वमेधः) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति ॥ (राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्य्यं महिमानं दधाति तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति तस्मात्कारणाद्राजन्यः

शूरो युद्धोत्सुको निर्भयः (इषव्यः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणे कुशलः (अतिव्याधी) अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणा हिंसका योद्धारोयस्य (महारथः) महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाय रथा यस्येति यस्मिन् राष्ट्रेईदृशो राजन्यो जज्ञे जातोस्ति नैव कदाचित्तस्मिन्भयदुःखे सम्भवतः ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(क्षत्र वै०) राजसभाप्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है वही स्विष्टकृत् अर्थात् अच्छे प्रकार चाहे हुए सुख का करनेवाला होता है। (क्षत्र वै सा०) जो राजकर्म्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करनेवाला है वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है। (ब्रह्म वै०) जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जाननेवाला है वही ब्राह्मण होने के योग्य है। (क्षत्र०) जो इन्द्रियों का जीतनेवाला पण्डित शूरतादि गुणयुक्त श्रेष्ठ वीरपुरुष क्षत्रधर्म को स्वीकार करता है सो क्षत्रिय होने के योग्य है। (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है और उस के खजाने की हानि कभी नहीं होती। (युद्ध वै०) यहां इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है वही उस का बल होता है उस के विना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती क्योंकि निघण्टु मे सङ्ग्राम ही का नाम महाधन है। सो उस को महाधन इसलिये कहते है कि उससे बडे २ उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं क्योंकि विना सग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता और जो न्याय से राज्य का पालन करना है वही क्षत्रियों का अश्वमेध कहाता है किन्तु घोड़े को मार के उस के अगों का होम करना यह अश्वमेध नहीं है (राजन्य एव०) पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्त्ति को धारण करता है तभी सपूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है इसलिये जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहनेवाला निर्भय शस्त्र अस्त्र चलाने में अतिचतुर और जिस का रथ पृथिवी समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने आनेवाला हो ऐसा राजा होता है वहां भय और दुःख नहीं होते ॥

श्रीर्वै राष्ट्रम्। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः। श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम्। विड्वै गर्भो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विड्या

में चक्रवर्त्ति राज्य और लक्ष्मी को भोग के मरणानन्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महाऐश्वर्ययुक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

क्षत्र वै स्विष्टकृत् ॥ क्षत्र वै साम ॥ साम्राज्यं वै साम ॥ श० कां० १२ अ० ८ । ब्रा० २ ॥ ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳराजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्री परिगृहीता भवति । युद्धं वै राजन्यस्य वीर्य्यम् । श० कां० १३ । अ० १ । ब्रा० ५ ॥ राष्ट्रं वा अश्वमेध ॥ श० कां० १३ । अ० १ । ब्रा० ६ ॥ राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे । श० कां० १३ । अ० १ ॥ ब्रा० ९ ॥

(क्षत्र वै०) क्षत्रमर्थाद्राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत्प्रजापालनं क्रियते तदेव स्विष्टकृदर्थादिष्टसुखकारि (क्षत्र वै साम०) यद्धि दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्तृ च भवति (साम्राज्य वै०) तदेव श्रेष्ठ राज्य वर्णयन्ति (ब्रह्म वै०) ब्रह्मार्थाद्वेद परमेश्वर च वेत्ति स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति । (क्षत्र०) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्य्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुष क्षत्रधर्म स्वीकरोति स राजन्यो भवितुमर्हति । (तदस्य ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणै राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलक्ष्मीः परित सर्वतो गृहीता भवति नैव राजधर्मानुष्ठानेनास्याः श्रिय कदाचिन्नाशो न्यथात्वे भवतः । (युद्ध वै०) अत्रेद बोध्य युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्य्य बल भवति नानेन विना महाधनसुखयो कदाचित्प्राप्तिर्भवति । कुतः । निघ० अ० २ ख० १७ । सङ्ग्रामस्यैव महाधनसञ्ज्ञत्वात् । महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन्स महाधनः सङ्ग्रामो नास्माद्विना कदाचित् महती प्रतिष्ठा महाधन च प्राप्नुतः । (राष्ट्र वा अश्वमेधः) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति नाश्व हत्वा तदङ्गाना होमकरणं चेति ॥ (राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्य्य महिमानं दधाति तदा सार्वभौम राज्य कर्तुं समर्थो भवति तस्मात्कारणाद्राजन्यः

है क्योंकि वह वेदो के अनुकूल है और आर्य्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे किंतु वह दोष सभाध्यक्ष सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था, इस लिये वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यत पुरुषार्थ करते थे कि जिस से आर्य्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था और जहा होता था वहा उन्हीं न्यायधीशों को दोष देते थे । यही सब आर्यों का सिद्धान्त है अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्य्यों ने भूगोल मे करोडों वर्ष राज्य किया है, इस मे कुछ सन्देह नहीं ॥

इति सक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषय. ॥

अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो ब्राह्मणोस्य मुखमासीदित्युक्तस्तदर्थश्च तस्यायं शेष ॥ वर्णो वृणोतेः ॥ १ ॥ नि० अ० २ ख० ३ । ब्रह्म हि ब्राह्मणः ॥ क्षत्रꣳहीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः ॥ २ ॥ श० कां० ५ अ० १ । ब्रा० १ ॥ बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्त्तः ॥ वीर्य्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू वीर्य्यं वा एतदपाꣳ रसः ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ३ ॥ इषवो वै दिद्यवः ॥ ३ ॥ श० कां० ५ अ० ४ । ब्रा० ४ ॥

भाष्यम्

वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्य व्रियन्ते ये ते वर्णाः ॥ १ ॥ (ब्रह्म हि ब्राह्मण) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्त पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तथैव (क्षत्रꣳ हीन्द्रः०) क्षत्र क्षत्रियकुलम् । यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्य्यवान् शत्रूणा क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः (राजन्यः) क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥ २ ॥ (मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता (वरुण) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः । इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहूवद् भवेताम् (वा) अथवा वीर्यं पराक्रमो बल चैतदुभय राजन्यस्य क्षत्रियस्य बाहू भवतः । अपा प्राणाना यो रस आनन्दस्त प्रजाभ्यः प्रयच्छत क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते

हन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुमन्यत इति । शत०कां० १३ अ० २ ॥ ब्रा० ३ ॥

(श्रीर्वै राष्ट्रम्) या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भार) सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति (श्रीर्वै राष्ट्रस्यमध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोपि श्रीरेवास्ति (क्षेमो वै रा०) क्षेमो यद्रक्षण तदेव राष्ट्रस्य शयनवन्निरुपद्रव सुखं भवति (विड्वै गभो०) विड् या प्रजा सा गभाख्यास्ति (राष्ट्रं पसो०) यद्राष्ट्रं तत्पसाख्य भवति तस्माद्यद्राष्ट्रसम्बन्धि कर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाहन्त्याममन्तात्करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थाना हरणं करोति (तस्माद्राष्ट्रीवि०) यस्मात्सभया विनैकाकी पुरुषो भवति तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्त्तव्यो नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति तस्मात्सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्त्तुं शक्योस्ति (विशमेवराष्ट्राया०) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विश प्रजामाद्या भक्षणीया भोज्यवत्ताडिता करोति । यस्मात्स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान्पदार्थान् गृह्णन्सन् प्रजायै पीडा ददाति तस्मादेको राष्ट्री विशमत्ति (न पुष्टं पशुम ०) यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति तथैको राजा न मत्तः कश्चिदधिको भवेदितीर्ष्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते तस्मात्सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रमित्येवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादका मन्त्रा बहवः सन्तीति ॥

भाषार्थ

(श्रीर्वै राष्ट्र) श्री जो लक्ष्मी है वही राज्य का स्वरूप सामग्री और मध्य है तथा राज्य का जो रक्षण करना है वही शोभा अर्थात श्रेष्ठभाग कहाता है। राज्यके लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं वहा सब प्रजा दुःखी और उस के उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है, इसी से किसी की उन्नति नहीं होती। इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्य्यों मे श्रीमन्महाराज युधिष्ठिरपर्य्यन्त बराबर चला आया है कि जिसकी साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रथ तथा मनुस्मृत्यादिधर्मशास्त्रों मे यथावत् लिखी है, उनमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है उस को छोड के बाकी सब अच्छा

है क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है और आर्य्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे किंतु वह दोष सभाध्यक्ष सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था, इस लिये वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यत पुरुषार्थ करते थे कि जिस से आर्य्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था और जहा होता था वहा उन्हीं न्यायधीशों को दोष देते थे । यही सब आर्यों का सिद्धान्त है अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्य्यों ने भूगोल मे करोडों वर्ष राज्य किया है, इस मे कुछ सन्देह नहीं ॥

इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः ॥

अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो ब्राह्मणोस्य मुखमासीदित्युक्तस्तदर्थश्च तस्यायं शेष ॥ वर्णो वृणोतेः ॥ १ ॥ नि० अ० २ ख० ३ । ब्रह्म हि ब्राह्मणः ॥ क्षत्रꣳहीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः ॥ २ ॥ श० कां० ५ अ० १ । ब्रा० १ ॥ बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्त्तः ॥ वीर्य्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू वीर्य्यं वा एतदपाꣳ रसः ॥ श० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ३ ॥ इषवो वै दिद्यवः ॥ ३ ॥ श० कां० ५ अ० ४ । ब्रा० ४ ॥

भाष्यम्

वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्य व्रियन्ते ये ते वर्णाः ॥ १ ॥ (ब्रह्म हि ब्राह्मण) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्त पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तथैव (क्षत्रꣳ हीन्द्रः०) क्षत्र क्षत्रियकुलम् । यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्य्यवान् शत्रूणा क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः (राजन्यः) क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥ २ ॥ (मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता (वरुण) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः । इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहूवद् भवेताम् (वा) अथवा वीर्य पराक्रमो बल चैतदुभय राजन्यस्य क्षत्रियस्य बाहू भवतः । अपा प्राणाना यो रस आनन्दस्त प्रजाभ्यः प्रयच्छत क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते

स्य (इषवः) बाणाः शस्त्रास्त्राणामुपलक्षणमेतत् । (दिद्यवः) प्रकाशकाः सदा भवेयु ॥ ३ ॥

भाषार्थ

अब वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है, इस में यह विशेष जानना चाहिये कि प्रथम मनुष्यजाति सब की एक है सोभी वेदो से सिद्ध है इस विषय का प्रमाण सृष्टि विषय में लिख दिया है तथा (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) यह मन्त्र सृष्टि विषय में लिख चुके है। वर्णों के प्रतिपादन करनेवाले वेदमन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रंथों में लिखी है वह कुछ यहा भी लिखते है । मनुष्यजाति के ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये वर्ण कहाते हैं। वेदरीति से इन के दो भेद हैं एक आर्य्य और दूसरा दस्यु; इस विषय मे यह प्रमाण है कि (विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवो०) अर्थात् इस मंत्र से परमेश्वर उपदेश करता है कि हे जीव ! तू आर्य्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्ट स्वभावयुक्त डाकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों के ये दो भेद जान ले तथा (उत शूद्रे उत आर्य्ये) इस मंत्र से भी आर्य्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी जो जो कि शूद्र कहाते हैं; ये दो भेद जाने गये हैं तथा (असुर्या नाम ते लोका०) इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर सग्राम कहते हैं । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण कर्मों से किये गये हैं (वर्णो०) इन का नाम वर्ण इस लिये है कि जैसे जिस के गुण कर्म हों वैसाही उस को अधिकार देना चाहिये (ब्रह्म हि ब्रा०) ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मणवर्ण होता है (क्षत्रꣳ हि०) परमऐश्वर्य (बाहू०) बल वीर्य्य के होने से मनुष्य क्षत्रियवर्ण होता है जैसा कि राजधर्म में लिख आये हैं ॥

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति । ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासभेदात्। ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्याशिक्षा च ग्राह्या गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्य्या । वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विद्याफलविचारणादि च कार्य्यम् । सन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रापणं क्रियते सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि चतुर्भिराश्रमैर्धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिः सम्पादनीया । एतेषां मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्यासुशिक्षादयः शुभगुणाः सम्यग्ग्राह्याः ॥ अत्र ब्रह्मचर्य्याश्रमे प्रमाणम् —

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ॥ तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ १ ॥ इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ॥ ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥ २ ॥ पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ॥ तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० ११ अनु० ३ व० ५ मं० । ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(आचार्य उ०) आचार्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो विद्यापठनार्थमुपवीतं दृढव्रतमुपदिशन्नन्तर्गर्भमिव कृणुते करोति तं तिस्रो रात्रीस्त्रिदिनपर्य्यन्तमुदरे बिभर्त्ति । अर्थात् सर्वां शिक्षां करोति पठनस्य च रीतिमुपदिशति । यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य मानं कुर्वन्ति । अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति ॥ १ ॥ (इयं समित०) इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोऽन्तरिक्षं चानया समिधा स ब्रह्मचारी पृणाति तत्रस्थान् सर्वान् प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति (समिधा) अग्निहोत्रादिना मेखलया ब्रह्मचर्य्यचिन्हधारणेन च (श्रमेण) परिश्रमेण (तपसा) धर्मानुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च (लोका०) सर्वान्प्राणिनः पिपर्त्ति पुष्टान्प्राणिनः पिपर्त्ति पुष्टान्प्रसन्नान्करोति ॥ २ ॥ (पूर्वो जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चरितं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी (घर्मं वसानः) अत्यन्तं तपश्चरन् । ब्राह्मणोऽर्थाद्वेदं परमेश्वरं च विदन् (पूर्वः) सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वं उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति तस्मात्कारणात् (ब्रह्म ज्येष्ठं) ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्मज्येष्ठम् । अमृतेन परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं (ब्राह्मणं) ब्रह्मविदं (जातं) प्रसिद्धं (देवा) सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति ॥ ३ ॥

भाष्यम्

अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है । ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, ये चार आश्रम कहाते है इन में से पाच वा आठ वर्ष की उमर से अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम का समय है इस के विभाग पितृयज्ञ में कहेंगे। वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम जो कि उत्तम गुणो के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और उन को सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ जिस से ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकात में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा सन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब ससार के उपकार के अर्थ किया जाता है ॥ धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारो पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमो का सेवन करना सब मनुष्य को उचित है। इन में से प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है उस के ठीक२ सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते है। इस आश्रम के विषय में वेदो के अनेक प्रमाण हैं उन में से कुछ यहा भी लिखते हैं (आचार्य्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बस के माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है वह प्रथम जन्म कहाता है और दूसरा यह है कि जिस में आचार्य्य पिता और विद्या माता होती है, इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता, इसलिये उस को प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढाने वाले के समीप रहते हैं तभी से उन का नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है क्योकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं उन को आचार्य तीन रात्रिपर्य्यंत गर्भ मे रखता है अर्थात् ईश्वर की उपासना धर्म परस्पर विद्या के पढने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य २ बातें हैं वे सब तीन दिन मे उन को सिखाई जाती हैं। तीन दिन के उपरात उन को देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं ॥ १ ॥ (इय समित्०) फिर उस दिन होम कर के उन को प्रतिज्ञा कराते है कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी सूर्य्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को पालन और पूर्ण करने की इच्छा करता है सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ कर के सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है ॥ २ ॥ (पूर्वो जातो ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व पढ के ब्राह्मण होता है वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी हो कर सब मनुष्यों का

कल्याण करता (ब्रह्म ज्येष्ठ०) फिर उस पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण को जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्सङ्गृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ४ ॥ ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ५ ॥ ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति । आचार्य्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अनड्वान् ब्रह्मचर्य्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥ ७ ॥ ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ ८ ॥ अथर्व० कां० ११ अनु० ३ म० ६ । ७ । १७ । १८ । १९ ॥

भाष्यम्

(ब्रह्मचार्य्येति०) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया (समिधा) विद्यया (समिद्धः) प्रकाशितः (कार्ष्णं) मृगचर्मादिकं (वसानः) आच्छादयन् (दीर्घश्मश्रुः) दीर्घकालपर्य्यन्तं केशश्मश्रूणि धारितानि येन सः (दीक्षितः) प्राप्तदीक्षः (एति) परमानन्दं प्राप्नोति । तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात्समुद्रात् (उत्तरं) गृहाश्रमं समुद्रं (सद्यएति) शीघ्रं प्राप्नोति । एवं निवासयोग्यान्सर्वान् (लोकान्त्स०) सङ्गृह्य मुहुर्वारंवारं (आचरिक्रत्) धर्मोपदेशमेव करोति ॥ ४ ॥ (ब्रह्मचारी०) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेदविद्यां पठन् (अपः) प्राणान् (लोकं) दर्शनं (परमेष्ठिनं) प्रजापतिं (विराजं) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन् (अमृतस्य) मोक्षस्य (योनौ) विद्यायां (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्य्यवत्प्रकाशकः सन् (असुरान्) दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान्पाखण्डिनो जनान् दैत्यरक्षः स्वभावान् (त-

भाष्यम्

अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है । ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, ये चार आश्रम कहाते है इन मे से पाच वा आठ वर्ष की उमर से अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम का समय है इस के विभाग पितृयज्ञ में कहेगे। वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम जो कि उत्तम गुणो के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और उन को सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ जिस से ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकात में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा सन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब ससार के उपकार के अर्थ किया जाता है ॥ धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारो पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमो का सेवन करना सब मनुष्य को उचित है। इन में से प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है उस के ठीक२ सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगडने से नष्ट हो जाते है। इस आश्रम के विषय में वेदो के अनेक प्रमाण है उन में से कुछ यहा भी लिखते है (आचार्य्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बस के माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है वह प्रथम जन्म कहाता है और दूसरा यह है कि जिस में आचार्य्य पिता और विद्या माता होती है, इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता, इसलिये उस को प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढाने वाले के समीप रहते हैं तभी से उन का नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं उन को आचार्य तीन रात्रिपर्य्यंत गर्भ मे रखता है अर्थात् ईश्वर की उपासना धर्म परस्पर विद्या के पढने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य २ बातें हैं वे सब तीन दिन मे उन को सिखाई जाती हैं। तीन दिन के उपरात उन को देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं ॥ १ ॥ (इय समित्०) फिर उस दिन होम कर के उन को प्रतिज्ञा कराते हैं कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी सूर्य्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को पालन और पूर्ण करने की इच्छा करता है सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ कर के सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है ॥ २ ॥ (पूर्वो जातो ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व पढ के ब्राह्मण होता है वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी हो कर सब मनुष्यों का

(ब्रह्मचर्य्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढके और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य्य विद्या पढाने को समर्थ होता है। आचार्य्य उस को कहते हैं कि जो असत्याचार को छुडा के सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढा देता है ॥ ६ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण क०) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्य्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ चुके तब अपनी युवावस्था मे पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनो परस्पर सुख दुःख में सहायकारी हों क्योकि अनड्वान् अर्थात् पशु भी जो पूरी जवानी पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य अर्थात् सुनियम मे रक्खा जाय तो अत्यन्त बलवान् हो के निर्बल जीवो को जीत लेता है ॥ ७ ॥

(ब्रह्मचर्य्येण त०) ब्रह्मचर्य्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म मरण को जीत के मोक्षसुख को प्राप्त हो जाते हैं जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य्य परमेश्वर के नियम मे स्थित होके सब लोकों का प्रकाश करने वाला हुआ है वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य्य से प्रकाशित होके सब को प्रकाशित कर देता है इस से ब्रह्मचर्य्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है ॥ ८ ॥

॥ इति ब्रह्मचर्य्याश्रमविषय संक्षेपत ॥

अथ गृहाश्रमविषयः

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥ ९ ॥ देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ १० ॥ गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः। सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ११ ॥ येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः। गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ १२ ॥ उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥ १३ ॥ य० अ० ३ मं० ४५। ५०। ४१। ४२। ४३ ॥

तर्हं) तिरस्करोति सर्वान्निवारयति । यथेन्द्रः सूर्य्योऽसुरान्मेघान् रात्रिं च निवारयति तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति ॥ ५ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण०) तपसा ब्रह्मचर्य्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति विशिष्टतया प्रजा रक्षितुं योग्यो भवति । आचार्य्योऽपि कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव विद्या प्राप्य ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्य्यान्नान्यथेति ॥ ६ ॥ अत्र प्रमाणम् आचार्य्यः कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा । निरुक्त अ० १ ख० ४ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं स्वसदृशं पतिं विन्दते नान्यथा न चातः पूर्वमसदृशं वा । अनड्वानित्युपलक्षणं वेगवता पशूना ते पशवोऽश्वश्च घासं यथा तथा कृतेन ब्रह्मचर्य्येण स्वविरोधिनः पशून् जिगीषन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति । अतो मनुष्यैस्त्ववश्यं ब्रह्मचर्य्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ७ ॥ (ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा०) देवा विद्वांसो ब्रह्मचर्य्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च मृत्युं जन्ममृत्युप्रभवदुःखमुपाघ्नत नित्यं घ्नन्ति नान्यथा । ब्रह्मचर्य्येण सुनियमेन (हेति किलार्थे) यथा इन्द्रः सूर्य्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्य स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद्धारयति तथा विना ब्रह्मचर्य्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद्भवति । अतो ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः सुखमेधन्ते । अन्यथा मूलाभावे कुतः शाखाः किन्तु मूले दृढे शाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धा भवन्त्येवेति ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(ब्रह्मचार्य्येति०) जो ब्रह्मचारी होता है वही ज्ञान से प्रकाशित तप और बड़े २ केश श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्य्याश्रम का अनुष्ठान है उसके पार उतर के उत्तर समुद्र स्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है और अच्छे प्रकार विद्या का संग्रह करके विचार पूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है ॥ ४ ॥ (ब्रह्मचारी ज०) वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जान के प्राणविद्या लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर जो कि सब से बड़ा और सब का प्रकाशक है उस का जानना इन विद्याओं में गर्भ रूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य्य युक्त होके असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या का छेदन कर देता है ॥ ५ ॥

भाष्यम्

(एषामभि०) एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियत इति । (यद्ग्रामे०) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्तिमत्युत्तमसामाजिक-नियमं सर्वोपकारकं तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं सभासम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च कुर्मस्तत्सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु । यच्च भ्रमेणैनः पापं च कृतं तत्सर्वमिदं पापमवयजामहे आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः ॥ ९ ॥ (देहि मे०) परमेश्वर आज्ञापयति हे जीव त्वमेवं वद मे मह्यं देहि मत्सुखार्थं विद्या द्रव्यादिकं च त्वं देहि । अहमपि ते तुभ्यं ददामि मे मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदान-मुदारतां सुशीलतां च धेहि धारय । ते तुभ्यं त्वदर्थमहमप्येवं च दधे । तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ । तथैवाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि ददानि । स्वाहेति सत्यभाषणं सत्यमानं सत्याचरणं सत्यवचनश्रवणं च सर्वं वयं मिलित्वा कुर्य्यामेति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्य्युः ॥ १० ॥ (गृहा०) हे गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत गृहाश्रमानुष्ठाने (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत तथा (मा वेपध्वं) मा कम्पध्वं (ऊर्जं बिभ्रत एमसि) ऊर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः पदार्थानेमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत (ऊर्जंबिभ्रद्वः) वो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं बिभ्रत्सन् (सुमनाः) शुद्धमनाः सुमेधोत्तमबुद्धियुक्तः (मनसा मोदमानः) प्राप्तानन्दः (गृहानैमि) गृहाणि प्राप्नोमि ॥ ११ ॥ (येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनुष्यस्य (बहुः) अधिकः (सौमनसः) आनन्दो भवति । तत्र प्रवसन् येषां यान्पदार्थान्सुख-कारकान्स (अध्येति) स्मरति (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः सखिबन्ध्याचार्य्यादीन्निमन्त्रयामहे । (ते नः) विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञानस्मान् (जानतः) प्रौढज्ञानान् युवा-वस्थान्स्वेच्छया कृतविवाहान् ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्त्विति ॥ १२॥ (उपहूता इह०) हे परमेश्वर भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे (गावः) पशुपृथिवीन्द्रियविद्याप्रकाशाह्लादादयः (उपहूताः) अर्थात्सम्यक् प्राप्ता भवन्तु तथा (अजावयः) उपहूता अस्मदनुकूला भवन्तु (अथो अन्नस्य की०) अथो इति पूर्वोक्तपदार्थप्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमूहस्य कीला

लो विशेषेणोत्तमरस उपहूतः सम्यक् प्राप्तो भवतु (क्षेमाय वः शान्त्यै०) वो युष्मानत्र पुरुषव्यत्ययोऽस्ति तान्पूर्वोक्तान्प्रत्यक्षान्पदार्थान् (क्षेमाय) रक्षणाय (शान्त्यै) सुखाय प्रपद्ये प्राप्नोमि तत्प्राप्त्या (शिव) निःश्रेयसकल्याण पारमार्थिक सुख (शग्म) सांसारिकमाभ्युदयिक सुख च प्राप्नुयाम् । शयोः शर्मेति निघण्टौ पदनामास्ति । परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नति कुर्म्मः ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(यद्ग्रामे०) गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे और वे दोनो यथावत् उन विवाह के नियमों में चलें जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं परन्तु उन से जो विशेष कहना है सो यहां लिखते हैं। गृहस्थ स्त्री पुरुषों को धर्म उन्नति और ग्रामवासियों के हित के लिये जो २ काम करना है तथा (यदरण्ये) वनवासियों के साथ हित और (यत्सभायाम्) सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये (यदिन्द्रिये०) जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये, सो २ सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें और (यदेनश्चकृ०) पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन वचन और कर्म से छोड़ कर सर्वथा सब के हितकारी बनें ॥ ६ ॥ परमेश्वर उपदेश करता है कि (देहि मे०) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक २ चलना है यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है। जो वस्तु किसी से लेवें अथवा देवे सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें (निमे धेहि निते दधे) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूंगा और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये (निहार च हरासि मे नि०) यह वस्तु मेरे लिये तू दे वा तेरे लिये मैं दूंगा इस को भी यथावत् पूरा करे अर्थात किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सब के हितकारी काम करते हैं उन की सदा उन्नति होती है॥१०॥ (गृहा मा बिभीत०) हे गृहाश्रम की इच्छा करने वाले मनुष्य लोगो! तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह कर के गृहाश्रम को प्राप्त हो और उस से डरो वा कम्पो मत किन्तु उस से बल पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो तथा गृहाश्रमी

पुरुषों से ऐसा कहो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त हो कर गृहाश्रम करूं ॥ ११ ॥ (येषामध्येति०) जिन घरों में वसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है उन में वे मनुष्य अपने सम्बन्धी मित्र बन्धु और आचार्य्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्य्यों में सत्कार से बुला कर उन से यह इच्छा करते हैं कि ये सब हम को युवावस्था युक्त और विवाहादि नियमों में ठीक २ प्रतिज्ञा करनेवाले जानें अर्थात् हमारे साक्षी हों ॥ १२ ॥ (उपहू०) हे परमेश्वर! आप की कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, बकरी, और भेड आदि पदार्थ अच्छे प्रकार से प्राप्त हों तथा हमारे घरों में उत्तम रस युक्त खाने, पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें (वः) यह पद पुरुष व्यत्यय से सिद्ध होता है हम लोग उक्त पदार्थों को उन की रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों फिर उस प्राप्ति से हम को परमार्थ और संसार का सुख मिले (शयो) यह निघण्टु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है ॥ १३ ॥

इति गृहाश्रमविषयः संक्षेपत ॥

अथ वानप्रस्थविषयः संक्षेपत ॥

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ॥ छान्दोग्य० प्र० २ खं० २३ ॥

भाष्यम्

(त्रयो धर्म०) अत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति। अध्ययनं यज्ञः क्रियाकाण्डं दानं च । तत्र प्रथमो ब्रह्मचारी तपः सुशिक्षाधर्मानुष्ठानेनाचार्य्यकुले वसति । द्वितीयो गृहाश्रमी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात् स वानप्रस्थाश्रमी ॥ एते सर्वे ब्रह्मचर्य्यादयस्त्रय आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासा सुखयुक्ता भवन्ति पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसङ्ख्या आयते ॥ब्रह्मचर्य्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादिं सम्यङ् निश्चित्य गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धि

च कृत्वा ततो नवमेकान्तं गत्वा सम्यक् सत्यासत्यवस्तुव्यवहारान्निश्चित्य वानप्रस्थाश्रमं समाप्य सन्न्यासी भवेत्।अर्थाद् ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृहीभवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेदित्येकः पक्षः । (यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा) अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रमसकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं सन्न्यासं गृह्णीयादिति द्वितीयः पक्षः। ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् सम्यग्ब्रह्मचर्य्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा सन्न्यासाश्रमं गृह्णीयादिति तृतीयः पक्षः। सर्वत्रान्याश्रमविकल्प उक्तः परन्तु ब्रह्मचर्याश्रमनुष्ठानं नित्यमेव कर्त्तव्यमित्यायाति । कुतः—ब्रह्मचर्य्याश्रमेण विनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः ॥

भाषार्थ

(त्रयो धर्म०) धर्म के तीन स्कन्ध हैं एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्तधर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना दूसरा आचार्य्यकुल में बस के विद्या पढ़ना और तीसरा परमेश्वर का ठीक २ विचार करके सब विद्याओं को जान लेना। इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है तथा संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं उन में एक यह है कि जो विषय भोग किया चाहे वह ब्रह्मचर्य्य गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को कर के सन्न्यास ग्रहण करे दूसरा (यदहरेवप्र०) जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हट कर ठीक २ सत्य मार्ग में निश्चित होजाय उस समय गृहाश्रम से भी सन्यास हो सकता है और तीसरा जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे तो ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही सन्यास ग्रहण करले॥

ब्रह्मसँस्थोऽमृतत्वमेति। छान्दो० प्रपा० २ ख० २३ ॥ तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति। ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणाः। अनूचाना विद्वाँस प्रजाँ न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक

इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवत । श० कां० १४ अ० ७ब्रा० २ ॥

भाष्यम्

(ब्रह्मसंस्थः०) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः सन्न्यासी (अमृतत्वमेति) प्राप्नोति (तमेत वेदा०) सर्वे आश्रमिणो विशेषतः सन्न्यासिनस्तमेतं परमेश्वरं सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुमिच्छन्ति । (ब्रह्मचर्य्येण०) ब्रह्मचर्य्येण तपसा धर्मानुष्ठानेन श्रद्धयाऽत्यन्तप्रेम्णा यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति ॥ प्रव्राजिनः सन्न्यासिन एनं यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रव्रजन्ति सन्न्यासाश्रमं गृह्णन्ति (एतद्ध ब्रह्म०) य एतदिच्छन्तः सन्तः पूर्वे अत्युत्तमा ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निश्शङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति (ते ह स्म०) हेति स्फुटे स्मेति स्मयेते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं प्रजया किं करिष्यामः किमपि नेत्यर्थः । येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो लोको दर्शनीयश्चास्ति । एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तैषणायाश्च) जडधनप्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्य्यं च०) सन्न्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति । यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणालोकैषणे भवत । यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येषणेच्छास्ति तस्यैतास्तिस्रो निवर्त्तन्ते । नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद्भवितुमर्हति । यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति । सर्वान्मनुष्याननुग्रह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति ॥

भाषार्थ

(तमेत) जो कि वेद को पढ के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं ।

(ब्रह्मसंस्थः) वे सन्यासी लोग मोक्षमार्गको प्राप्त होते तथा (ब्रह्मच०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य्य, धर्मानुष्ठान श्रद्धा यज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् सन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये सन्यास लेते हैं जो उन में उत्तम पूर्ण विद्वान् है वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य्य आश्रम से ही सन्यासी हो जाते हैं और उन के उपदेश से जो पुत्र होते हैं उन्हीं को सब से उत्तम मान कर (पुत्रैषणा) अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की इच्छा (वित्तैषणा) अर्थात् धन का लोभ (लोकैषणा) अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड के वे भिक्षाचरण करते है अर्थात् सर्वगुरु सब के अतिथि होके विचरते हुए ससार को अज्ञानरूपी अंधकार से छुडा के सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं ॥

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति शतपथे श्रुत्यक्षराणि ॥ यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १ ॥ मुण्डकोपनि० मुण्डके ३ ख० १ मं० १० ॥

भाष्यम्

(प्राजापत्या०) स च सन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य तस्यां (सर्ववेदसं) शिखासूत्रादिकं हुत्वा मुनिर्मननशील सन् प्रव्रजति सन्यासं गृह्णाति । परन्त्वत्र पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां सन्यासग्रहणाधिकारो भवति नाल्पविद्यानामिति । तेषां सन्यासिनां प्राणापानहोमो दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम् । किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं यद्वाह्यक्रियासयमस्ति सन्यासिनां तन्न। सत्योपदेश एव सन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः । देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम् । विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञः । सर्वेभ्यो ज्ञानदानं सर्वेषां भूतानामुपर्य्यनुग्रहो-ऽपीडनं च भूतयज्ञः । सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यता सत्योपदेश-करणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः । एवं लक्षणाः पञ्च महायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम् । परन्त्वेकस्याद्वितीयस्य सर्व-शक्तिमदादिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वे-

इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। श० कां० १४ अ० ७ब्रा० २ ॥

भाष्यम्

(ब्रह्मसꣳस्था०) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः सन्न्यासी (अमृतत्वमेति) प्राप्नोति (तमेतं वेदा०) सर्वे आश्रमिणो विशेषतः सन्न्यासिनस्तमेतं परमेश्वरं सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुमिच्छन्ति। (ब्रह्मचर्य्येण०) ब्रह्मचर्य्येण तपसा धर्मानुष्ठानेन श्रद्धया ऽत्यन्तप्रेम्णा यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति ॥ प्रव्राजिनः सन्न्यासिन एनं यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रव्रजन्ति सन्न्यासाश्रमं गृह्णन्ति (एतद्ध ब्रह्म०) य एतदिच्छन्तः सन्तः पूर्वे अत्युत्तमा ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निश्शङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति (ते ह स्म०) हेति स्फुटं स्मेति स्मयेते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं प्रजया किं करिष्यामः किमपि नेत्यर्थः। येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो लोको दर्शनीयश्चास्ति। एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तैषणायाश्च) जडधनप्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्य्यं च०) सन्न्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति। यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणालोकैषणे भवतः। यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येषणेच्छास्ति तस्यैतास्तिस्रो निवर्त्तन्ते। नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद्भवितुमर्हति। यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति। सर्वान्मनुष्याननुगृह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति ॥

भाषार्थ

(तमेतं) जो कि वेद को पढ़ के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं।

(ब्रह्मसंस्थ०) वे सन्यासी लोग मोक्षमार्गको प्राप्त होते तथा (ब्रह्मच०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य्य, धर्मानुष्ठान श्रद्धा यज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् सन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये सन्यास लेते हैं जो उन में उत्तम पूर्ण विद्वान् है वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य्य आश्रम से ही सन्यासी हो जाते हैं और उन के उपदेश से जो पुत्र होते हैं उन्हीं को सब से उत्तम मान कर (पुत्रैषणा) अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की इच्छा (वित्तैषणा) अर्थात् धन का लोभ (लोकैषणा) अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड के वे भिक्षाचरण करते है अर्थात् सर्वगुरु सब के अतिथि होके विचरते हुए ससार को अज्ञानरूपी अंधकार से छुडा के सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं ॥

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति शतपथे श्रुत्यक्षराणि ॥ यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्माद्दात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १ ॥ मुण्डकोपनि० मुण्डके ३ ख० १ मं० १० ॥

भाष्यम्

(प्राजापत्या०) स च सन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य तस्यां (सर्ववेदसं) शिखासूत्रादिकं हुत्वा मुनिर्मननशील सन् प्रव्रजति सन्यासं गृह्णाति । परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां सन्यासग्रहणाधिकारो भवति नाल्पविद्यानामिति । तेषां सन्यासिनां प्राणापानहोमो दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम् । किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं यद्बाह्यक्रियामयमस्ति-सन्यासिनां तन्न । सत्योपदेश एव सन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः । देवयज्ञो-ब्रह्मोपासनम् । विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञः । सर्वेभ्यो ज्ञानदानं सर्वेषां भूतानामुपर्य्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः ।सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यता सत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः।।एवं लक्षणाः पञ्च महायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम् । परन्त्वेकस्याद्वितीयस्य सर्वशक्तिमदादिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वे-

षामात्मज्ञिनामेकमेव भवतीत्यय विशेषः ॥ (विशुद्धस०) शुद्धान्तःकरणो मनुष्यः (य य लोक मनसा) ध्यानेन सविभाति इच्छति (कामयते यांश्च कामान्) यांश्च मनोरथानिच्छति त त लोक ताश्च कामान् (जायते) प्राप्नोति तस्मात् कारणाद् (भूतिकामः) ऐश्वर्य्यकामो मनुष्यः (आत्मज्ञ) आत्मान परमेश्वर जानाति त सन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत् सत्कुर्य्यात् । तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणा सुखप्रदा लोका कामाश्च सिद्धा भवन्तीति । तद्भिन्नान् मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान् पाखण्डिन कोपि नैवार्चयेत् । कुतः, तेषासत्कारस्य निष्फलत्वाद्दुःखफलत्वाच्चेति ॥

भाषार्थ

(प्राजापत्या०) अर्थात् इस इष्टि में शिखा सूत्रादि का होम करके गृहस्थ आश्रम को छोड़ के विरक्त होकर सन्यास ग्रहण करें । (य य लोक०)वह शुद्ध मन से जिस २ लोक और कामना की इच्छा करता है वे सब उस की सिद्ध हो जाती है इसलिये जिस को ऐश्वर्य्य की इच्छा हो वह आत्मज्ञ अर्थात ब्रह्मवेत्ता सन्यासी की सेवा करे । ये चारों आश्रम वेदो और युक्तियों से सिद्ध है क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढने में व्यतीत करना चाहिये और पूर्ण विद्या को पढ कर उस से ससार की उन्नति करने के लिये गृहाश्रम भी अवश्य करें तथा विद्या और ससार के उपकार के लिये एकात मे बैठ कर सब जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है उस का ज्ञान अच्छे, प्रकार करे और मनुष्यो को सब व्यवहारों का उपदेश करें फिर उन के सब सदेहों का छेदन और सत्य बातो के निश्चय कराने के लिये सन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करे क्योकि इस के विना सपूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है ॥

इत्याश्रमविषय सक्षेपत ॥

अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

ये पञ्चमहायज्ञाः मनुष्यैर्नित्य कर्त्तव्याः सन्ति तेषा विधान सक्षेपतोऽत्र लिखामः । तत्र ब्रह्मयज्ञस्याय प्रकारः—साङ्गाना वेदादि शास्त्राणा सम्यगध्ययनमध्यापन सन्ध्योपासन च सर्वै कर्त्तव्यम् । तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठनपाठनविषय उक्तस्तादृशो ग्राह्यः । सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने यादृश उक्तस्तादृश

कर्त्तव्यः। तथाग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्तस्तादृश एव कर्त्तव्यः। अत्र अस्त्यग्न्याग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते ॥

सुमिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयुतातिथिम्। आस्मिन् हुव्या जुंहोतन ॥ १ ॥ य० अ० ३ मं० १ ॥ अग्निं दूतं पुरोदंधे हव्यवाहुमुपंब्रुवे देवाँ २॥ आसादयादिह ॥ २ ॥ य० अ० २२ मं० १७ ॥ सायंसायं गृहपंतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनुस्यं दाता। वसोर्वसोर्वसुदानं एधि वयन्त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ ३ ॥ प्रातःप्रातर्गृहपंतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनुस्यं दाता। वसोर्वसोर्वसुदानं एधीन्धानास्त्वा शुतंहिमा ऋधेम ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १९ अनु० ७ मं ३। ४ ॥

भाष्यम्

(समिधाग्निं०) हे मनुष्याः ! वाय्वोषधिवृष्टिजलशुद्ध्या परोपकाराय (घृतैः) घृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत नित्यं प्रदीपयत (अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) होतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगन्धरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (आ जुहोतन) आ समन्ताज्जुहुत। एवमग्निहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत। अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत ॥ १ ॥ (अग्निं दूतं०) अग्निहोत्रकर्त्तैवमिच्छेदहं वायौ मेघमण्डले च भूतद्रव्यस्य प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् (पुरोदधे) सम्मुखतः स्थापये कथम्भूतमग्निं (हव्यवाहं) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाट् तं (उपब्रुवे) अन्यान् जिज्ञासून्प्रत्युपदिशानि (देवान्) सोऽग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मिन् संसार आसादयादासमन्तात्प्रापयति यद्वा। हे परमेश्वर ! (दूतं सर्वेभ्यः सत्योपदेशकं) (अग्निं) अग्निसञ्ज्ञकं त्वां (पुरोदधे) इष्टत्वेनोपास्य मन्ये तथा (हव्यवाहं) ग्रहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं तद् वहति प्रापयतीति तं त्वां (उपब्रुवे) उपदिशानि स भवान् कृपया (इह) अस्मिन् संसारे (देवान्) दिव्यगुणान् (आसादयात्) आ समन्तात् प्रापयतु ॥ २ ॥

(नः) अस्माकमयं (अग्निः) भौतिकः परमेश्वरश्च गृहपतिर्गृहात्मपालकः प्रातः सायं परिचरितः सूपासितश्च । (सौमनस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च दातास्ति । अत एव परमेश्वरः (वसुदानः) इति नाम्नाख्यायते । हे परमेश्वरैवम्भूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव । तथा भौतिकोप्यग्निरत्र ग्राह्यः (वयन्त्वे०) हे परमेश्वर ! एवं (त्वा) त्वामिन्धानाः प्रकाशमानाः वयं (तन्वं) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम । तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः ॥ ३ ॥ (प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः । अत्र विशेषस्त्वयम् । एवमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः (शतहिमा०) शतं हिमा हेमन्तर्त्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत्स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्धेमहि । एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्धानिर्न भवेदितीच्छामः ॥ ४ ॥ अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च संगृह्य तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातःसायङ्कालयोः प्रातरेव वोक्तमन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्यात् ॥

भाषार्थ

अब पञ्चमहायज्ञ अर्थात् जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहियें उन का विधान संक्षेप से लिखते हैं। उन में से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है जिस में अङ्गों के सहित वेदादि शास्त्रों का पढना पढाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल में ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये । इन में पठन पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन पाठन विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं वहां देख लेना तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का विधान जैसा पञ्चमहायज्ञविधि पुस्तक में लिख चुके हैं वैसा जान अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं (समिधाग्नि०) हे मनुष्यो ! तुम लोग वायु ओषधी और वर्षाजल की शुद्धि से सब के उपकार के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्र वा ढाक आदि काष्ठों में अतिथिरूप अग्निको नित्य प्रकाशमान करो, फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट मधुर सुगन्धित अर्थात् दुग्ध घृत शर्करा गुड केशर कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं उन का अच्छे प्रकार नित्य अग्निहोत्र

करके सब का उपकार करो ॥१॥ (अग्नि दूत०) अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उपकार करनेवाले पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुचाने के लिये अग्नि को सेवक की नाई अपने सामने स्थापन करता हू क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश मे पहुंचानेवाला है इसी से उस का नाम हव्यवाट् है। जो उस अग्निहोत्र को जानना चाहें उन को मैं उपदेश करता हू कि वह अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म्म मे पवन और वर्षा जल की शुद्धि से (इह) इस ससार में (देवान्) श्रेष्ठ गुणों को पहुचाता है। दूसरा अर्थ—हे सब प्राणियों को सत्यउपदेशकारक परमेश्वर जो कि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं मैं इच्छापूर्वक आप को उपासना करने के योग्य मानता हू ऐसी कृपा करो कि आप को जानने की इच्छा करनेवालो के लिये भी मै आप का शुभगुणयुक्त विशेष ज्ञानदायक उपदेश करू तथा आप भी कृपा कर के इस ससार में श्रेष्ठ गुणों को पहुचावें॥ २ ॥ (साय साय०) प्रतिदिन प्रात काल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि परमेश्वर (सौमनस्य दा०) आरोग्य, आनन्द और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है इसी से परमेश्वर (वसुदान) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो यह भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने के योग्य है (वय त्वे०) हे परमेश्वर जैसे पूर्वोक्त प्रकाश से हम आप को मान करते हुए अपने शरीर से (पुषेम) पुष्ट होते हैं वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों ॥ ३ ॥ (प्रात प्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो परन्तु इस में इतना विशेष भी है कि अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्य्यन्त अर्थात् सौ वर्ष तक धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों ॥ ४ ॥ अग्निहोत्र करने के लिये ताम्र वा मिट्टी की वेदी बना के काष्ठ चादी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके उस वेदी में ढाक वा आम्र आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके अग्नि को प्रज्वलित करके पूर्वोक्त पदार्थों का प्रात काल और सायकाल अथवा प्रात काल ही नित्य होम करें ॥

अथाग्निहोत्रे होमकरणमन्त्राः ॥

सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योति सूर्य्यः स्वाहा। सूर्य्यो वर्चो ज्योतिर्वर्च स्वाहा ॥ ज्योति सूर्य्य सूर्य्यो ज्योति स्वाहा। सजूर्देवेन सवित्रा

सुजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा ॥ इति प्रातःकालमन्त्राः ॥ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य्य तृतीयाहुतिर्देया ॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ य० अ० ३ म० ९ । १० ॥ इति सायङ्कालमन्त्राः ॥

भाष्यम्

(सूर्यो०) यश्चराचरात्मा ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः सूर्य्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः ॥ १ ॥ (सूर्यो व०) यो वर्चः सर्वविद्या ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां वर्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा सर्वात्मा सूर्यः परमेश्वरोऽस्ति तस्मै० ॥२॥ (ज्योतिः सू०) यः स्वयम्प्रकाशकः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्यो जगदीश्वरोऽस्ति तस्मै० ॥३॥ (सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च तथा (इन्द्रवत्या) सूर्यप्रकाशवत्योषसा यद्वा जीववत्या सात्त्विकवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोऽस्ति सः (जुषाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन् (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् वेतु विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु तस्मै० ॥ ४ ॥ इमा चतस्र आहूतीः प्रातरग्निहोत्रं कुर्वन्ति ॥ अथ सायङ्कालाहुतयः (अग्निर्ज्योति०) यो ज्ञानस्वरूपो ज्योतिरग्निः परमेश्वरोऽस्ति तस्मै० ॥ १ ॥ (अग्निर्वर्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निः परमेश्वरोऽस्ति तस्मै० ॥ २ । अग्निर्ज्योतिरित्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया तदर्थश्च पूर्ववत् ॥ ३ ॥ (सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति । यश्चेन्द्रवत्या वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह वर्त्ततेऽग्निः (जुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् वेतु नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥ एताभिः सायङ्कालेऽग्निहोत्रिणो जुहुति एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा (सर्वं वै०) हे जगदीश्वर यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते तद्भवत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत्कर्म तुभ्यं समर्प्यते तथैतरेयब्राह्मणे पञ्चमपञ्चिकायामेकत्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायम्प्रातरग्निहोत्रमन्त्रा भूर्भुवः स्वरोमित्यादयो दर्शिताः ॥

भाषार्थ

(सूर्य्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाशकरनेवाला है उस की प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं ॥ १ ॥ (सूर्योवर्च्चो०) सूर्य जो परमेश्वर है वह हम लोगों को सब विद्याओं का देनेवाला और हम से उन का प्रचार करानेवाला है उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ॥ २ ॥ (ज्योतिः सू०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करने वाला सूर्य अर्थात् संसार का ईश्वर है उस की प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ॥ ३ ॥ (सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्याप्त वायु और दिन के साथ संसार का परम हितकारक है वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्नि होत्री लोग होम करते हैं ॥ ४ ॥ अब सायंकाल की आहुति के मन्त्र कहते हैं (अग्निर्ज्यो०) अग्नि जो ज्योतिस्वरूप परमेश्वर है उस की आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिये होम करते हैं और उस का रचा हुआ यह भौतिक अग्नि इसलिये है कि वह उन द्रव्यों को परमाणुरूप कर के वायु और वर्षाजल के साथ मिला के शुद्ध कर दे जिस से सब संसार को सुख और आरोग्यता की वृद्धि हो ॥ १ ॥ (अग्निर्वर्च्चो०) अग्नि परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला और भौतिक अग्नि आरोग्यता और बुद्धि का बढ़ाने वाला है इसलिये हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं। यह दूसरी आहुति है। तीसरी मौन होके प्रथम मन्त्र से करनी । और चौथी (सजूर्देवेन०) जो अग्नि परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और रात्रि के साथ संसार का परमहितकारक है वह हम को विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे ॥

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः ॥ ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ १ ॥ ओम्भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ ३ ॥ ओम्भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ ओमापो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥ ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ॥ ६ ॥ इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः ॥

भाष्यम्

एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि एषामर्था

गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः । अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्र हवन दान यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम् । ईश्वराज्ञापालनार्थं वा । सुगन्धि–पुष्टि–मिष्ट–बुद्धिवृद्धि–शौर्य–धैर्य–बल–रोगनाशकैर्गुणैर्युक्ताना द्रव्याणा होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्धया पृथिवीस्थपदार्थाना सर्वेषा शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषा जीवाना परमसुख भवत्येव । अतस्तत्कर्मकर्त्तृणा जनाना तदुपकारेणात्यन्तसुखमीश्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ॥

भाषार्थ

इन मन्त्रों में जो भू इत्यादि नाम हैं वे सब ईश्वर के ही जानो गायत्री मन्त्र के अर्थ मे इन के अर्थ कर दिये हैं। इस प्रकार प्रातःकाल और सायकाल सन्ध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम कर के अधिक होम करने की इच्छा हो तो स्वाहा शब्द अन्त में पढ कर गायत्री मन्त्र से करे।जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ होत्र हवन अर्थात् दान करते उसे अग्नि होत्र कहते हैं। जो जो केशर कस्तूरी आदि सुगधि घृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धिबल तथा धैर्य्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं उन का होम करने से पवन और वर्षा जल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है उसी से सब जीवों को परम सुख होता है इस कारण अग्नि होत्र करने वाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है। ऐसे २ लाभों के अर्थ अग्नि होत्र का करना अवश्य उचित है ॥

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः ॥

अथ तृतीयः पितृयज्ञः

तस्य द्वौ भेदौ स्तः एकस्तर्पणाख्यो द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम् ॥ तथा यच्च तेषा श्रद्धया सेवन क्रियते तच्छ्राद्ध वेदितव्यम् । तत्र विद्यमानेष्वेवैतत्कर्म सङ्घटते नैव मृतकेषु । कुतः । तेषा प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात् । तदर्थकृतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात्सर्वमेतत्कर्तु शक्यत इति । तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति । देवाः ऋषयः पितरश्च । तत्र देवेषु प्रमाणम् ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वाभूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ १ ॥ य० अ० १९ । म० ३९ ॥ द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥ श० कां० १ अ० १ ब्रा० १ ॥ विद्वाꣳसो हि देवाः । श० कां०३ अ०७ ब्रा०६ ॥ अथर्विंप्रमाणम् ॥ तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ २ ॥ य० अ० ३१ म० ९ ॥ अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनार्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः । श० कां० १ अ० ७ ब्रा० ५ कण्डिका २ ॥ अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते । श० कां० १ अ० ४ ब्रा० ५ कं० २ ॥

भाष्यम्

(जातवेदः) हे परमेश्वर (मा) मां पुनीहि सर्वथा पवित्रं कुरु । भवन्निष्ठा भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु तथा (पुनन्तु मन०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु । तथा (पुनन्तु विश्वाभूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु ॥ (द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः । देवोमनुष्यश्चेति तत्र (सत्यं चैवानृतं च) कारणे स्तः (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं सत्यमानं सत्यकर्म सदैव देवा आश्र-

गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः । अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं दानं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम् । ईश्वराज्ञापालनार्थं वा । सुगन्धि–पुष्टि–मिष्ट–बुद्धिवृद्धि–शौर्य–धैर्य–बल–रोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव । अतस्तत्कर्मकर्तॄणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमीश्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ॥

भाषार्थ

इन मंत्रों में जो भू इत्यादि नाम हैं वे सब ईश्वर के ही जानो गायत्री मंत्र के अर्थ में इन के अर्थ कर दिये है। इस प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल संध्योपासन के पीछे उक्त मंत्रों से होम कर के अधिक होम करने की इच्छा हो तो स्वाहा शब्द अंत में पढ कर गायत्री मंत्र से करे। जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ होत्र हवन अर्थात् दान करते उसे अग्नि होत्र कहते है। जो जो केशर कस्तूरी आदि सुगंधि घृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धिबल तथा धैर्य्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं उन का होम करने से पवन और वर्षा जल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यंत उत्तमता होती है उसी से सब जीवों को परम सुख होता है इस कारण अग्नि होत्र करने वाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यंत सुख का लाभ होता है और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है। ऐसे २ लाभों के अर्थ अग्नि होत्र का करना अवश्य उचित है ॥

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः ॥

अथ तृतीयः पितृयज्ञः

तस्य द्वौ भेदौ स्त एकस्तर्पणाख्यो द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम् ॥ तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् । तत्र विद्यमानेष्वेवैतत्कर्म सङ्घटयते नैव मृतकेषु । कुतः । तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात् । तदर्थकृतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात्सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति । तत्र सत्कर्तव्यास्त्रयः सन्ति । देवाः ऋषयः पितरश्च । तत्र देवेषु प्रमाणम् ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वाभूतानि जातवेद पुनीहि मा ॥ १ ॥ य० अ० १९। मं० ३९ ॥ द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥ श० कां० १ अ० १ ब्रा० १ ॥ विद्वाꣳसो हि देवाः। श० कां०३ अ०७ब्रा०६ ॥ अथर्षिप्रमाणम् ॥ तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ २ ॥ य० अ० ३१ मं० ९ ॥ अथ यदेवानुब्रुवीत। तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहु। श० कां० १ अ० ७ ब्रा० ५ कण्डिका ३ ॥ अथार्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते। श० कां० १ अ० ४ ब्रा० ५ कं० २ ॥

भाष्यम्

(जातवेदः) हे परमेश्वर (मा) मां पुनीहि सर्वथा पवित्रं कुरु। भवन्निष्ठा भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु तथा (पुनन्तु मन०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु। तथा (पुनन्तु विश्वाभूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु ॥ (द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः। देवोमनुष्यश्चेति तत्र (सत्यं चैवानृतं च) कारणे स्तः (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं सत्यमानं सत्यकर्म सदैव देवा आम-

यन्ति तथैवानृतवचनमनृतमानमनृतं कर्म चेति मनुष्याश्चेति। अत एव यो ऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति स देवः परिगण्यते। यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति स मनुष्यश्चातः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्य्याच्च यः सत्यव्रती देवोऽस्ति स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति तद्विपरीतो मनुष्यश्च तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति॥ त यज्ञमिति सृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः। (अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं सर्वविद्या पठित्वा यदनुवचनमध्यापनं कर्मानुष्ठानमस्ति तदृषिकृत्यं विज्ञायते। तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणैवर्षयः सेवनीया जायन्ते। तत्तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवाकर्तृभ्य एव सुखकारी भवति। य सर्वविद्याविद्भूत्वाऽध्यापयति तमेवानूचानमृषिमाहुः। (अथार्षेय प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा नित्यं विद्यामधीते स विद्वान् महावीर्य्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्य्यम्॥

भाषार्थ

अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं उस के दो भेद हैं एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध उन में से जिस कर्म करके विद्वान्रूप देव ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं सो तर्पण कहाता है तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है उसी को श्राद्ध जानना चाहिये यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है मरे हुओं में नहीं क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असंभव है इस लिये उन की सेवा नहीं हो सकती तथा जो उन के लिये कोई पदार्थ दिया चाहे वह भी उन को नहीं मिल सकता इस से केवल विद्यमानों को ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध वेदों में कहा है क्योंकि सेवा करने योग्य और सेवा करने वाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है दूसरे प्रकार से नहीं सो तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं देव ऋषि और पितर देवों में प्रमाण (पुनन्तु०) हे जातवेद परमेश्वर! आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिये और जो आप के उपासक आप की आज्ञा पालते हैं अथवा जो कि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं वे मुझ को विद्यादान से पवित्र करें और आप के दिये विशेषज्ञान वा आप के विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों तथा (पुनन्तु विश्वाभूतानि) सब संसारी

जीव आप की कृपा से पवित्र होकर आनन्द मे रहे (द्वयं वा०) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यो की दो संज्ञा होती हैं अर्थात् एक देव और दूसरा मनुष्य, उन मे भेद होने के सत्य और झूठ दो कारण हैं। (सत्यमेव) जो सत्यभाषण सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे देव तथा जो झूठ बोलते, झूठ मानते और झूठ कर्म करते है वे मनुष्य कहाते है। इसलिये झूठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सब को उचित है। इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें, मानें और करे क्योकि सत्यव्रत आचरण करनेवाले जो देव हैं वे तो कीर्त्तिमानों में भी कीर्त्तिमान् होके सदा आनन्द मे रहते हैं परन्तु उन से विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीडित ही रहते हैं। इस से सत्यधारी विद्वान् ही देव कहाते हैं ॥ (तं यज्ञ०) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्याविषय में कर दिया है ॥ (अथ यदेवा०) जो सब विद्याओं को पढ के औरों को पढाना है यह ऋषिकर्म कहाता है और उस से जितना कि मनुष्यों पर ऋषियो का ऋण हो उस सब की निवृत्ति उन की सेवा करने से होती है। इस से जो नित्य विद्यादान ग्रहण और सेवाकर्म करना है, वही परस्पर आनन्दकारक है और यही व्यवहार (निधिगोप०) अर्थात् विद्याकोश का रक्षक है ॥ (आर्षेय प्रवृ०) विद्या पढ के सब को पढानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करने वाला विद्वान् वह पराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है, इस से आर्षेय अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥

अथ पितृषु प्रमाणम्

ऊर्जं॒ वह॑न्तीर॒मृतं॑ घृ॒तं पयः॑ की॒लालं॑ परि॒स्रुत॑म् । स्व॒धास्थ॑ त॒र्पय॑त मे पि॒तॄन् ॥ १ ॥ यजु० अ० २ मं० ३४ ॥ आय॑न्तु नः पि॒तरः॑ सो॒म्यासो॑ऽग्निष्वा॒त्ताः प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑ । अ॒स्मिन् य॒ज्ञे स्व॒धया॒ मद॑न्तो॒ऽधि॑ब्रुवन्तु॒ तेऽव॑न्त्व॒स्मान् ॥ २ ॥ य० अ० १९ मं० ५८ ॥

भाष्यम्

(ऊर्जं वहन्ती०) सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुश्चाज्ञापयेयुः (मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीनाचार्य्यादींश्च सर्वे यूयं तर्पयत सेवया प्रस-

न्नान् कुरुतेति तथा (स्वधास्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत। केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह (ऊर्जं०) पराक्रम प्रापिका सुगन्धिताः प्रिया हृद्या अपः (अमृत) अमृतात्मकमनेकविध रस (घृत) आज्य (पय) दुग्ध (कीलाल) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमन्न (परिस्रुतम्) सात्त्विक मधुकालपक्व फलादिक च निवेद्य पितॄन् प्रसन्नान् कुर्य्यात् ॥ १ ॥ ये (सोम्यासः) सोमगुणा शान्ताः सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः(अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ता । तथा होमकरणार्थ शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते पितरो विज्ञानवन्तः पालका. सन्ति (आयन्तु नः) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु । वय च तत्सामीप्य नित्य गच्छेम । (पथिभिर्देव०) तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय । हे पितरो ! भवन्त आयन्त्वित्युक्त्वा प्रीत्याऽऽसनादिक निवेद्य नित्य सत्कुर्य्याम (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् ! सत्काररूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो) हर्षन्तोऽस्मान् रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ

(ऊर्ज्जं वह०) पिता वा स्वामी अपने पुत्र पौत्र स्त्री और नौकरों को इस प्रकार आज्ञा देवे कि (तर्पयत मे०) जो२ हमारे मान्य पिता पितामहादि माता मातामहादि और आचार्य्य तथा इन से भिन्न भी विद्वान् लोग जो अवस्था वा ज्ञान में वडे और मान्य करने योग्य हैं तुम लोग उन की (ऊर्जं०) उत्तम २ जल (अमृत) रोग नाश करने वाले उत्तम अन्न (परिस्रुत) सव प्रकार के उत्तम फलो के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो कि जिस से वे प्रसन्न होके तुम लोगो को सदा विद्या देते रहे क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे (स्वधास्थ०) और ऐसा विनय सदा रक्खो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो ! आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त हूजिये और हम लोग जो २ पदार्थ आप लोगों की इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें उन २ की आज्ञा किया कीजिये । हम लोग मन वचन और कर्म से आप के सुख करने में स्थित हैं आप किसी प्रकार का दु ख न पाइये क्योंकि जैसे आप लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम मे हम लोगों को सुख दिया है वैसे ही हम को भी आप लोगोंका प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये कि जिससे हम लोगो को कृतघ्नता दोष न

प्राप्त हो ॥ १ ॥ (आयन्तु न) पितृ शब्द के सब से रक्षक श्रेष्ठस्वभाववाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं। इस लिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उन के अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करने वाले हैं उन को पितर कहते हैं उन के सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को देखकर अभ्युत्थान अर्थात् उठ के प्रीतिपूर्वक कहे कि आइये बैठिये कुछ जलपान कीजिये और खाने पीने की आज्ञा दीजिये पश्चात् जो २ बातें उपदेश करने के योग्य हैं सो २ प्रीतिपूर्वक समझाइये कि जिस से हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें और सदा ऐसी प्रार्थनाकरें कि हे परमेश्वर आप के अनुग्रह से (सोम्यास) जो शील स्वभाव और सब को सुख देने वाले विद्वान् लोग (अग्निष्वात्ता) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुण वाले भौतिक अग्नि की अलग २ करने वाली विद्युत् रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं वे इस विद्या और सेवायज्ञ में (स्वधया मदन्त) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होके (अवन्त्वस्मान्) हमारी सदा रक्षा करें तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब २ वे आवें तब २ उन को उत्थान नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रक्खें तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढता के साथ उसी में चलें ऐसे सबलोग छल और लोभादि रहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्य व्यवहार रक्खें (पथिभिर्देवयानैः) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं एक देवयान और दूसरा पितृयान अर्थात् जो विद्यामार्ग है वह देवयान और जो कर्मोपासनामार्ग है वह पितृयान कहाता है सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें ॥

अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् । अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥ ३ ॥ नमो॑ वः पितरो रसाय नमो॑ वः पितरः शोषाय नमो॑ वः पितरो जीवाय नमो॑ वः पितरः स्वधायै॑। नमो॑ वः पितरो घोराय नमो॑ वः पितरो मन्यवे नमो॑ वः पितरः पितरो नमो॑ वः । गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः

पितरो वास ॥ ४ ॥ आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ५ ॥ य० अ० २ । म० ३१ । ३२ । ३३ ॥

भाष्यम्

(अत्र पितरो०) हे पितरोऽत्रास्यां सभायां पाठशालायां वाऽस्मान् विद्याविज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत (यथाभाग०) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आवृषायध्वं) विद्वद्वत्स्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन् सत्योपदेशे विद्यादानकर्मणि हर्षेण सदोत्साहवन्तो भवत । (यथाभागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्नाः सन्तो विचरत ॥ ३ ॥ (नमोवः) हे पितरः ! रसाय शोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय (नमोवः पितर०) शोषायाग्निवायुविद्याप्राप्तये (नमोवः पितरो जी०) जीवनार्थं विद्याजीविकाप्राप्तये (नमोवः पितर स्व०) मोक्षविद्याप्राप्तये (नमोव०) आपत्कालनिवारणाय (नमो व०) दुष्टानामुपरि क्रोधधारणाय क्रोधस्य निवारणाय च (नमोवः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्तये च युष्मभ्यं वारंवारं नमोस्तु (गृहान्नः०) हे पितरो गृहान् गृहसम्बन्धिव्यवहारबोधान्नोऽस्मभ्यं यूयं दत्त (सतोवः०) हे पितरो येऽस्माकमधिकारे विद्यमाना पदार्थाः सन्ति तान् वयं वो युष्मभ्यं दद्मो यतो वयं (देष्म) कदाचिद्विद्वद्भ्यो विद्या प्राप्य क्षीणा न भवेम (एतद्वः पितरः) हे पितरोऽस्माभिर्यद्वासो वस्त्रादिकं वस्तु युष्मभ्यं दीयते एतद्यूयं प्रीत्या गृह्णीत ॥ ४ ॥ (आधत्त-पितरो०) हे पितरो यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत । तथा विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजं) पुष्पमालाधारिणं कुमारं ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत (यथेह०) येन प्रकारेणेहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत्स्यात् । येन च मनुष्येषूत्तमविद्योन्नतिर्भवेत्तथैव प्रयतध्वम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(अत्र पितरो मा दयध्वम्) हे पितर लोगो आप यहां हमारे स्थान में आनन्द कीजिये (यथाभागमावृ०) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन वस्त्रादि भोग से आनन्दित हूजिये (अमीमदन्त पितर०) आप यहां विद्या के प्रचार से सब को

आनन्दयुक्त कीजिये (यथाभागमा०) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर अपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हम को भी आनन्दित कीजिये ॥ ३ ॥ (नमो व) हे पितर लोगो ! हम लोग आपको नमस्कार करते हैं इसलिये कि आप के द्वारा हमको रस अर्थात् विद्यानंद ओषधि और जल विद्या का यथावत् ज्ञान हो तथा (नमो वः०) शोष अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या कि जिस से ओषधि और जल सूख जाते हैं उस के बोध होने के लिये भी हम आप को नमस्कार करते हैं (नमो वः०) हे पितर लोगो ! आप की सत्यशिक्षा से हम लोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होके पूर्ण आयु को भोगें इसलिये हम आप को नमस्कार करते हैं (नमो व०) हे विद्वान् लोगो अमृतरूप मोक्षविद्या की प्राप्तिके लिये हम आपको नमस्कार करते हैं(नमो व ०)हे पितरो ! घोर विपत् अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करनेकीविद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखोंके पार उतरनेके लिये हम लोग आप की सेवा करते हैं(नमोव ०)हे पितरो ! दुष्ट जीव और नष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने की विद्या सीखने के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं (नमो व ०) हम आप लोगों को वारवार नमस्कार इसलिये करते हैं कि गृहाश्रम आदि करने के लिये जो २ विद्या अवश्य हैं सो २ सब आप लोग हम को देवें (सतो व ०) हे पितर लोगो ! आप सब गुणों और सब संसारी सुखों के देनेवाले हैं इसलिये हम लोग आप को उत्तम २ पदार्थ देते हैं इन को आप प्रीति से लीजिये तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम २ वस्त्र भी देते हैं इन को आप धारण कीजिये और प्रसन्न होके सब के सुख के अर्थ संसार मे सत्यविद्या का प्रचार कीजिये ॥ ४ ॥ (आधत्त पितरो०) हे विद्या के देनेवाले पितरलोगो इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा कर के उत्तम विद्या दीजिये कि जिस से वह विद्वान् होके (पुष्करस०) जैसे पुष्पों की माला धारण कर के मनुष्य शोभा को प्राप्त होता हैं वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे । (यथेह पुरुषोऽसत्) अर्थात् जिस प्रकार इस संसार मे मनुष्यों की विद्यादिसदगुणों से उत्तम कीर्त्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके वैसा ही प्रयत्न आप लोग सदा कीजिये । यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस का पालन सदा करते रहैं ॥ ५ ॥

ये स॑मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु॑ माम॒काः तेषा॒ᳪ श्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तᳪ समाः॑ ॥ ६ ॥ य० अ० १९ मं० ४६ । उदी-

रतामवर् उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः । असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ७ ॥ अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः । तेषां वयꣳ सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ८ ॥ य० अ० १९ मं० ४९ । ५० ॥ ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये । तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ ६ ॥ य० अ० १९ । म० ४५ ॥

भाष्यम्

(ये समानाः) ये मामका मदीया आचार्य्यादय (जीवाः) विद्यमानजीवनाः (समनसः) धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहितकरणैकनिष्ठाः (समानाः) धर्मेश्वरसत्यविद्यादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्त्तमानाः (जीवेषु) उपदेश्येषु शिष्येषु सत्यविद्यादानाय छलादिदोषराहित्येन वर्त्तमाना विद्वांसः सन्ति (तेषा०) विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणाढ्या शोभास्ति (अस्मिल्लोके-शत०) सामयिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्यन्तं (कल्पतां) स्थिरा भवतु यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम ॥ ६ ॥ (उदीरतामवरे०) ये पितरोऽवकृष्टगुणाः (उत्परास) उत्कृष्टगुणा (उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः (सोम्यासः) सोम्यगुणा (अवृकाः) अजातशत्रवः (ऋतज्ञाः) ब्रह्मविदो वेदविदश्च ते ज्ञानिनः पितरो हवेषु देयग्राह्यव्यवहारेषु विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रक्षन्तु तथा (असुं य ईयुः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमानजीवनास्स्युस्त एव सर्वैः सेवनीया नैव मृताश्चेति कुतस्तेषां देशान्तरप्राप्त्या सन्निकर्षाभावात् सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च ॥ ७ ॥ (अङ्गिरसोनः) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः (नवग्वाः) सर्वासु विद्यासूत्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते (अथर्वाणः) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च (भृगवः) परिपक्वज्ञाना शुद्धाः (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति (तेषां वयꣳ सुमतौ) वयं तेषां यज्ञानां यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानामपीति निश्चयेन सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे

(सौमनसे)यत्र विद्यानन्दयुक्तमनो भवति तस्मिन् (स्याम) अर्थाद्भवता सका शादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम॥८॥(ये समाना)(समनस) अनयोरर्थ उक्तः । ये (यमराज्ये) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृता (पितरः) विद्वांस सन्ति (तेषां लोकः) यो न्यायदर्शन स्वधा अमृतात्म-को लोको भवतीति (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोस्ति । सोऽस्माकं मध्ये (कल्पतां) समर्थतां प्रसिद्धो भवतु । य एव सत्यन्यायकारिणः सन्ति तेभ्यो (नमः) नमोस्तु अर्थाद्ये सत्यन्याया-धीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु ॥ ९ ॥

भाषार्थ

(ये समाना.) जो आचार्य्य (जीवा) जीते हुए (समनस) धर्म ईश्वर और सर्वहित करने मे उद्यत (समाना.) सत्यविद्यादि शुभगुणो के प्रचार मे ठीक २ विचार और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्व विद्यादान के लिये छलकप टादि दोषरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं (तेषां) उन की जो श्री अर्थात् सत्यविद्यादि श्रेष्ठगुणयुक्त शोभा और राज्यलक्ष्मी है सो मेरे लिये (अस्मिल्लोके शत समाः) इस लोक में १०० सौवर्ष पर्य्यन्त स्थिर रहे जिस से हमलोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहैं ॥ ६ ॥ (उदीरताम०) जो विद्वान् लोग (अवरे) कनिष्ठ (उन्मध्यमा) मध्यम और (उत्परास) उत्तम (पितर सोम्यास.) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द करानेवाले (असुं य ईयुः) प्राणविद्यानिधान, (अवृका) शत्रुरहित अर्थात् सब के प्रिय पक्षपात छोड के सत्यमार्ग में चलनेवाले तथा (ऋतज्ञा) जो कि ऋत अर्थात् ब्रह्म, यथार्थ धर्म, और सत्यविद्या के जानने वाले हैं (ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ होके अथवा उन की विद्या दे के हमारी रक्षा करे ॥ ७ ॥ (अङ्गिरसो नः) जो ब्रह्माण्डभर के पृथिव्यादि सब अगों की मर्म विद्या के जाननेवाले (नवग्वा) नवीन २ विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले (अथर्वाण) अथर्ववेद और धनुर्वेदविद्या में चतुर तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण (भृगव) परिपक्वज्ञानी और तेजस्वी (सोम्यास) जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तस्वरूप (तेषां वयꣳसुम-तौ०) तथा यज्ञ के जानने और करनेवाले (पितर) पितर हैं तथा जिस कल्याण कारक विद्या से उन की सुमति, (भद्रे) कल्याण और (सौमनसे) मन की शुद्धि

होती है उस में (अपिस्याम) हम लोग भी स्थिर हों कि जिसके बोधसे व्यवहार और परमार्थ के सुखों को प्राप्त होके सदा आनन्दित रहें ॥ ८ ॥ (ये समा०) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग यमराज्य अर्थात परमेश्वर के इस राज्य में सभासद वा न्यायाधीश हो के न्याय करनेवाले और (समनस पितर०) सब सृष्टि के हित करने में समानबुद्धि हैं (तेषा लोक स्वधा०) जिन का लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त हो के सुखी रहता है (नम) उन को हमलोग नमस्कार करते हैं क्योंकि वे पक्षपात रहित होके सत्य व्यवस्था में चल के अपने दृष्टान्त से औरों को भी इसी मार्ग में चलाने वाले हैं (यज्ञो देवेषु कल्पता) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालनरूप जो अश्वमेध यज्ञ है सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे ॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः । तेभिर्यमः सꣳरराणो हवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ १० ॥ बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् । त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात ॥ ११ ॥ आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ२ ॥ ऽअवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः । बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ १२ ॥ य० अ० १९ मं० ५१ । ५५ । ५६ ॥

भाष्यम्

(ये) (सोम्यासः) सोमविद्यासम्पादिनः (वसिष्ठाः) सर्वविद्यासूत्तमगुणेष्वतिशयेन रममाणाः (सोमपीथ) सोमविद्यारक्षणं (अनूहिरे) पूर्वं सर्वा विद्याः पठित्वाऽध्याप्य तास्ताअनुप्रापयन्ति ते (नः पूर्वे पितर) येऽस्माकं पूर्वे पितरः सन्ति (तेभिः) तैः (उशद्भिः) परमेश्वरं धर्मं च कामयमानैः पितृभिः सह समागमेनैव (सꣳरराणः) सत्यविद्याया सम्यक्दानकर्त्ता (यमः) सत्यविद्याव्यवस्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति किं कुर्वन् (हवीꣳषि०) विज्ञानादीन्युशन् सर्वेभ्यो दातुं कामयन् सन् । अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन्

(प्रतिकाममस्तु) सर्वान् कामान्प्राप्नोतु ॥१०॥ (बर्हिषदः) ये बर्हिषि सर्वोत्तमे ब्रह्मणि विद्यायां च निषण्णास्ते (पितरः) विद्वांसः (अवसा शन्तमेन) अतिशयेन कल्याणरूपेण रक्षणेन सह वर्त्तमानाः (आगत) अस्माकं समीपमागच्छन्तु आगतान् तान्प्रत्येव वयं ब्रूमहे हे विद्वांसः यूयमागत्य (अर्वाक्) पश्चात् (इमा) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तूनि (जुषध्वं) सम्प्रीत्या सेवध्वम्। हे पितरः वयं (ऊत्या) भवद्रक्षणेन वो युष्माकं सेवां (चकृम) नित्यं कुर्याम। (अथानः श०) अथेति सेवाप्राप्तेरनन्तरं यूयं नोऽस्माकं शंयोर्विज्ञानरूपं सुखं दधात। किन्त्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्य (अरप) निष्पापतां दधात। येन वयमपि निष्पापा भवेमेति ॥११॥ (आहंपितॄन्त्सुविदत्रा०) ये बर्हिषदः स्वधयाऽन्नेन सुतस्य सोमवल्ल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं (भजन्ते) सेवन्ते (पित्वः) तत्पानं कृत्वा (त इहाग०) अस्मिन्नस्मत्सन्निहितदेशे ते पितरः आगच्छन्तु। य ईदृशाः पितरः सन्ति तान् विद्यादिशुभगुणानां दानकर्त्तॄनह (आ, अवित्सि) आसमन्ताद्विद्मि। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदमिड्भावश्च। तान् विदित्वा सङ्गम्य च (विष्णोः) सर्वत्र व्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणं च) विविधक्रमेण जगद्रचनं तथा (नपातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोक्षाख्यं पदं च वेद्मि यत्प्राप्य मुक्तानां सद्यः पातो न विद्यते तदेतच्च विदुषां सङ्गेनैव प्राप्तं भवति। तस्मात्सर्वैर्विदुषां समागमः सदा कर्त्तव्य इति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(येनः पूर्वे पितरः) जो कि हमारे पूर्व पितर अर्थात् पिता पितामह और अध्यापक लोग शान्तात्मा तथा (अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सोमपान के करनेकराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्याओं में रमण करने वाले हैं (तेभिर्यमः संरर०) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है (हवि) जो सत्यभक्ति आदि पदार्थों की कामना और (उशन्नुशद्भिः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करने वाले तथा जिन का आधारभूत परमेश्वर ही है। हे

मनुष्य लोगो ! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्सग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से तृप्त हो इस में निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११ ख० १९ निरुक्त मे लिखा है (अग्निर्मो नवगतय इत्यादि) वहां देख लेना ॥ १० ॥ (बर्हिषद पि०) जो ब्रह्म और सत्यविद्या मे स्थित पितर लोग हैं वे हमारी रक्षा के लिये सदा तत्पर रहें इस प्रकार से कि हम लोग तो उन की सेवा करें और वे लोग हम को प्रीतिपूर्वक विद्यादि दान से प्रसन्न कर देवें (त आगतावसा०) हे पितरलोगो हम कामना करते है कि जब २ आप हमारे वा हम आप के पास आवें जावें तब २ (इमाहव्या०) हम लोग उत्तम २ पदार्थों से आप लोगों की सेवा करे और आप लोग भी उन को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें (अथ०) अर्थात् हम लोग तो अन्नादि पदार्थों से और आप लोग (शन्न०) हमारे कल्याणकारी गुणों के उपदेश से (अथानः शयो०) इस के पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरप) अर्थात् जिस से हम लोग पाप न करे ऐसी बातो का धारण कराइये ॥ ११ ॥ (अहं पितॄन्०) मै जानता हू कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और अपने उपदेश से सुख देने वाले हैं (नपात च विक्रमण न विष्णो) जो मैं सब में व्यापक परमेश्वर का विक्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन और नपात अर्थात् उस के अविनाशी पद को भी (आ) (अवित्सि) ठीक २ जानता हू (बर्हिषदो ये०) यह ज्ञान मुझ को उन्ही पितरलोगों की कृपा से हुआ है जिन को देवयान कहते हैं और जिसकी प्राप्ति से जीव पुनर्दुःख में कभी नहीं गिरता तथा जिन में पूर्ण सुख प्राप्त होता है उन दोनों मार्गों को भी मैं विद्वानों के ही सग से जानता हू (स्वधा०) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं । तथा उस में आप भी (पित्वः) आनन्दित होकर ससार में सब सुखों के देने वाले होते है वे सर्वहितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें कि जिस से हमलोगों में नित्य ज्ञान की उन्नति हुआ करे ॥१२॥

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥१३॥ अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः । अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳसर्ववीरं दधातन ॥१४॥ ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथा वशन्तन्वङ्कल्पयाति ॥१५॥ य० अ० १९ मं० ५७ । ५९ । ६० ॥

भाष्यम्

(सोम्यासः) ये प्रतिष्ठार्हा पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहूताः) निमन्त्रिता सन्तः सीदन्तु (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारमागच्छन्तु (त इह) त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) श्रृण्वन्तु श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिब्रुवन्तु) कथयन्तु । एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान्) सदाऽस्मान् रक्षन्तु ॥ १३ ॥ (अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत) हे पूर्वोक्ता अग्निष्वात्ताः पितरः अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आगच्छत आगत्य (सुप्रणीतयः) शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां त एवंभूता भवन्तः पूज्या सन्तः (सदः सद सदत) प्रतिगृहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत (अत्ताहवींषि) प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि दातुं योग्यान्युत्तमान्नानि वा यूयं स्वीकुरुत (बर्हिष्यथा०) अथेत्यनन्तरं बर्हिषि सदसि गृहे वा स्थित्वा (रयिं सर्ववीरं) सर्वैर्वीरैर्युक्तं विद्यादिधनं यूयं दधातन यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरबलयुक्ता वीराः स्थिरा भवेयुः सत्यविद्याकोशश्च ॥ १४ ॥ (ये अग्निष्वात्ता०) ये अग्निविद्यायुक्ताः (अनग्निष्वात्ताः) ये वायुजलभूगर्भादिविद्यानिष्ठा (मध्ये दिवः) द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य सद्विद्याप्रकाशकस्य च मध्ये (स्वधया) अन्नविद्ययाशरीरबुद्धिबलधारणेन च (मादयन्ते) आनन्दिता भूत्वा अस्मान्सर्वान् जनानानन्दयन्ति (तेभ्यः) तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्या तथा (असुनीतिमेताम्) सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृह्णीयाम (यथा वश) ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या सर्वोपकारकेषु नियमेषु स्वतन्त्रा प्रत्येकप्रियेषु च परतन्त्रा भवन्तु यतः (स्वराट्) स्वयं राजते प्रकाशते स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः (तन्वकल्पयाति) तनुं विद्वच्छरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयति कल्पयतु निष्पादयतु यतोऽस्माकं मध्ये बहवो विद्वांसो भवेयुः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(उपहूताः पितरः) उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं कि वे हमारे समीप आके (बर्हिष्येषु) उत्तम आसनों पर बैठकर जो कि बहुमूल्य और सुनने में प्रिय हों हमको उपदेश करें (त आगमन्तु०) जब वे पितर आवें तब सब लोग उन

भिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्य्यम् । (सोमपीथं य आशुः) ये सोमपानमश्नन्ति ये च (नाराशꣳसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः सन्ति (ते नो विप्रासः) ते विप्रा मेधाविनो नोऽस्मान् (सुहवा०) सुष्ठुतया ग्रहीतारो भवन्तु (सोमपीथ०) ये सोमविद्यादानग्रहणाभ्यां तृप्ताः । एषां सङ्गेन (वयꣳस्याम पतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्त्तिराज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो भवेम ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सन्निधौ वर्त्तन्ते ये चेहास्मत्समक्षेन सन्त्यर्थाद्देशान्तरे तिष्ठन्ति (याꣳश्च विद्म) यान् वयं जानीमः (यान् उ च न०) दूरदेशस्थितत्वाद्यांश्च वयं न जानीमस्तान्सर्वान् हे (जातवेद) परमेश्वर ! (त्वं वेत्थ) त्वं यथावज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकञ्च सङ्गं निष्पादय (स्वधा०) योऽस्माभिस्त्वत्कृतः सम्यगनुष्ठितो यज्ञोऽस्ति त्वं स्वधाभिरन्नाद्याभिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा जुषस्व सेवस्व येनास्माकमभ्युदयनिःश्रेयसकरं क्रियाकाण्डं सम्यक् सिध्येत (यति ते) ये यावन्तः परोक्षा विद्यमाना विद्वांसः सन्ति तानस्मान्प्रापय ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यः) ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्त्तन्ते (पूर्वास) पूर्वमधीत्य विद्वांसः सन्ति (ये पार्थिवे रजसि) ये पृथिवीसम्बन्धिभूगर्भविद्यायां (आनिषत्ता) आसमन्तान्निषण्णाः सन्ति (ये वा नूनꣳसु०) ये च सुष्ठु बलयुक्ताः सुप्रजासभाध्यक्षाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मण्यधिकृताः सन्ति ते चास्मानीयुः प्राप्नुयुः इत्थं भूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माकमिदं सततं नमोऽस्तु ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(अग्निष्वात्तानृतुमतो०) हे मनुष्य लोगो ! जैसे हम लोग अग्निविद्या और समयविद्या के जानने वाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं वैसे ही तुम लोग भी उन के पास जाते और उन को अपने पास सदा बुलाते रहो जिस से तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहे ॥ (नाराशꣳसे सोमपीथं य आशु) जो सोमलतादि ओषधियों के रसपान तथा रक्षा से मनुष्यों को श्रेष्ठ करने वाले हैं उन से हम लोग सत्य शिक्षा लेके आनन्दित हों (तेनो विप्रा सुहवा०) वे विद्वान् लोग हम को सत्य विद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहैं । (वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्०) जिस से कि हम लोग सुविद्या से चक्रवर्त्ति राज्य की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त तथा उन की रक्षा और उन्नति करने में भी समर्थ हों ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर ! जो

पितर लोग हमारे समीप और दूर देश मे हैं (यांश्च विद्म) जिन को समीप होने से हम लोग जानते और (यॉ २॥ उ च नप्रविद्म) जिन को दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं (यनि ते०) जो इस संसार के बीच मे वर्त्तमान हैं (त्वं वेत्थ) उन सब को आप यथावत् जानते है । कृपा करके उन का और हमारा परस्पर सबन्ध सदा के लिये कीजिये (स्वधाभिर्यज्ञꣳसुकृतं) और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थ रूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये कि जिस से हम लोगो को सब सुख प्राप्त होते रहैं ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यो न०) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते है (अद्य पूर्वासो य उपरास ईयुः) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते है अथवा जो कि विरक्त और सन्न्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते है तथा (ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगर्भविद्या और सूर्यादि लोकों के जानने वाले है तथा (ये वा नूनꣳसु०) जो कि निश्चय कर के प्रजाओ के हित में उद्यत और उत्तम सेनाओं के बीच में बडे चतुर हैं उन सभो को हम लोग नमस्कार करते हैं इसलिये कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहैं ॥ १८ ॥

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि । उशन्नुशत आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥ १९ ॥ य० अ० १९ म० ७० ॥ पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥ २० ॥ पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ २१ ॥ य० अ० १९ मं० ३६ । ३७ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(उशतस्त्वानिधीमहि) हे परमेश्वर ! वयं त्वा कामयमाना इष्टत्वेन हृदयाकाशे न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे सदा स्थापयामः (उशतः समिधीमहि) हे जगदीश्वर !

त्वां श्रृण्वन्त श्रावयन्तः सम्यक् प्रकाशयेमहि कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह (ह-विषे अत्तवे०) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तमपदार्थदानायानन्दभोगाय च (उशन्नुशत आवह पितॄन्) सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमान-स्सस्त्वमस्मानावहासमन्तात्प्रापय ॥ १९ ॥ (पितृभ्यः) स्वा स्वकीयाममृता-ख्या मोक्षविद्या कर्त्तुं शीलं येषा तेभ्यो वसुसञ्ज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो ज-नकेभ्यश्च (स्वधा) अन्नाद्युत्तमवस्तु दद्म । ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्य्यन्तेन ब्र-ह्मचर्य्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते वसुसञ्ज्ञकाः।(पितामहेभ्यः) ये चतु-श्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्या पठित्वा पाठयन्ति ते पितामहाः (प्रपितामहेभ्यः) येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षप्रमितेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यापारावार प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या अर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः (नम) ते-भ्योऽस्माक सतत नमोऽस्तु । (अक्षन् पितरः) हे पितरो भवन्तोऽक्षन्नत्रैव भोजनाच्छादनादिक कुर्वीरन् । अमीमदन्त पितर इति पूर्वं व्याख्यातम् (अतीतृपन्तपितरः) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनन्दिता भूत्वा तृप्ता भवत (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरो यूयमुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्व पवित्रान् कुरुत ॥ २० ॥ (पुनन्तु मा पितर) भो पितरः पिताम-हाः प्रपितामहाश्च भवन्तो मा मनःकर्मवचनद्वारा वार वार पुनन्तु पवित्र-व्यवहारकारिण कुर्वन्तु । केन पुनन्त्वित्याह (पवित्रेण०) पवित्रकर्मानुष्ठानक-रणोपदेशेन (शतायुषा) शतवर्षपर्य्यन्तजीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्य्येण मा पुनन्तु अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रय योजनीयम् येनाह (विश्वमायुर्व्यश्नवै) सम्पूर्णमायुः प्राप्नुयाम् । अत्र पुरुषोवावयज्ञ इत्याकारेण छान्दोग्योपनिष-त्प्रमाणेन विदुषा वसुरुद्रादित्यसञ्ज्ञा वेदितव्याः ॥ २१ ॥

भाषार्थ

(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे अग्ने परमेश्वर ! हम लोग आप की प्राप्ति की कामना करके आप को अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित और (उशन्तः समिधीमहि) आप का ही सर्वत्र प्रकाश करते रहें । (उशन्नुशत आवह पितॄन्) हे भगवन् ! आप ह-मारे कल्याण के अर्थ पूर्वोक्त पितरो को नित्य प्राप्त कीजिये कि (हविषे अत्तवे) हम लोग उन की सेवा में विद्या लेने के लिये स्थिर रहे ॥ १९ ॥ (पितृभ्य स्वधा०) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या पढके सब को पढाते हैं उन पितरों को हमारा नम-स्कार है (पितामहेभ्य ०) जो चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ के सब के उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देने वाले होते हैं (प्रपितामहेभ्य ०)

जिन्होने अडतालीस वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रियता के साथ सपूर्ण विद्याओं को पढ के हस्तक्रियाओं से भी सब विद्याओ के दृष्टान्त साक्षात् देख के दिखलाते और जो सब के सुखी होने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते है उन का मान भी सब लोगों को करना उचित है। पिताओं का नाम वसु है क्योकि वे सब विद्याओं मे वास करने के लिये योग्य होते हैं। ऐसे ही पितामहों का नाम रुद्र है क्योंकि वे वसु सज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुणी विद्या और बलवाले होते है। तथा प्रपितामहों का नाम आदित्य है क्योंकि वे सब विद्याओं और सब गुणों में सूर्य्य के समान प्रकाशमान होके सब विद्या और लोगों को प्रकाशमान करते हैं। इन तीनों का नाम वसु रुद्र और आदित्य इसलिये है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्यो में रहने नहीं देते। इस में (पुरुषो वावयज्ञ०) यह छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया है सो देख लेना (अन्नन् पितर:०) हे पितर लोगो! तुम विद्यारूप यज्ञ को फैला के सुख भोगो तथा (अमीदन्त पितर') हमारी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न रहो (अतीतृपन्तापितर) हमारी सेवा से तृप्त होकर हम को भी आनन्दित और तृप्त करते रहो तथा जिस पदार्थ को तुम चाहो अथवा हम आप की सेवा में भूलें तो आप लोग हम को शिक्षा करो (पितर शुन्धध्वम्) हे पितर लोगो! आप हम को धर्मोपदेश और सत्य विद्याओं से शुद्ध करें कि जिस से हम लोग आप के साथ मिल के सनातन परमात्मा की भक्ति अपनी शुद्धि के अर्थ प्रेम से करें ॥२०॥ (पुनन्तु मा पितर) जो पितर लोग शान्तात्मा और दयालु हैं वे मुझ को विद्यादान से पवित्र करे (पुनन्तु मा पितामहा) इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह भी मुझ को अपनी उत्तम विद्या पढा के पवित्र करें इसलिये कि उन की शिक्षा को सुन के ब्रह्मचर्य्य धारण करने से सौ वर्ष पर्य्यन्त आनन्दयुक्त उमर होती रहे इस मन्त्र में दो वार पाठ केवल आदर के लिये है। इत्यादि अन्य मन्त्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं उन सभों का अर्थ सर्वत्र इसी प्रमाण से समझ लेना चाहिये तथा जहा कहीं अमावास्या में पितृयज्ञ करना लिखा है वहा भी इसी अभिप्राय से है कि जो कदाचित् नित्य उन की सेवा न बन सके तो महीने २ अर्थात् अमावास्या में मासेष्टि होती है उस में उन लोगों को बुला के अवश्य सत्कार करें ॥ २१ ॥ इति पितृयज्ञ समाप्त ॥

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते ॥

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्। वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्। आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणोहोममन्वहम् ॥ १ ॥ मनुस्मृतौ अ० ३ श्लोक ८४ ॥

अथ बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम् ॥

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने । रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १९ अनु० ७ मं० ७ ॥ पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ॥ पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा स्वाहा ॥ २ ॥ य० अ० १६ मं० ३९ ॥

भाष्यम्

(अग्ने) हे परमेश्वर ! (ते) तुभ्य त्वदाज्ञापालनार्थं (इन) एव (तिष्ठतेऽश्वाय) (घास) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते तथैव (इव) (अहरहः) नित्य प्रति (बलि) (हरन्तः) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः (समिषा) सम्यगिष्यते या सा समिट् तया श्रद्धया (रायस्पोषेण) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या (मदन्त.) हर्षन्तो वय (अग्ने) हे परमात्मन् ! (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतिकूला भूत्वा त्वद्दिस्थान् प्राणिनः (मारिषाम) मा पीडयेम किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माक मित्राणि सन्तु सर्वेषा च वयं सखायः स्म इति ज्ञात्वा परस्पर नित्यमुपकार कुर्य्याम ॥१॥ (पुनन्तु मा०) अस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणविषय उक्तः ॥

भाषार्थ

(अग्ने) हे परमेश्वर ! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं वैसे ही आप की आज्ञापालन के लिये (अहरह) प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते और अतिथियों को बलि अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छे प्रकार वाञ्छित चक्रवर्त्ति राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके (अग्ने) हे परमात्मन् ! (प्रतिवेशाः) आप की आज्ञा से उलटे होके आप के उत्पन्न किये हुए प्राणियों को (मा रिषाम) अन्याय से दुःख कभी न देवें किन्तु आप की कृपा से सब जीव हमारे मित्र और हम सब जीवों के मित्र रहें ऐसा जान कर परस्पर उपकार सदा करते रहें ॥ १ ॥ (पुनन्तु मा०) इस मन्त्र का अर्थ तर्पण विषय में कह दिया है ॥ २ ॥

ओमग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुह्वै स्वाहा ॥ ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ओं सहद्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥

भाष्यम्

(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो य सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः (ओमग्नी०) प्राणापानाभ्यामनयोरर्थो गायत्रीमन्त्रार्थ उक्त (ओं वि०) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः सर्वे विद्वांसो वा (ओं ध०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते (ओं कु०) दर्शेष्ट्यर्थोयमारम्भ । विद्यापठनानन्तरं मननिर्मनन ज्ञान यस्याश्चितिशक्तेः साऽनुमतिर्वा तस्यै (ओं प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वर (ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणे सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्या सर्वोपकारा ग्राह्या । एतदर्थोयमारम्भः ॥ (ओं स्विष्ट०) यः सुखदुःखोभनमिष्ट सुख करोति स चेश्वरः । एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्यात् ॥

भाषार्थ

(ओम०) अग्नि शब्द का अर्थ पीछे कह आये हैं। (ओं सो०) अर्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न, पुष्ट करने और सुख देनेवाला (ओम०) जो सब प्राणियों के जीवन का हेतु प्राण तथा जो दुःख नाश का हेतु अपान (ओं वि०) ससार के प्रकाश करने वाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग (ओं ध०) जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा (ओं कु०) अमावास्येष्टि का करना (ओम०) पौर्णमास्येष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति (ओं प्र०) सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर (ओं स०) सत्यविद्या के प्रकाश के लिये पृथिवी का राज्य और अग्नि तथा भूमि से अनेक उपकारों का ग्रहण (ओं स्वि०) इष्ट सुख का करनेवाला परमेश्वर इन दश मन्त्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन जान लेना। अब आगे बलिदान के मन्त्र लिखते हैं॥

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ १ ॥ ओं सानुगाय यमाय नमः ॥२॥ ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ३॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥४॥ ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ ५ ॥ ओमद्भ्यो नमः ॥ ६ ॥ ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ ७ ॥ ओं श्रियै नमः ॥ ८ ॥ ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ ९ ॥ ओं ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ॥ ओं वास्तुपतये नमः ॥ ११ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ १२ ॥ ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ १३ ॥ ओं नक्तंचारिभ्यो नमः ॥ १४ ॥ ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ १५ ॥ ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ १६ ॥ इति नित्यश्राद्धम् ॥

भाष्यम्

(ओं सा०) णम प्रह्वत्वे शब्दे इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम् । नित्यैर्गुणैः सह वर्त्तमानः परमैश्वर्यवानीश्वरोऽत्र गृह्यते (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः (ओं सानुगाय०) अस्यार्थ उक्तः (ओंम०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः (ओंम०) अस्यार्थः शन्नोदेवीरित्यत्रोक्तः (ओं वन०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरो वायुमेघादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम् (ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सा श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्त्वात् । यद्वेश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा च (ओं भ०) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशक्तिः (ओं ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः (ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशं तस्पतिरीश्वरः (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः (ओं दिवा०) (ओं नक्त०) ईश्वरस्यैव सर्वेषः दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तानि विघ्नं मा

कुर्वन्तु ते सहाविरोधोऽस्तु नः । एतदर्थोयमारम्भः (ओंस०) सर्वेषां जीवा-त्मना भूतिर्भवनं सत्तेश्वरीत्र ग्राह्यः । (ओं पि०) अस्यार्थ उक्त पितृतर्पणे। नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामान्यज्ञापनार्थश्चारम्भः ॥

भाषार्थ

(ओं सानु०) सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और उस के गुण (ओ सा०) सत्य न्याय करनेवाला और उस की सृष्टि मे सत्यन्याय के करनेवाले सभासद् (ओं सा०) सब से उत्तम परमात्मा और उस के धार्मिक भक्त जन (ओ सा०) पुण्यात्माओं को आनन्द करानेवाला परमात्मा और वे लोग (ओं मरुत्०) अर्थात् प्राण जिन के रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है उनकी रक्षा करना (ओमद्भ्यो०) इस का अर्थ शन्नोदेवी इस मन्त्र मे लिख दिया है (ओ व०) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि सब के पालन के हेतु सब पदार्थ तथा जिनसे अधिक वर्षा और जिनके फलो से जगत् का उपकार होता है उन की रक्षा करनी (ओं श्रि०) जो सेवा करने के योग्य परमात्मा और पुरुषार्थ मे राज्य श्रीकी प्राप्ति करने मे सदा उद्योग करना । (ओ भ०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है उस का सदा आश्रय करना (ओं ब्र०) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिये करना (ओं वा०) वास्तुपति अर्थात् जो गृहसबन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर (ओ ब्रह्म०) वेद शास्त्र का रक्षक जगदीश्वर (ओ वि०) इस का अर्थ कह दिया है (ओं दि०)जो दिन में और (ओं नक्त०) रात्रि में विचारने वाले प्राणी हैं उन से उपकार लेना और उन को सुखदेना (सर्वात्म०) सब में व्याप्तपरमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना (ओं पि०) माता पिता और आचार्य्य आदि को प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वय भोजनादि करना, स्वाहा शब्द का अर्थ पूर्व कह दिया है और नमः शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होना और दूसरे का मान्य करना । इस के पीछे ये छः भाग करना चाहियें ॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ॥
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ १ ॥

अनेन षड्भागान् भूमौ दद्यात् । एव सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्वा च तेषा प्रसन्नता सम्पादयेत् ॥

भाषार्थ

कुत्तों, कगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिये भी छः भाग अलग २ बांट के दे देना और उन की प्रसन्नता करना अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव पूरा हुआ ॥ इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः ॥

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते । यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति, अथ के अतिथयः ? । ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्म्मिकाः सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्तानतिथय इति कथयन्ति । अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्राः सन्ति । परन्त्वत्रसंक्षेपतो द्वावेव लिखामः ॥

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥ अथ० कां० १५ अनु० १ व० ११ म० १ । २ ॥

भाष्यम्

(तद्य०) यः पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिरर्थाद्यस्य गमनागमनयोरनियता तिथिः किन्तु स्वेच्छयाकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च ॥ १ ॥ स यदा यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत् । ततो यथायोग्यां सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत् । (व्रात्य क्वावात्सीः) हे पुरुषोत्तम ! त्वं कुत्र निवासं कृतवान् (व्रात्योदक) हे अतिथे जलमेतद् गृहाण (व्रात्य तर्पयन्तु) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मान् मित्रादींश्च तर्प्पयन्ति तथाऽस्मदीया भवन्तं च (व्रात्य यथा०) हे विद्वन् ! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्य्याम । यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु (व्रात्य यथा ते) हे अतिथे ! भवान् यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया

भवत्सेवाकरणे निश्चिनुयाम (व्रात्य यथा ते) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्य्याम् यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम ॥

भाषार्थ

अब पाचवां अतिथियज्ञ अर्थात् जिस में अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है उस को लिखते हैं जो मनुष्य पूर्ण विद्वान् परोपकारी जितेन्द्रिय धर्मात्मा सत्यवादी छल कपट रहित और नित्य भ्रमण करके विद्या धर्म का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं उन को अतिथि कहते हैं। इस में वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं परन्तु उन में से दो मन्त्र यहां भी लिखते हैं (तद्यस्यैवं विद्वान्) जिस के घर में पूर्वोक्त विशेषणयुक्त (व्रात्य) उत्तमगुणसहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे तो उस की यथावत् सेवा करें और अतिथि वह कहाता है कि जिस के आने जाने की कोई तिथि (दिन) निश्चित न हो ॥ १ ॥ (स्वयमेनम०) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देख कर बड़े प्रेम से उठ के नमस्कार करके उत्तम आसन पर बैठावें पश्चात् पूछें कि आप को जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये और जब वे स्वस्थचित्त हो जावें तब पूछें कि (व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य अर्थात् उत्तम पुरुष! आपने कल के दिन कहां वास किया था (व्रात्योदकं) हे अतिथे ! यह जल लीजिये और (व्रात्य तर्पयन्तु) हम को अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिये कि जिससे हमारे इष्ट मित्र लोग सब प्रसन्न हो के आप को भी सेवा से सन्तुष्ट रक्खें ॥ (व्रात्य यथा०) हे विद्वान् जिस प्रकार आप की प्रसन्नता हो हमलोग वैसा ही काम करें तथा जो पदार्थ आप को प्रिय हो उस की आज्ञा कीजिये और (व्रात्य यथा०) जैसे आप की कामना पूर्ण हो वैसी सेवा की जाय कि जिस से आप और हमलोग परस्पर प्रीति और सत्सङ्गपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें ॥ २ ॥

इति संक्षेपतः पञ्चमहायज्ञविषयः ॥



अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः ॥

सृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं येषां येषां स्वतः परतः प्रमाणसिद्धानां ग्रन्थानां पक्षपातरहितैरागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचारैः सर्वोपकारकैराप्तैर्विद्वद्भिर्यथाङ्गीकारः कृतस्तथाऽत्रोच्यते । ये ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्त्तुं योग्याः सन्ति ये जीवोक्तास्ते परतःप्रमाणार्हाश्च ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतः प्रमाणम् । कुतः । तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात् तस्य सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तिमत्त्वाच्च । तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्यं सूर्यप्रदीपवत् । यथा सूर्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः। तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति । येग्रन्थावेदविरोधिनोवर्त्तन्ते नैवतेषांप्रामाण्यंस्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति । वेदानांतुखलुअन्येभ्योग्रन्थेभ्यो विरोधाद प्यप्रामाण्यंनभवतितेषांस्वतःप्रामाण्यात्तद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च। येस्वतः प्रमाणभूता मन्त्रसंहिताख्याश्चत्वारोवेदाउक्तास्तद्भिन्नास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमर्हन्तितथैवैकादशशतानिसप्तविंशतिश्चवेदशाखावेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैवप्रमाणमर्हन्ति।एवमेव यानि शिक्षा कल्पोऽथव्याकरणनिरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि । तथाऽऽयुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम् । धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या । गान्धर्ववेदो गानविद्या । अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं चत्वार उपवेदा अपि । तत्र चरकसुश्रुतनिघण्ट्वादय आयुर्वेदे ग्राह्याः । धनुर्वेदस्य ग्रन्था प्रायेण लुप्ता सन्ति। परन्तु तस्य सर्वविद्याक्रियावयवे सिद्धत्वादिदानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति अङ्गिरःप्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्थाबहव आसन्निति।।गान्धर्ववेदश्च सामगानविद्यादिसिद्धः । अर्थवेदश्च विश्वकर्मत्वष्टमयकृतश्चतस्रसंहिताख्यो ग्राह्यः ॥

भाषार्थ

जो २ ग्रन्थ सृष्टि की आदि से लेके आज तक पक्षपात और रागद्वेष रहित सत्यधर्मयुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य लोगों ने (स्वतःप्रमाण) अर्थात् अपने आपही प्रमाण, परतः प्रमाण अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से प्रमाणभूत हैं जिन को जिस प्रकार कर के जैसा कुछ माना है उन को आगे कहते हैं इस विषय में

उन लोगो का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर की कही हुई जो चारों मंत्र संहिता हैं वेही स्वयप्रमाण होने योग्य हैं अन्य नहीं। परंतु उन से भिन्न भी जो२ जीवों के रचे हुए ग्रंथ हैं वे भी वेदों के अनुकूल होने से परत प्रमाण के योग्य होते हैं क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुवे हैं और ईश्वर सर्वज्ञ सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है इस कारण से उस का कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है और जीवो के बनाये ग्रंथ स्वत प्रमाण के योग्य नहीं होते क्योंकि वे सर्वविद्या युक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते इसलिये उन का कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि वेदविषय में जहा कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहा सूर्य्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है अर्थात् जैसे सूर्य्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते है वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थो का भी प्रकाश करते हैं इस से यह सिद्ध हुआ कि जो जो ग्रंथ वेदो से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते और वेदो का अन्यग्रन्थो के साथ विरोध भी हो तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सक्ते क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं। इसी प्रकार ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ग्रंथ जो वेदो के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं वे भी परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं। मन्त्रभाग की चार संहिता कि जिन का नाम वेद है वे सब स्वत प्रमाण कहे जाते हैं और उन से भिन्न ऐतरेय शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रंथ है वे परतःप्रमाण के योग्य हैं तथा ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) चार वेदो की शाखा वेदों के व्याख्यान होने से परत प्रमाण तथा (आयुर्वेदः) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक सुश्रुत और धन्वन्तरिकृत निघंटु आदि ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है (धनुर्वेद) अर्थात् जिस में शस्त्रअस्त्रविद्या के विधानयुक्त अगिरा आदि ऋषियो के बनाये ग्रंथ जोकि अगिरा भरद्वाजादिकृत संहिता हैं जिन से राजविद्या सिद्ध होती है परन्तु वे ग्रंथ प्राय लुप्त से हो गये हैं। जो पुरुषार्थ से इस को सिद्ध किया चाहै तो वेदादि विद्या पुस्तकों से साक्षात् कर सकता है ॥ (गान्धर्ववेदः) जो कि सामगान और नारद संहिता आदि गानविद्या के ग्रन्थ हैं (अथर्ववेद) अर्थात् शिल्पशास्त्र जिस के प्रतिपादन में विश्वकर्म्मा त्वष्टा देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई हैं, ये चारों उपवेद कहाते हैं ॥

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता । कल्पो मानवकल्पसूत्रादिः । व्याकरणमष्टाध्यायीमहाभाष्यधातुपाठोणादिगणप्रातिपदिकगणपाठाख्यम् । निरुक्तं यास्कमुनिकृतं निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम् । छन्दः पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रभाष्यम् । ज्योतिषं वशिष्ठाद्यृष्युक्तं रेखावीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति । तथा षडुपाङ्गानि । तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृतभाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं ग्राह्यम् । द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रं तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्यायनभाष्यसहितं गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम् । चतुर्थं यत्त्रिभिर्मीमांसावैशेषिकन्यायशास्त्रैः सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकं ज्ञानतया निश्चयो भवति । तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनमुपासनाविधायकं व्यासमुनिकृतभाष्यसहितं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रम् । तथा पञ्चमं तत्वपरिगणनविवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रम् । षष्ठं बौधायनवृत्त्यादिव्याख्यानसहितं व्यासमुनिकृतं वेदान्तशास्त्रम् । तथैव ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेयछान्दोग्यबृहदारण्यका दशोपनिषदश्चोपाङ्गानि च ग्राह्याणि । एवं चत्वारो वेदाः सशाखा व्याख्यानसहिताश्चत्वार उपवेदाः षड् वेदाङ्गानि षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा चतुर्दश भवन्ति।एतैरेव चतुर्दशविद्या मनुष्यैर्प्राप्या भवतीति वेद्यम्॥

॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार मन्वादिकृत मानवकल्पसूत्रादि आश्वलायनादिकृत श्रौतसूत्रादि, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ और पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य पर्यंत व्याकरण । तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और निघण्टु वशिष्ठमुनि आदि कृत ज्योतिष सूर्य्य सिद्धांत आदि और (छन्दः) पिंगलाचार्य्यकृत सूत्रभाष्य आदि ये वेदों के छः अङ्ग भी परतःप्रमाण के योग्य और ऐसे ही वेदों के छः उपांग अर्थात् जिन का नाम षट्शास्त्र है उन में से एक व्यासमुनि आदि कृत भाष्यसहित जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा जिस में कर्मकाण्ड का विधान और धर्म धर्मि दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है दूसरा वैशेषिक शास्त्र जो कि कणादमुनिकृत सूत्र और गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित तीसरा न्यायशास्त्र जो कि गोतममुनिप्रणीत सूत्र और वात्स्यायनमुनिकृतभाष्यसहित चौथा योगशास्त्र जो कि पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र और

व्यासमुनिकृतभाष्य सहित पांचवा सांख्यशास्त्र जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृत भाष्य सहित और छठा वेदान्तशास्त्र जो कि ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ऐतरेय छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्यासमुनि कृत सूत्र जो कि बौधायनवृत्त्यादिव्याख्या सहित वेदान्तशास्त्र है ये वेदों के उपाग कहाते हैं इस का यह अभिप्राय है कि जो शाखा शाखांतरव्याख्या सहित चार वेद चार उपवेद छः अंग और उपांग है ये सब मिल के चौदह विद्या के ग्रंथ हैं ॥

एतासां पठनाद्यथार्थं मननानुमानसत्याचरणज्ञानक्रियाकाण्डसाक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम् । एत ईश्वरोक्ता वेदास्तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था आर्षा वेदानुकूलाः सत्यधर्मविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति । नैवैतेभ्यो भिन्नाः पक्षपातक्षुद्रविचार स्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादका अनाप्तोक्ता वेदार्थविरुद्धा युक्तिप्रमाण विरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचिदंगीकार्य्या इति । ते च संक्षेपतः परिगण्यन्ते रुद्रयामलादयस्तन्त्रग्रन्थाः ॥ ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणानि च । प्रक्षिप्तश्लोकत्यागाया मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः । सारस्वतचंद्रिका कौमुद्यादयो व्याकरणाभासग्रन्थाः । मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णयसिन्ध्वादयोग्रन्थाः ॥ वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीश्यंता न्यायाभासाग्रन्थाः ॥ योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः ॥ सांख्यशास्त्रविरुद्धाः सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः । वेदांतशास्त्रविरुद्धा वेदांतसारपंचदशीयोगवासिष्ठादयो ग्रन्थाः ॥ ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्त्तचिंतामण्यादयो मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायका ग्रन्थाः ॥ तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः । मार्गशीर्षैकादशीकाशीस्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमूर्त्तिपूजाकरणमात्रेणैव मुक्तिभावनपापनिवारणमाहात्म्यविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः ॥ तथैव पाखण्डिसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाण परीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति ॥

भाषार्थ

इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वत परत प्रमाण करना सुनना और पढ़ना सब को उचित है इन से भिन्नों का नहीं क्योंकि जितने ग्रंथ पक्षपाती

क्षुद्रबुद्धि कमविद्यावाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहित हैं उन को स्वीकार करना योग्य नहीं आगे उन मे से मुख्य २ मिथ्याग्रंथों के नाम भी लिखते हैं जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रंथ, ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवत आदि पुराण। सूर्य्यगाथा आदि उपपुराण। मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् सब स्मृतिग्रंथ। व्याकरणविरुद्ध सारस्वत चन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रंथ । धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि तथा वैशेषिक न्यायशास्त्र विरुद्ध तर्कसग्रह मुक्तावल्यादि ग्रंथ हठदीपिका आदि ग्रंथ जो कि योगशास्त्र से विरुद्ध हैं। तथा साख्यशास्त्रविरुद्ध साख्यतत्वकौमुदी आदि ग्रंथ, वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदातसार पचदशी योगवासिष्ठादि ग्रंथ। तथा ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक, ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र। तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादिव्रत काश्यादि स्थल पुष्कर गगादि जल यात्रा माहात्म्य विधायक पुस्तक तथा दर्शन नामस्मरण जड़मूर्त्तिपूजा करने से मुक्ति विधायक ग्रंथ। इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक वेदविरुद्ध शैव शाक्त गाणपत वैष्णवादि मत के ग्रंथ तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उन के उपदेश ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रंथ हैं। इसलिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रंथ त्याग कर देने योग्य हैं॥

प्र०-तेषु बह्वनृतभाषणेषु किञ्चित्सत्यमप्यग्राह्यम्भवितुमर्हति विषयुक्तान्नवत् उ०-यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव। कुत। तेषा प्रचारेण वेदाना सत्यार्थाप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्त्या ह्यसत्यार्थान्धकारापत्तेरविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानानुत्पत्तेश्चेति। अथ तन्त्रग्रन्थाना मिथ्यात्व प्रदर्श्यते। तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति नान्यथेति। तेषा मत यत्रेमे श्लोकाः सन्ति॥ मद्य मास च मीन च मुद्रा मैथुनमेव च॥ एते पञ्चमकाराश्च मोक्षदा हि युगे युगे॥१॥ पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले॥ पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ २॥ प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातय॥ निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् २॥३॥ मातृयोनि परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु॥ लिङ्ग योन्या तु सस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः॥४॥ मातरमपि न त्यजेत्। इत्याद्यनेकविधमल्पबुद्ध्यधर्माश्रेयस्कर्मानार्योभिहितयुक्तिप्रमाणरहित वेदादिभ्योऽत्यन्तविरुद्धमनार्षमश्लीलमुक्त तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति। मद्यादिसेवनेन बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते किन्तु नरकप्राप्तिरेव भवती-

व्यासमुनिकृतभाष्य सहित पांचवा सांख्यशास्त्र जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृत भाष्य सहित और छठा वेदान्तशास्त्र जो कि ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ऐतरेय छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्यासमुनि कृत सूत्र जो कि बौधायनवृत्त्यादिव्याख्या सहित वेदान्तशास्त्र है ये वेदों के उपांग कहाते हैं इस का यह अभिप्राय है कि जो शाखा शाखान्तरव्याख्या सहित चार वेद चार उपवेद छः अंग और उपांग है ये सब मिल के चौदह विद्या के ग्रंथ है ॥

एतासां पठनाद्यथार्थं मननानुमानसर्वाङ्गज्ञानक्रियाकाण्डसाक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम्। एत ईश्वरोक्ता वेदास्तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था आर्षा वेदानुकूलाः सत्यधर्मविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति। नैवैतेभ्यो भिन्नाः पक्षपातक्षुद्रविचारस्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादका अनाप्तोक्ता वेदार्थविरुद्धा युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचिदंगीकार्य्या इति। ते च संक्षेपतः परिगण्यन्ते रुद्रयामलादयस्तन्त्रग्रन्थाः ॥ ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणानि च। प्रक्षिप्तश्लोकत्यागाया मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः। सारस्वतचन्द्रिका कौमुद्यादयो व्याकरणाभासग्रन्थाः। मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णयसिन्ध्वादयोग्रन्थाः ॥ वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीश्यन्ता न्यायाभासाग्रन्थाः ॥ योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः ॥ सांख्यशास्त्रविरुद्धाः सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः। वेदांतशास्त्रविरुद्धा वेदांतसारपंचदशीयोगवासिष्टादयो ग्रन्थाः ॥ ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्त्तचिंतामण्यादयो मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायका ग्रन्थाः ॥ तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः। मार्गशीर्षैकादशीकाशीस्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमूर्तिपूजाकरणमात्रेणैव मुक्तिभावनपापनिवारणमाहात्म्यविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः ॥ तथैव पाखण्डिसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाण परीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति ॥

भाषार्थ

इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वत परतः प्रमाण करना सुनना और पढना सब को उचित है इन से भिन्नों का नहीं क्योंकि जितने ग्रंथ पक्षपाती

क्षुद्रबुद्धि कमविद्यावाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहित है उन को स्वीकार करना योग्य नहीं आगे उन मे से मुख्य २ मिथ्याग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थ, ब्रह्मवैवर्त श्रीमद्भागवत आदि पुराण। सूर्य्यगाथा आदि उपपुराण। मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ। व्याकरणविरुद्ध सारस्वत चन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रन्थ । धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि तथा वैशेषिक न्यायशास्त्र विरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि ग्रन्थ हठदीपिका आदि ग्रन्थ जो कि योगशास्त्र से विरुद्ध हैं। तथा सांख्यशास्त्रविरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थ, वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदांतसार पंचदशी योगवासिष्ठादि ग्रन्थ। तथा ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्तचिन्तामण्यादि मुहूर्तजन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक, ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र। तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादिव्रत काश्यादि स्थल पुष्कर गंगादि जल यात्रा माहात्म्य विधायक पुस्तक तथा दर्शन नामस्मरण जडमूर्तिपूजा करने से मुक्ति विधायक ग्रन्थ। इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक वेदविरुद्ध शैव शाक्त गाणपत वैष्णवादि मत के ग्रन्थ तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उन के उपदेश ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इसलिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं ॥

प्र०-तेषु बह्वनृतभाषणेषु किञ्चित्सत्यमप्यग्राह्यम्भवितुमर्हति विषयुक्तान्नवत् उ०-यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव। कुतः। तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्त्या ह्यसत्यार्थान्धकारापत्तेरविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानानुत्पत्तेश्चेति। अथ तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते। तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति नान्यथेति। तेषां मतं यत्रेमे श्लोकाः सन्ति ॥ मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ॥ एते पञ्चमकाराश्च मोक्षदा हि युगे युगे ॥१॥ पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले ॥ पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ २ ॥ प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः ॥ निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् २ ॥३॥ मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु ॥ लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः ॥४॥ मातरमपि न त्यजेत्। इत्याद्यनेकविधमल्पबुद्धधर्मात्मश्रेयस्कर्मानार्यैर्भिहितयुक्तिप्रमाणरहितं वेदादिभ्योऽत्यन्तविरुद्धमनार्यमश्लीलमुक्तं तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति। मद्यादिसेवनेन बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते किन्तु नरकप्राप्तिरेव भवती-

त्यन्यत् सुगमं प्रसिद्धं च । एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्या पुराणसञ्ज्ञासु किं च नवीनेषु मिथ्याभूता बह्व्यः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाःप्रदर्श्यन्ते । तत्रैवमेका कथा लिखिता प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति। सा मिथ्यैवास्ति कुतः। अस्याः कथायाः अलङ्काराभिप्रायत्वात्। तद्यथा—

भाषार्थ

कदाचित् इन ग्रंथो के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि इन असत्य ग्रंथों में भी जो२ सत्य बात हैं उन२ का ग्रहण करना चाहिये तो इस का उत्तर यह है कि जैसे अमृत तुल्य अन्न में विष मिला हो तो उस को छोड देते हैं क्योंकि उन से सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थप्रकाश वेदादि ग्रंथों का लोप हो जाता है इसलिये इन सत्य ग्रंथो के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रंथों को छोड देना अवश्य चहिये । क्योंकि विना सत्यविद्या के ज्ञान कहां ? विना ज्ञान के उन्नति कैसी ? और उन्नति के नहोने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं अब आगे उन पूर्व लिखित अप्रमाण ग्रंथों के संक्षेप से पृथक्२ दोष भी दिखलाये जाते हे देखो तंत्र ग्रंथों में ऐसे२ श्लोक लिखे हुए है कि (मद्य मांस०) मद्यपीना मांस मच्छी खाना मुद्रा अर्थात् सब के साथ इकट्ठे बैठ के रोटी बडे आदि उडाना कन्या बहिन माता और पुत्रवधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना इन पांच मकारो के सेवन से सब की मुक्ति होना ॥१॥ (पीत्वा पीत्वा०) किसी मकान के चार आलयों में मद्य के पात्र धर के एक कोने से खडे २ मद्य पीने का आरम्भ करके दूसरे में जाना दूसरे से पीते हुए तीसरे में और तीसरे से चौथे में जाकर पीना यहां तक कि जब पर्य्यन्त पीते २ बेहोश होकर लकडी के समान भूमि में न गिर पडे तब तक बराबर पीते ही चले जाना इस प्रकार बारबार पीके अनेक बार उठ २ कर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्म मरणादि दुःखों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥२॥ (प्रवृत्ते भैरवी चक्रे०) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं तब उन में ब्राह्मण से लेके चांडाल पर्य्यंत सब स्त्री पुरुष आते हैं फिर वे लोग एक स्त्री को नंगी करके वहां उस की योनि की पूजा करते हैं सो केवल इतना ही नहीं किन्तु कभी २ पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उस के लिंग की पूजा करती हैं । तदनन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याला भरके उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं फिर उसी पात्र से सब वाममार्गीलोग क्रम से मद्य पीते और अन्नमांसादिक

खाते चले जाते हैं । यहां तक कि जब तक उन्मत्त न हो जाय तब तक खाना पीना बंद नहीं करते हैं फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक मैथुन करलेते हैं जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं तब कहते हैं कि अब हमलोग अलग२ वर्णवाले हो गये ॥ ३ ॥ (मातृयोनिं०) उन के किसी २ श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़ के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे इस में कुछ दोष नहीं और (मातरमपि न त्यजेत्) किसी २ का यह भी मत है कि माता को भी न छोडना तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिंग प्रवेश करके आलस्य छोडकर मन्त्र को जपे तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है इत्यादि अनेक अनर्थरूप कथा तन्त्रग्रन्थों में लिखी हैं वे सब वेदादिशास्त्र युक्ति प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं क्योंकि मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती परन्तु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ जो कि व्यास जी के नाम से सम्प्रदायी लोगों ने रचलिये हैं उन का नाम पुराण कभी नहीं हो सकता किन्तु उन को नवीन कहना उचित है अब उन की मिथ्यात्वपरीक्षा के लिये कुछ कथा यहां लिखते हैं ॥

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत् ॥ तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् ॥ ऐ० पं०३ कण्डि० ३३। ३४ ॥

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता । शत० कां० १० अ०२ ब्रा० ७ कं० ४ ॥ तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः । निरु० अ० ४ खं० २१ । द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ॥ उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १ ॥ ऋ० मं० १ सू० १६४ मंत्रः ३३ ॥ शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यङ्गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् ॥ पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥ २ ॥ ऋ० ॥ मं० ३ सू० ३१ मं०१ ॥

॥ भाष्यम् ॥

सविता सूर्य्यः सूर्य्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोस्ति तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरूपा चास्ति। यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत् स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः स च पिता तां रोहितां किञ्चिद्रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति। एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यपुत्रमजीजनदुत्पादयति। अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत्सूर्य्यश्च। कुतः। तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्य्याद्दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात् यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित्सूर्य्यप्रकाशेन रक्तता भवति। तस्योषा इति संज्ञा। तयोः पितादुहित्रोः समागमादुत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः। यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति। तथैवात्रापि बोध्यम्। एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पितादुहितृवत्। कुतः पर्जन्याद्द्भ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः। अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति। स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य्यवज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते। अयमपि रूपकालङ्कारः। अत्र वेदप्रमाणम् (द्यौर्मे पिता०) प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति (जनिता) सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः। अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात्। तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वं तानयोरुत्तानस्थितयोरलङ्कारः। अत्र पिता पर्जन्यो दुहितुः पृथिव्याः गर्भं जलसमूहमाधात्। आ समन्ताद्धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः॥ १॥ (शासद्वह्नि०)अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्यविधायकोस्ति। वह्निशब्देन सूर्य्यो दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव स पिता स्वस्या उषसो दुहितुः सेकं किरणाख्यवीर्य्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा दिवसपुत्रमजनयदिति ॥२॥ अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित्केनापि सत्या मन्तव्या इति ॥

भाषार्थ

नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या कर के लिखी है जो कि प्रथम रूपकालंकार की थी (प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम०) अर्थात् यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को जिस की दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा। क्योंकि

जो जिस से उत्पन्न होता है वह उस का ही संतान कहाता है इस लिये उषा जो कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा मे रक्तता दीख पडती है वह सूर्य्य किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है उन में से उषा के सन्मुख जो प्रथम सूर्य्य की किरण जाके पड़ती है वही वीर्य्यस्थापन के समान है उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है प्रजापति और सविता ये शतपथ में सूर्य्य के नाम हैं तथा निरुक्त में भी रूपकालकार की कथा लिखी है कि पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है उस की पृथिवी रूप दुहिता अर्थात् कन्या है क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही है जब वह उस कन्या में वृष्टिद्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है तब उस से गर्भ रह कर ओषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं इस कथा का मूल ऋग्वेद है कि (द्यौर्मे पिता०) द्यौ जो सूर्य्य का प्रकाश है सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है (उत्तान०) जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चादनी तान देते हैं अथवा आमने सामने दो सेना होती हैं इसी प्रकार सूर्य्य और पृथिवी अर्थात् ऊपर की चादनी के समान सूर्य्य और नीचे के बिछौने के समान पृथिवी हैं तथा जैसे दो सेना आमने सामने खड़ी हों इसी प्रकार सब लोकों का परस्पर सम्बन्ध है इस मे योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी और गर्भस्थापन करने वाला पति के समान मेघ है वह अपने बिन्दुरूप वीर्य्य के स्थापन से उस को गर्भधारण कराने से ओषध्यादि अनेक सन्तान उत्पन्न करता है कि जिन से सब जगत् का पालन होता है ॥ १ ॥ (शासद्वह्निः०) सब के वहन अर्थात् प्राप्ति कराने वाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञान वृद्धि के लिये रूपकालकार कथाओं का उपदेश किया है । तथा वही (ऋतस्य) जल का धारण करने वाला (नप्त्यङ्गा०) जगत् में पुत्र पौत्रादि का पालन और उपदेश करता है (पितायत्र दुहितुः०) जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्य्य स्थापन करता है जैसा कि पूर्व लिख आये हैं इसी प्रकार यहां भी जान लेना । जिस ने इस प्रकार के पदार्थ और उन के सम्बन्ध रचे हैं उस को हम नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥ जो यह रूपकालकार की कथा अच्छी प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रन्थो में प्रसिद्ध है इस को ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया तथा ऐसी२ अन्य कथा भी लिखी हैं उन सब को विद्वान् लोग मन से त्याग के सत्य कथाओं को कभी न भूलें ॥

तथा च कश्चिद्देहधारीन्द्रो देवराज आसीत् स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान् तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति । तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति । तस्या रामपादरजः स्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति । तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति । कुतः । आसामप्यलङ्कारार्थत्वात् ॥ तद्यथा–

इन्द्रागच्छेति । गौरावस्कान्दिन्नहल्यायै जारेति । तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्प्रमुमोदयिषति ॥ शत० कां० ३ प्र० ३ । अ०३ ब्रा० १ कं० १८ ॥ रेतः सोमः । श० कां० ३ । अ० ३ । ब्रा ५ । कं० १॥ रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते । निरु० अ० १२ खं० ११। सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति सोपि गौरुच्यते। निरु० अ० २ ख० ६ । जार आभगः । जार इव भगमादित्योत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता । निरु० अ० ३ ख० । एष एवेन्द्रो य एष तपति श० कां० १ अ० ६ । ब्रा० ३ क० १८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

इन्द्रः सूर्य्यो य एष तपति भूमिस्थान्पदार्थांश्च प्रकाशयति । अस्येन्द्रेति नाम परमैश्वर्य्यप्राप्तेर्हेतुत्वात् । स अहल्याया जारोस्ति । सा सोमस्य स्त्री तस्य गोतमेति नाम । गच्छतीति गौरिति गोतमश्चन्द्रः तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोस्ति। रात्रिरहल्या कस्मादहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रिरहल्योच्यते। स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति स्वस्त्रियाऽहल्यया सुखयति । अत्र स सूर्य्य इन्द्रो रात्रेरहल्याया गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते । कुतः । अयं रात्रे र्जरयिता । जृष् वयोहानाविति धात्वर्थोऽभिप्रेतोस्ति । रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य्य एवेति मन्तव्यम् । एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्काराया भूषणरूपाया सच्छास्त्रेषु प्रणीताया कथाया सत्या या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति सा केनचित्कदापि नैव मन्तव्या हेयताऽदृश्योऽन्याश्चापि ॥

भाषार्थ

अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है कि जिस को मूढ़ लोगों ने अनेक प्रकार बिगाड के लिखा है सो उस को ऐसे मान रक्खा है कि देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था वह गोतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया करता था एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देख लिया तब इस प्रकार शाप दिया कि हे इन्द्र तू हजार भगवाला होजा तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाणरूप हो जा परन्तु जब उन्हों ने गोतम की प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब होगा तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजार भग के स्थान में हजार नेत्र हो जाय और अहल्या को वचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर चरण अपना लगावेंगे उस समय तू फिर अपने स्वरूप मे आजावेगी इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड कर लिखी है सत्य ग्रन्थों मे ऐसे नहीं है तद्यथा (इन्द्रागच्छेति) अर्थात् उन में इस रीति से है कि—सूर्य्य का नाम इन्द्र रात्रि का अहल्या तथा चन्द्रमा का गोतम है। यहा रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री पुरुष के समान रूपकालंकार है चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द करता है और इस रात्रि का जार आदित्य है अर्थात् जिस के उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है और जार अर्थात् यह सूर्य्य ही रात्रि के वर्त्तमान रूप शृङ्गार को बिगाडने वाला है इसलिये यह स्त्रीपुरुष का रूपकालंकार बांधा है कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ २ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम गोतम इसलिये है कि अत्यन्त वेग से चलता है और रात्रि को अहल्या इसलिये कहते हैं कि उस में दिन लय होजाता है तथा सूर्य्य रात्रि को निवृत्त कर देता है इसलिये वह उस का जार कहाता है इस उत्तम रूपकालंकार विद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड के सब मनुष्यों मे हानिकारक फल धर दिया है इसलिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं का मूल से ही त्याग कर दें ॥

एवमेवेन्द्रः कश्चिद्देहधारी देवराजआसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽतो देवाना महद्भयमभूत्। ते विष्णुशरण गता विष्णुरुपायं वर्णितवान् मया प्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति। ईदृशयः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिता कथा पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः। एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्। तद्यथा—

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री । अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ १ ॥ अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ॥ वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ २ ॥ ऋ० म० १ सू०३२ मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

इन्द्रस्य सूर्य्यस्य परमेश्वरस्य वातानि वीर्य्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथयामि यानि प्रथमानि पूर्वं (नु) इति वितर्के वज्री चकार (वज्री) वज्रं प्रकाशः प्राणो वास्यास्तीति । वीर्य्यं वै वज्र श० का० ७ अ० ४ । स अहिं मेघमहन् हतवान् त हत्वा पृथिव्यामनुपश्चादपस्ततर्द विस्तारितवान् । ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेण हिंसितवान् । तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति कीदृश्यस्ता नद्यः पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्यमानाः यज्जलमन्तरिक्षाद्धिंसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम् ॥ १ ॥ अग्रे मन्त्राणां सक्षेपतोऽर्थो वर्ण्यते (त्वष्टा) सूर्य्यः (अहन्नहिं) तं मेघमहन् हतवान् । कथं हतवानित्यत्राह (अस्मै) अहये वृत्रासुराय मेघाय (पर्वते शिश्रियाणम्) मेघे श्रितम् (स्वर्य्यम्) प्रकाशमयम् (वज्रम्) स्वकिरणजन्यविद्युतं प्रक्षिपति येन वृत्रासुरं मेघं (ततक्ष) कणीकृत्य भूमौ पातयति । पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति । ता आपः समुद्रं (अवजग्मुः) गच्छन्ति कथम्भूता आपः (अञ्जः) व्यक्ताः (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः । का इव वाश्रा वत्समिच्छवो गाव इव । आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम् । यदिदं वृत्रशरीराख्यजलस्य भूमौ निपातनं तदिदं सूर्य्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ

तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है इस को भी पुराणवालों ने ऐसा धर के लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जापडी है देखो कि त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया तब सब देवता लोग बडे भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये और विष्णु ने उस के मारने का उपाय

बतलाया कि मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊंगा तुम लोग उस फेन को उठा के वृत्रासुर के मारना वह मर जायगा। यह पागलों की सी बनाई हुई पुराण ग्रन्थों की कथा सब मिथ्या हैं श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इन को कभी न मानें देखो सत्य ग्रन्थों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि (इन्द्रस्य नु०)यहां सूर्य का इन्द्र नाम है उस के किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं । जो परमैश्वर्य होने का हेतु अर्थात् बडा तेजधारी है वह अपनी किरणों से वृत्र अर्थात् मेघ को मारता है जब वह मरके पृथिवी में गिर पडता है तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है फिर उस से अनेक बडी २ नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं कैसी वे नदी हैं कि पर्वत अर्थात् मेघों से उत्पन्न होकर जल ही वहने के लिये होती हैं जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मार के आकाश से पृथिवी में गिरा देता है तब वह पृथिवी में सो जाता है ॥ १ ॥ फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके पर्वत अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है जिस को सूर्य्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है जैसे कोई लकडी को छील के सूक्ष्म कर देता है वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु २ कर के पृथिवी में गिरादेता है और उस के शरीररूप जल सिमट २ कर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं कि जैसे अपने बछडों को गाय दौडके मिलती हैं ॥ २ ॥

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन । स्कन्धांसीव कुलिशेनाविवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥३॥ अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान। वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥४॥ ऋ० मण्ड० १ सू० ३२। मं०५।७॥

भाष्यम्

अहिरिति मेघनामसु पठितम् निघ० अ० १ ख० १० । इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुस्तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः । वृत्र सघ्निवानपववार तद्वृत्रो वृणोतेर्वा वर्त्ततेर्वा वर्धतेर्वा यदवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते यदवर्त्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते निरु० अ० २

म० १७ ॥ (इन्द्रः) सूर्य्यः (वज्रेण) विद्युत् किरणाख्येन (महता व०) तीक्ष्णतरेण (वृत्रम्) मेघम् (वृत्रतरम्) अत्यन्तबलवन्तम् (व्यंसम्) छिन्नस्कन्धछेदितघनजालं यथास्यात्तथा (अहन्) हतवान् ॥ ३ ॥ स (अहिः) मेघः (कुलिशेन) वज्रेण (विवृक्णा) छिन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक्) यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सदङ्गं पृथिव्यां पतति तथैव स मेघोऽपि (अशयत) छन्दसि लुङ् लङ् लिट इति सामान्यकाले लङ् पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्य्येणापादहस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गः कृतो वृत्रो मेघो भूमावशयत् शयनं करोतीति ॥ ४॥ निघण्टौ वृत्र इति मेघस्य नाम । इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य निवारकः । त्वष्टा सूर्य्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः । कुतः । सूर्य्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत् कणीभूतं जलमुपरि गच्छति तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात् । पुनश्च तं सूर्य्यो हत्वा भूमौ निपातयति । स च भूमिं प्रविशति नदीर्गच्छति । तद्द्वारा समुद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति पुनश्चोपरि गच्छति । तं वृत्रमिन्द्रः सूर्य्यो जघ्निवानपववार निवारितवान् । वृत्रार्थो वृणोतेः स्वीकरणीयः । मेघस्य यद्वृत्रत्वमावरकत्वं तद्वर्त्तमानत्वाद्वर्धमानत्वाच्च सिद्धमिति विज्ञेयम् ॥

भाषार्थ

जब सूर्य उस अत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न भिन्न करके पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट २ कर गिराता है तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करने वाला होजाता है ॥३॥ निघण्टु में मेघ का नाम वृत्र है । (इन्द्रशत्रु०) वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य्य है सूर्य्य का नाम त्वष्टा है उस का सन्तान मेघ है क्योंकि सूर्य्य की किरणों के द्वारा जल कण २ होकर ऊपर को आकर वहां मिल के मेघरूप होजाता है तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिये है कि (वृत्रो वृणोते.०) वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का आवरण करने वाला है ॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् । वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥ ५ ॥ नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च ॥ इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १ सू० ३२ मं० १० । १३ ॥

भाष्यम्

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति। वृत्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रोनाम॥४॥ तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवाऽपोऽभिप्रसुस्राव सर्वत इवह्ययꣳ समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्सा चक्रिरे ता उपर्युपर्य्यतिपुप्रुविरेऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वाऽइतरासु सꣳसृष्टमिव यदेनासु वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति॥५॥ श० कां० १ अ० १ ब्रा० ३ कण्डि० ४। ५॥ तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः सूर्य्यो द्युस्थान इति। निरु० अ० ७ ख० ॥५॥ (अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्चरन्ति। अतएवेन्द्रशत्रुर्वृत्रोमेघो भूमावशयत्। आ समन्ताच्छेते॥५॥ (नास्मै विद्युत०) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत्तन्यतुश्चास्मै सूर्य्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धुं न शक्नोति। अहिर्मेघ इन्द्र सूर्य्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते। यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्य्यप्रकाशं निवारयति। यदा सूर्य्यस्य तापरूपसेना वर्धते तदा वृत्रं मेघं निवारयति परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्य्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति अन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्येति॥८॥ (वृत्रो ह वा इति०) स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वाऽऽवृत्य शिश्ये शयनं करोति। तस्माद्वृत्रो नाम। तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्य्यो जघान हतवान्। स हतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः संयुक्तः पूतिर्दुर्गन्धो भवति। स पुराकाशस्थो भूत्वा सर्वतोऽपोऽभिसुस्राव तासां वर्षणं करोति। अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो भवति। अतएव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति। इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीगता आपः सूर्य्यद्वारेणोपर्य्युपर्य्यन्तरिक्षं पुप्रुविरे गच्छन्ति ततोऽभिवर्षन्ति च। ताभ्य एवेमे दर्भाद्योषधिसमूहा जायन्ते। यौ वाय्विन्द्रौ सूर्य्योपवनावन्तरिक्षस्थानौ सूर्य्यश्च द्युस्थाने अर्थात् प्रकाशस्थः। एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्त्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गी कर्त्तव्या इति॥

भाषार्थ

(अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बडी २ नदियां उत्पन्न

होके अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं और जितना जल तालाव वा कूप आदि में रह जाता है वह मानो पृथिवी मे शयन कर रहा है ॥५॥ (नास्मै०) अर्थात् वह वृत्र अपने विजुली और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता इस प्रकार अलङ्काररूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनो परस्पर युद्धके समान करते हैं अर्थात् जब मेघ बढता है तब तो वह सूर्य्यके प्रकाश को हटाता है और जब सूर्य्य का ताप अर्थात् तेज बढता है तब वह वृत्रनाम मेघ कोहटा देता है परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य्य ही का विजय होता है ॥६॥ (वृत्रो ह वा०) जब २ मेघ वृद्धि को प्राप्त हो कर पृथिवी और आकाश में विस्तृत होके फैलता है तब २ उस को सूर्य्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सडे हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं २ दुर्गंध रूप भी हो जाता है फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है तब समुद्र का जल देखने में भयंकर मालूम पडने लगता है। इसी प्रकार वारवार मेघ वर्षता रहता है (उपर्य्युपर्य्यति०) अर्थात् सब स्थानों से जल उड २ कर आकाश में बढता है वहा इकट्ठा होकर फिर २ वर्षा किया करता है। उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं उसी मेघ को वृत्रासुर के नाम से बोलते हैं ।वायु और सूर्य्य का नाम इन्द्र है, वायु अन्तरिक्ष मे और सूर्य्य प्रकाशस्थान में स्थित है इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश मे युद्ध हुआ करता है कि जिस के अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य्य का विजय निःसंदेह होता है इस सत्य ग्रन्थों की अलङ्काररूप कथा को छोड के छोकरों के समान अल्पबुद्धि वाले लोगो ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी हैं उन को श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें ॥

भाष्यम्

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसङ्ग्रामकथा अन्यथैव सन्ति ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः । कुतः । तासामप्यलङ्कारयोगात् । तद्यथा । देवासुरा संयत्ता आसन् ।१। श० का० १३ अ० ३ ब्रा० ९ क० १ ॥ असुरानभिभवेम देवा असुरा असुरता स्थानेष्वस्ता स्थानेभ्य इति वापि वासुरिति प्राणनामास्त शरीरे भवति तेन तद्वन्तः । सोर्देवानसृजत तत्सुराणा सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते ॥ निरु० अ० ३ ख० ८ ॥ देवानामसुरत्वमेकत्व प्रज्ञावत्त्व वा नवत्ववापि वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम् ॥ निरु० अ० १० ख० ३४ ॥ सोर्चञ्छ्रम्यश्चचार प्रजाकामः । स

आत्मन्येव प्रजातिमधत्त स आस्येनैव देवानसृजत ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय दिवेवास तद्वेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास। अथ योयमवाङ्प्राणः। तेनासुरानसृजत त इमामेव पृथिवीमभिपद्याऽसृज्यन्त तस्मै ससृजानाय तम इवास। सोऽवेत्। पाप्मानं वाऽअसृक्षि यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति तांस्तत एव पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभवंस्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभवन्निति। तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तम्। न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्च नास्ति। मायेत्साते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति। स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्त्ससृजानाय तम इवास ताᳬ रात्रिमकुरुत ते अहोरात्रे। स ऐक्षत प्रजापतिः। श० का० ११ अ० १ ब्रा० ६ क० ७। ८। ८। ९। १०। ११। १२। देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः। श० का० १ अ० ७ ब्रा० ५ क०२२॥ द्वया ह प्राजापत्याः। देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः। यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा। श० का० १४ अ० ३ ब्रा० ४ क० १। ४। ऊर्गिति देवा मायेत्यसुराः। श० का०१० अ०५ ब्रा० ६ क०२०॥ प्राणा देवाः। श० का० ६ अ० २ ब्रा० ३ क० १५॥ प्राणो वा असुरस्तस्यैषा माया। श० का० ६ अ० ६ ब्रा० ४ क० ६। (देवासुराः०) देवा असुराश्च संयत्ताः सन्नद्धा युद्धं कर्त्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः। के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते। विद्वाᳬसो हि देवाः श० का०३अ०७ ब्रा०६ क०१०। हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः। ये देवास्ते विद्यावत्त्वात्प्रकाशवन्तो भवन्ति। ये ह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वाज्ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति। एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्त्ततेऽयमेव दैवासुरसङ्ग्रामः। द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति। स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं तस्मात्ते यशो यशोह भवति। य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति मनो ह वै देवा मनुष्यस्य। श०का०१अ०१ ब्रा० १ क०४। ५। ७। ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः। ये चानृतवादिनोऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव। तयोरपि

परस्परं विरोधो युद्धमिव भवत्येव मनुष्यस्य यन्मनस्तद्देवाः प्राणाः असुरा एतयोरपि विरोधो भवति । मनसा विज्ञानबलेन प्राणाना निग्रहो भवति प्राणबलेन मनसश्चेति युद्धमिव प्रवर्त्तते । प्रकाशाख्यात्सोर्देवान्मन षष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत । अतस्ते प्रकाशकारकाः । असोरन्धकाराख्यात्पृथिव्यासुरान्पञ्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत । एयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानुरोधेन सङ्ग्रामवदनयोर्वर्त्तमानमस्तीति विज्ञेयम् (सोर्चञ्छ्रायश्चचार) प्रजाकामः परमेश्वर आस्येनाग्निपरमाणुमयात् कारणात् सूर्य्यादीन्प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्योयानसृजत ते देवा द्योतमाना दिव प्रकाश परमेश्वरप्रेरितमभिपद्य प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त । तदेव देवाना देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते । अथेत्यनन्तरमर्वाचीनो योऽय प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्तेनैवासुरान्प्रकाशरहितानसृजत सृष्टवानस्ति। ते पृथिवीमभिपद्यौषध्यादीन्पदार्थानसृज्यन्त । ते सर्वे सकार्य्याः प्रकाशरहितास्तयोस्तमः प्रकाशवतोरन्योन्य विरोधोयुद्धमिव प्रवर्त्तते तस्मादिदमपि देवासुरं युद्धमिति विज्ञेयम् । तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवोस्ति । पापात्मा ह्यसुरश्च । एतयोरपि परस्परविरुद्धस्वभावाद्युद्धमिव प्रतिदिनं भवति तस्मादेतयोरपि देवासुरसङ्ग्रामोस्तीति विज्ञेयम् एवमेव दिनं देवो रात्रिरसुरः एतयोरपि परस्पर युद्धमिव प्रवर्त्तते । त इमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्त्तन्ते अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति । तेषा मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति । वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात्प्राणाना तन्मयत्वाच्च । तथैव जन्मतो मनुष्या सर्वेऽविद्वांसो भवन्ति । पुनर्विद्वांसश्च । तथैव वायोः सकाशादग्नेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणा च तस्मादसुरा ज्येष्ठाः देवाश्च कनिष्ठाः। एकत्र देवाः सूर्य्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुरा कनिष्ठाश्च ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात्तस्यापत्यानीव सन्तीति विज्ञेयम् । एषामपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तत इति ज्ञातव्यम् । ये प्राणपोषकाः स्वार्थसाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते ह्यसुरा । ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनोधार्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः एतयोरपि परस्परं विरोधात्सङ्ग्राम इव भवति । इत्यादिप्रकारक दैवासुर युद्धमिति बोध्यम् । एव परमोत्तमाया विद्याविज्ञापनार्थाया रूपकालङ्कारेणान्विताया सत्यशास्त्रेप्रूक्ताया कथाया सत्यां व्यर्थपुराणसञ्ज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्ति विद्वद्भिर्नैवैताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति ॥

भाष्यम्

जो चौथी देवासुर संग्राम की कथा रूपकालंकार की है इस को भी विना जाने प्रमादी लोगों ने बिगाड़ दिया है जैसे एक दैत्यों की सेना थी कि जिन का शुक्राचार्य पुरोहित था और वे दक्षिण देश में रहते थे तथा दूसरी देवों की सेना थी कि जिन का राजा इन्द्र सेनापति अग्नि और पुरोहित बृहस्पति था उन देवों के विजय कराने के लिये आर्य्यावर्त्त के राजा भी जाया करते थे असुर लोग तप करके ब्रह्मा विष्णु महादेवादि से वर माग लेते थे और उन के मारने के लिये विष्णु अवतार धारण करके पृथिवी का भार उतारा करते थे यह सब पुराणों की गप्पें व्यर्थ जानकर छोड़ देना और सत्य ग्रन्थों की कथा जो नीचे लिखते हैं उन का ग्रहण करना सब को उचित है तद्यथा (देवासुरा' स०) देव और असुर अपने२ बाने में सजकर सब दिन युद्ध किया करते हैं तथा इन्द्र और वृत्रासुर की जो कथा ऊपर लिख आये सो भी देवासुरसंग्राम रूप जानो क्योंकि सूर्य्य की किरण देवसञ्ज्ञक और मेघ के अवयव अर्थात् बादल असुरसञ्ज्ञक हैं उन का परस्पर युद्ध वर्णन पूर्व कर दिया है निघण्टु आदि सत्य शास्त्रों में सूर्य्य देव और मेघ असुर करके सिद्ध है इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर संग्राम का स्वरूप यथावत् जान लेवें जैसे जो लोग विद्वान् सत्यवादी सत्यमानी और सत्यकर्म करने वाले हैं वे तो देव और जो अविद्वान् झूठ बोलने झूठ मानने और मिथ्याचार करने वाले हैं वे असुर कहाते हैं उन का परस्पर नित्य विरोध होना यही उन के युद्ध के समान है। इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञान इन्द्रिय भी देव कहाते हैं उन में राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं तथा सब प्राणों का नाम असुर है उन में राजा प्राण और अपानादि सेना है इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय होता है (सोऽदे॰) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पाच ज्ञानेन्द्रिय उन के परस्पर सयोग तथा सूर्य आदि को ईश्वर रचता है और (असो॰) अन्धकाररूप परमाणुओं से पाच कर्मेन्द्रिय दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है जो कि प्रकाशरहित होने से असुर कहाते हैं प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इन के भी परस्पर संग्राम होते हैं। तथा पुण्यात्मा मनुष्य देव और पापात्मा दुष्टलोग असुर कहाते हैं उन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है तथा दिन का नाम देव और रात्रि का नाम असुर है इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है तथा शुक्लपक्ष का नाम देव और कृष्णपक्ष का नाम असुर है तथा उत्तरायण की देवसञ्ज्ञा और दक्षिणायन की असुर

संज्ञा है इन सभों का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है इसी प्रकार अन्यत्र भी जहा२ ऐसे लक्षण घट सकें वहा२ देवासुर संग्राम का रूपकालंकार जान लेना। ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं इन में से जो२ असुर अर्थात् प्राण आदि हैं वे ज्येष्ठ कहाते हैं क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुए हैं तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते हैं तथा सूर्य्य ज्ञानेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्रकाश होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं उन में से जो २ मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करने वाले तथा कपट छल आदि दोषो से युक्त हैं वे असुर और जो लोग परोपकारी परदुःखभंजन तथा धर्मात्मा हैं वे देव कहाते है। इस सत्यविद्या के प्रकाश करने वाली कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन कर्म और वचन से त्याग कर देना सब को उचित है॥

एवमेव कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ग्रन्थेषु वेदादिशास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति। तद्यथा-मरीचिपुत्रः कश्यपऋषिरासीत्तस्मै त्रयोदश कन्या दक्षप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ता। तत्सङ्गमेन दितेर्दैत्या अदितेरादित्याः दनोर्दानवाः एवमेव कद्र्वाः सर्पा विनतायाः पक्षिणः तथाऽन्यासां सकाशाद्वानरर्क्षवृक्षघासादय उत्पन्ना इत्याद्या अन्धकारमय्यः प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा असम्भवग्रस्ताः कथा उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम्॥ तद्यथा-

स यत्कूर्मो नाम प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्म्मः कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति॥ श० कां० ७ अ० ५ ब्रा० १ कं० ५॥

भाष्यम्

(स यत्कूर्मः) परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते तस्मात्तस्य कूर्म्म इति संज्ञा। कश्यपो वै कूर्म्म इत्यनेन परमेश्वरस्यैव कश्यप इति नामास्ति। तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात्सर्वा इमाः प्रजाः काश्यप्य इत्युच्यन्ते। कश्यपः कस्मात्पश्यको भवतीति निरुक्त्या पश्यतीति पश्यः सर्वज्ञत्वात् सकलं जगद्विजानाति स पश्यः पश्य एव निर्भ्रमतयाऽतिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातः पश्यक इति। आद्यन्ताक्षरविपर्य्ययाद्धि हेः सिंहः

कृतिस्तकुरित्यादिवत्कश्यप इति इय० इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति । अतः सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्यः प्रजा इति ॥

भाषार्थ

जो पांचवीं कश्यप और गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने बिगाड़ के प्रसिद्ध की हैं जैसे देखो कि मरीचि के पुत्र एक कश्यप ऋषि हुए थे उन को दक्षप्रजापति ने विवाहविधान से तेरह कन्या दीं कि जिन से सब संसार की उत्पत्ति हुई अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रु से सर्प और विनता से पक्षी तथा औरों से वानर ऋच्छ घास आदि पदार्थ भी उत्पन्न हुए, इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असम्भव कथा लिख रक्खी हैं, उन को मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं देखिये येही कथा सत्य शास्त्रों में किस प्रकार की उत्तम लिखी हैं (स यत्कूर्म्मो०) प्रजा को उत्पन्न करने से कूर्म्म तथा अपने ज्ञान से देखने के कारण उस परमेश्वर को कश्यप भी कहते हैं । (कश्यप) यह शब्द (पश्यक) इस शब्द के आद्यन्ताक्षर विपर्य्यय से बनता है । इस प्रकार की उत्तम कथा को समझ के उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ देवें कि जिस से सब का कल्याण हो अब देखो गयादितीर्थों की कथाओं को ॥

प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलꣳसत्यादोजीय इत्येवं वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता ॥ सा हैषा गयांस्तत्रे ॥ प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रेतद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम । श० का० १४ अ० ८ ब्रा० १ कं० ६ । ७॥ तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति ॥ तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति ॥ श० का० १२ अ० २ ब्रा० ५ कं० १ ।५॥ गय इत्यपत्यनामसु पठितम् निघं० अ० ३ ख० ४ ॥ अहिꣳसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य इति छान्दोग्योपनि० ॥ समानतीर्थे वासी । इत्यष्टाध्यायाम् । अ० ४ पा० ४ सू० १०८ । सतीर्थ्यो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम् । त्रयः स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति ॥ यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातक इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्रे । नमस्तीर्थ्याय च ॥ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः । इति शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम् ॥ अ० १६ । एवमेव गयाया श्राद्धं कर्त्तव्यमित्यत्रोच्यते ।

तद्यथा—प्राण एव बलमिति विज्ञायते बलमोजीयः । तत्रैव सत्य प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितं तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् । गायत्र्यपि त्रयविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिता तां गायत्रीं गयामाह प्राणानां गयेति संज्ञा । प्राणा वै गया इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम् । अर्थात् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्दधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येक गयाश्राद्धविधानम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधीयते । एवमेव गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति । अत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः श्रद्धातव्यम् । गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया । मातुः पितुराचार्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते । तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणोपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्य्येति । अत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते । अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावात् । मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित्स्वार्थसाधनतत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितम्, तस्य स्थलस्य गयेति च । तद् व्यर्थमेव । कुतः । विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति प्राणगृहप्रजानां चातोऽन्यथं तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम् । अत्र प्रमाणम् ॥

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥ १ ॥ यजु० अ० ५ मं० १५ ॥ यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णनाभः । समूढमस्य पांसुरेप्यायनेन्तारिक्षे पद न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यतइति पांसवः पादैः सूयन्त इति वा पन्नाः शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा । निरु० अ० १२ खं० १८॥

अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता । तद्यथा—विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य पूषेति नाम । अत्राह निरुक्तकारः ॥

पूषेत्यथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नो-

तेषां तस्यैषा भवति । इदं विष्णुरित्यृक् । निरु० अ० १२खं० १७ ॥

भाष्यम्

वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोस्ति चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नोति वा स विष्णुर्निराकारत्वात्सर्वगत ईश्वरोस्ति। एतदर्थेयाभिकेयमृक् । इदं सकलं जगत्त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् । "क्रमु पादविक्षेपे" पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु (निधत्ते) निदधे स्थापितवान् । अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे । यच्च प्रकाशमयं सूर्य्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ वेति विज्ञेयम् । एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितमेषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्त्तमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत्पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम् । तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्म्मास्तीति बोध्यम् । अयमेवार्थः (यदिदं किञ्च०) इत्यनेन यास्काचार्य्येण वर्णितः । यदिदं किञ्चिज्जगद्वर्त्तते तत्सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान् । (त्रिधा निधत्ते पदं) त्रेधाभावाय त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय तदुक्तं पूर्वमेव तस्मिन् विष्णुपदे मोक्षाख्ये समारोहणे समारोढुमर्हे गयशिरसीति प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते । यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते । तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येऽस्तीति । कुतः । व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात् । पांसुरेऽप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगच्चक्षुषा न दृश्यते । ये च पांसवः परमाणुसङ्घाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः सूयन्त उत्पद्यन्ते । अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्थाः दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते। इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः परिहताभावैः प्रचारित इति बोद्धव्यम् । तथैव वेदाद्युक्तरीत्याऽऽर्य्यैरनुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति । यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि तीर्थानि मतानि। यानि च भ्रान्तै रचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्युक्तानि तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम् ।

तद्यथा—प्राण एव बलमिति विज्ञायते बलमोजीयः । तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितं तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् । गायत्र्यपित्र्यविद्यायामध्यात्म प्रतिष्ठिता सा गायत्री गयामाह प्राणाना गयेति संज्ञा । प्राणा वै गया इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम् । अर्थात् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्दधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येक गयाश्राद्धविधानम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधीयते । एवमेव गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति । अत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः श्रद्धातव्यम् । गृहाख्येषु श्रद्धावश्यं विधेया । मातुः पितुराचार्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते । तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणोपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्य्येति । अत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते । अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावात् । मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित्स्वार्थसाधनतत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितम्, तस्य स्थलस्य गयेति च। तद् व्यर्थमेव । कुतः । विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति प्राणगृहप्रजानां चातोऽन्येषां तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम् । अत्र प्रमाणम् ॥

इ॒दं विष्णु॒र्विच॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम् । समू॑ढमस्य पांसु॒रे स्वाहा॑ ॥ १ ॥ यजु० अ०५ म० १५ ॥ यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णनाभः । समूढमस्य पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यतइति पांसवः पादैः सूयन्त इति वा पन्नाः शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा । निरु० अ० १२ खं० १८॥

अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता । तद्यथा—विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य पूषेति नाम । अत्राह निरुक्तकारः ॥

पूषेत्यथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नो-

लेर्वा तस्यैषा भवति । इदं विष्णुरित्यृक् । निरु० अ० १२खं० १७ ॥

भाष्यम्

वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोस्ति चराचरं जगत् व्यश्नुतेव्याप्नोति वा स विष्णुर्निराकारत्वात्सर्वगत ईश्वरोस्ति। एतदर्थवाचिकेयमृक्।इदं सकलं जगत्त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् ।"क्रमु पादविक्षेपे" धातोः प्रकृतिपरमाणवादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वो वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु (निधत्ते) निदधे स्थापितवान् । अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाणवादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे । यच्च प्रकाशमयं सूर्य्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ वेति विज्ञेयम् । एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितमेषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्त्तमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत्पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम् । तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम् । अयमेवार्थ (यदिदं किञ्च०) इत्यनेन यास्काचार्य्येण वर्णितः । यदिदं किञ्चिज्जगद्वर्त्तते तत्सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान् । (त्रिधा निधत्ते पदं) त्रेधा भावाय त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय तदुक्तं पूर्वमेव तस्मिन् विष्णुपदे सोऽक्षाख्ये समारोहणे समारोढुमर्हे गयशिरसीति प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते । यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते । तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येऽस्तीति । कुतः । व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात् । पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगत्तच्चक्षुषा न दृश्यते । ये च पांसवः परमाणुसङ्घाताः पादैस्तद्द्रव्याद्यैः सूयन्त उत्पद्यन्ते । अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्थाः दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते। इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः परिहताभावैः प्रचारित इति बोद्धव्यम् । तथैव वेदाद्युक्तरीत्याऽऽर्यैरनुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति ।यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि तीर्थानि मतानि। यानि च भ्रान्तै रचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थत्वेनान्युक्तानि तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम्।

तद्यथा —(तीर्थमेव प्राय०) यत्प्रायणीययज्ञस्वाद्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य स्नानं क्रियते तदेव तीर्थमिति वेद्यम् । येषु तीर्थेषु मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति । तथैव यदुदयनीयाख्यं यज्ञसम्बन्धि सर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति । तदेव दुःखसमुद्रात्तारकत्वात्तीर्थमिति मन्तव्यम् । एवमेव (अहिंॅसन्०) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन् सर्वैर्भूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तेत । परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः । तद्यथा- -यत्र यत्रापराधिनामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव । ये पाखण्डिनो वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रवश्चोरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव अत्र वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञाऽस्ति।तेषामध्ययनाध्यापने नतदुक्तधर्मकर्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्रात्तरन्त्ये व तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः॥तथैव समानतीर्थेवासीत्यनेन समानो द्वयोर्विद्यार्थिनोरेक आचार्य्यः समानमेकशास्त्राध्ययनञ्चात्राऽऽचार्य्यशास्त्रयोस्तीर्थं संज्ञास्ति मातापित्रयतिथीनां सम्यक् सेवनेनसुशिक्षया विद्याप्राप्त्या दुःखसमुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि दुःखात्तारकत्वादेव मन्तव्यानि । एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति त्रयः स्ना०)त्रय एव तीर्थेषु कृतस्नाना शुद्धा भवन्ति । तद्यथा -यः सुनियमेन पूर्णां विद्यां पठति स ब्रह्मचर्य्याश्रममसमाप्यापिविद्यातीर्थे स्नाति स शुद्धो भवति । यस्तु खलु द्वितीयः । यःपूर्वोक्तं ब्रह्मचर्य्यं सुनियमाचरणेन समाप्य विद्यामसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातको भवति । यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्त्तते सोऽप्यस्मिन्नुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा यथावच्छुद्धात्मा शुद्धान्तः करणः सत्यधर्माचारी परमविद्वान् सर्वोपकारको भवतीति विज्ञातव्यम् । (नमस्तीर्थ्याय च) तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्तेषु भवः स तीर्थ्यस्तस्मै तीर्थ्याय परमेश्वराय नमोऽस्तु।ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति व्यवहरन्ति।ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्य्यसेविनो रुद्रा महाबलाः(सृकाहस्ताः) विद्याविज्ञाने हस्तौ येषां ते (निषङ्गिणः) निषङ्गः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः खड्गो येषां ते सत्योपदेष्टारः।तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति ब्राह्मणवाक्यात् । उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः । अत एवोक्तस्तीर्थ्य इति । सर्वेषां तारकाणां तीर्थानामात्मकत्वात् परमतीर्थाख्यो धर्मात्मनां स्वभक्तानां सद्यस्तारकत्वात्परमेश्वर एवास्ति एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि(प्रश्नः)येस्त

रन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि कुतो न भवन्ति। अत्रोच्यते। नैव जलं स्थलं च तारकं कदाचिद्भवितुमर्हति तत्र सामर्थ्याभावात् करणकारकत्वमु-पपत्त्यभावाच्च ॥ जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः पद्भ्यां बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति। तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति करणकारकान्वितानि तु नौकादीनि। यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं न कुर्य्यान्न च नौकादिषु तिष्ठेत्तर्ह्यवश्यं तत्र मनुष्यो मज्जेन्महद्दुःखं च प्राप्नुयात्। तस्माद्वेदानुयायिनामार्य्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति। किन्तु वेदविज्ञानरहितैरुदरम्भरैः सम्प्रदायस्थैर्जीविकार्थीभिर्वेदमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञा प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति। ननु—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति गङ्गादिनदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति त्वया कथं न मन्यते। अत्रोच्यते। मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति। ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति तावत्तासां मान्यं करोमि। न च पापनाशकत्वं दुःखात्तारकत्वं च। कुतः। जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात्। इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते नान्यत्रेति। अन्यच्च। इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्म्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति। तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात्। तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव। तासामिडादीनां धारणासिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात्। एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्त्तनात्। एवमेव। (सितासिते यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०) एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गङ्गायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति सङ्गथे इति पदेन गङ्गायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति। तन्न सङ्गच्छते। कुतः नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्य्यलोकं वोत्पतन्ति गच्छन्ति, किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः अत्रापि सितशब्देनेडाया असितशब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणम्। यत्र तु खल्वेतयोर्नाड्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति तत्र कृतस्नाना परमयोगिनो दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं न च तयोः ॥ अत्र प्रमाणम्। सितासितमिति वर्णनाम। तत्प्रतिषेधोऽसितम्। निरु० अ० ९ खं० २ ॥ सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य निषेधः। तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्य्यादिपृथिव्यादिपदार्थयोर्यत्रेश्वरसामर्थ्ये समागमोऽस्ति तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव ॥

भाषार्थ

छटी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रक्खा है लोगों ने मगध देश में एक स्थान है वहां फल्गु नदी के तीर पाषाण पर मनुष्य के पग का चिन्ह बनाके उस का विष्णुपद नाम रखदिया है और यह बात प्रसिद्ध करदी है कि यहां श्राद्ध करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है। जो लोग श्राख के अंधे गांठ के पूरे उन के जाल मे जा फसते हैं उन को गयावाले उलटे उस्तरे से खूब मूडते हैं इत्यादि प्रमाद से उन के धन का नाश कराते हैं यह परधनहरण पेटपालक ठगों की लीला केवल झूठही की गठरी है। जैसा कि सत्य शास्त्रो में लिखी हुई आगे की कथा देखने से सब को प्रकट होजावेगा। (प्राण एव बल०) इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यंत श्रद्धा से गयासंज्ञक प्राण आदि मे परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति होजाती है। प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है और उसका प्रतिपादन करने वाला गायत्री मन्त्र है कि जिसको गया कहते हैं किसलिये कि उस का अर्थ जान के श्रद्धासहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तथा प्राण का भी नाम गया है उस को प्राणायाम की रीति से रोक के परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखो से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करने वाला है इसलिये ईश्वर का नाम गायत्री और गायत्री का नाम गया है तथा निघण्टु में घर संतान और प्रजा इन तीनों का नाम भी गया है मनुष्यों को इन में अत्यन्त श्रद्धा करनी चाहिये इसी प्रकार माता पिता आचार्य्य और अतिथि की सेवा तथा सब के उपकार और उन्नति के कामों की सिद्धि करने में जो अत्यंत श्रद्धा करनी है उस का नाम गयाश्राद्ध है। तथा अपने संतानों को सुशिक्षा से विद्या देना और उन के पालन में अत्यंत प्रीति करनी इस का नाम भी गयाश्राद्ध है। तथा धर्म से प्रजा का पालन सुख की उन्नतिविद्या का प्रचार श्रेष्ठों की रक्षा दुष्टों को दण्ड देना और सत्य की उन्नति आदि धर्म के काम करना ये सब मिलकर अथवा पृथक् २ भी गयाश्राद्ध कहाते हैं। इस अत्यंत श्रेष्ठ कथा को छोड के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रक्खी है उस को कभी न मानना और जो वहां पाषाण के ऊपर मनुष्य के पग का चिन्ह बना कर उस का नाम विष्णुपद रक्खा है सो सब मूल से ही मिथ्या है क्योंकि व्यापक परमेश्वर जो सब जगत् का करने वाला है उसी का नाम विष्णु है देखो यहां निरुक्तकार ने कहा है कि (पृषेत्यथ०) विष्लृ धातु का अर्थ व्यापक होने अर्थात् सब चराचर जगत् में प्रविष्ट रहना वा

जगत् को अपने में स्थापन करलेने का है इसलिये निराकार ईश्वर का नाम विष्णु है (क्रमुपादविक्षेपे) यह धातु दूसरी वस्तु को पगों से दवाना वा स्थापन करना इस अर्थ को बतलाता है इस का अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है अर्थात् भारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में तथा प्रकाशमान सूर्य्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश मे इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल के बीच में स्थित है सो यह केवल परमेश्वर हीकी महिमा है कि जिसने ऐसे २ अद्भुत पदार्थ रच के सब को धारण कर रक्खा है (यदिदं किंच०) इस विष्णुपद के विषय में यास्कमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बना कर (त्रिधा०) इस में तीन प्रकार की रचना दिखलाई है जिस से मोक्षपद को प्राप्त होते हैं वह समारोहण कहाता है। सो विष्णुपद गयशिर अर्थात् प्राणों के पर है उस को मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होके प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं अन्य मार्ग से नहीं क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाव है सो आंख से दीखने योग्य नहीं हो सकता किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल हो जाता है तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिस के बीच में ठहर रहा है और जो उस में परिपूर्ण हो रहा है ऐसे परमात्मा को विष्णुपद कहते हैं। इस सत्य अर्थ को न जान के अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पग का चिन्ह बना कर उसका नाम विष्णुपद रख छोड़ा है सो सब मिथ्या बातें हैं। तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जान के अज्ञानियों ने जगत् के लूटने और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मिथ्याचार कर रक्खा है सो ठीक नहीं। क्योंकि जो २ वेदादि शास्त्र प्रतिपादित तीर्थ हैं। वे सब नीचे लिखे जाते हैं। देखो तीर्थ नाम उन का है कि जिन से जीव दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों अर्थात् जो २ वेदादि शास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं तथा जिन का आर्य्यों ने अनुष्ठान किया है जोकि जीवों को दुःखों से छुड़ा के उन के सुखों के साधन हैं उनही को तीर्थ कहते हैं। वेदोक्त तीर्थ यह हैं (तीर्थमेव प्राय०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है उस को तीर्थ कहते हैं क्योंकि उस कर्म से वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है इस कारण उन कर्मों के करने वाले मनुष्यों को भी

लिये जाता है। जो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं उन में नाव आदि अथवा हाथ और पग से तरते हैं इससे जल वा स्थल तारने वाले कभी नहीं हो सकते।किसलिये।कि जो जल में हाथ वा पग न चलावे वा नौका आदि पर न बैठे तो कभी नहीं तर सकते इस युक्ति से काशी,प्रयाग, गगा,यमुना, समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नही हो सकते इस कारण से सत्यशास्त्रोक जो तीर्थ है उन्हीं को मानना चाहिये जल और स्थान विशेष को नहीं। (प्रश्न) (इमं मे गङ्गे०) यह मत्र गगा आदि नदियों को तीर्थ विधान करनेवाला है फिर इन को तीर्थ क्यों नहीं मानते (उत्तर) हम लोग उन को नदी मानते हैं परन्तु पाप छुडाना और दु खों से तारना यह उन का सामर्थ्य तो केवल पूर्वोक्त तीर्थों में ही है। तथा इस मत्र में गगा आदि नाम इडा पिंगला सुषुम्णा कूर्म्म और जाठराग्नि की नाडियों के हैं उन में योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं क्योंकि उपासना नाडियों ही के द्वारा धारण करनी होती है इस हेतु से इस मत्र में उन की गणना की है इसलिये उक्त नामों से नाडियों का ही ग्रहण करना योग्य है। (सितासिते०) सित इडा और असित पिंगला ये दोनों जहा मिली हैं उस को सुषुम्णा कहते हैं उस में योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त हो के सदा आनन्द मे रहते हैं । इस मे निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि।सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं इस अभिप्राय से विरुद्ध।मिथ्या अर्थ करके लोगो ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है ॥

तथैव यत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मूर्त्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम्। कुत । वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात्। तत्र तु प्रत्युत निषेधो वरीवृत्यते। तद्यथा --

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः। हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥ १ ॥ यजुः० अ० ३२ मं० ३॥

भाष्यम्

यस्य पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य (महद्यशः) यु-

स्य महापालनाख्यं महाकीर्त्तिकरं धर्म्मं सत्यभाषणादि कर्त्तुमर्हं कर्माचरणं नामस्मरणं नास्ति (हिरण्यगर्भ०) यो हिरण्यानां सूर्य्यादीनां तेजस्विनां गर्भ उत्पत्तिस्थानम् । यस्य सर्वैर्मनुष्यैर्मामाहिंसीदित्येवं प्रार्थना कार्य्या। (यस्मान्न०) यो यत कारणान्नैव कस्यचित्सकाशात्कदाचिदुत्पन्नो नैव कदाचिच्छरीरधारणं करोति। नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः प्रतिमानं तोलनसाधनं परिमाणं मूर्त्यादिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति परमेश्वरस्य तुलनेयत्तादमूर्तत्वादपरिमेयत्वान्निराकारत्वात्सर्वत्राभिव्याप्तत्वाच्च । इत्यनेन प्रमाणेन मूर्त्तिपूजननिषेधः ॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥ य० अ० ४० मं० ८ ॥

भाष्यम्

यः कविः सर्वज्ञः मनीषी सर्वसाक्षी । परिभूः सर्वोपरिविराजमानः । स्वयम्भूरनादिस्वरूपः परमेश्वरः शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः प्रजाभ्यो वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् विहितवानस्ति स पर्य्यगात्सर्वव्यापकोऽस्ति । यत् (शुक्रम्) वीर्य्यवत्तमम् (अकायम्) मूर्त्तिजन्मधारणरहितम् (अव्रणम्) छेदभेदरहितम् (अस्नाविरम्) नाडीबन्धनादिविरहम् (शुद्धम्) निर्दोषम् (अपापविद्धम्) पापात्पृथग्भूतं यदीदृशलक्षणं ब्रह्म सर्वैरुपासनीयमिति मन्यध्वम् । इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वरः प्रतिपाद्यते तस्मादयं नैव केनापि मूर्त्तिपूजने योजयितुं शक्य इति। प्रश्नः । वेदेषु प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा। उत्तरम्। अस्ति। प्र०- पुनः किमर्थोऽस्य निषेधः । उ०- नैव प्रतिमार्थेन मूर्त्तयो गृह्यन्ते किं तर्हि परिमाणार्था गृह्यन्ते अत्र प्रमाणानि—

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे । सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० ३ व० १० मं० ३ ।

मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहूर्त्ताः ॥ श०कां० १० ।प्र०३ ब्रा०२ कं० २०।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ १ ॥ सामवेदीयतवलकारोपनिषदि । ख० १ मं० ४ ॥

भाष्यम्

इत्यादिमन्त्रपञ्चकमूर्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम् । विद्वांसः संवत्सरस्य या प्रतिमां परिमाणमुपासते वयमपि तथा तामेवोपास्महे । अथाद्याः संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्च रात्रयो भवन्ति । यत एताभिरेव संवत्सरः परिमीयते तस्मादेनासां प्रतिमासञ्ज्ञेति । यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां संसृज सम्यक् सृजेत् । तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयमिति । (मुहूर्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्राण्यष्टौशतानि घटिकाद्वयात्मका मुहूर्त्ताः सन्ति तेऽपि प्रतिमाशब्दार्था विज्ञेयाः । (यद्वाचा०) यदसंस्कृतवाण्या अविषयं येन वाणी विदितास्ति तद् ब्रह्म । हे मनुष्य ! त्वं विद्धि यत इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति । किन्तु विद्वांसो यन्निराकारं सर्वव्यापकमजं सर्वनियन्तृ सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपासते त्वयापि तदेवोपासनीयं नेतरदिति । प्र०—किञ्च भो. मनुस्मृतौ प्रतिमानां च भेदक । दैवतान्यभिगच्छेत्तु । देवताऽभ्यर्चनं चैव । देवतानां च कुत्सनम् । देवतायतनानि च । देवतानां छायोल्लङ्घननिषेधः । प्रदक्षिणानि कुर्वीत । देवब्राह्मणसन्निधौ । देवतागारभेदकान् । उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति । उ०—अत्र प्रतिमाशब्देन रक्तिकामाषषेटकादीनि तोलनसाधनानि गृह्यन्ते । तद्यथा—तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ॥ मनु० अ० ८ श्लोकः ४०३ । इत्यनया मनूक्तरीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वात्तोलनसाधनानि गृह्यन्त इति बोध्यम् । अत एव प्रतिमानामधिकन्यूनकारिणे दण्डो देय इत्युक्तः । विद्वांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि दैवतानीत्युच्यते । देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि दैवतानि देवतायतनानि च सन्तीति बोध्यम् । विदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्त्तव्यमिति । नैवैतेषां केनचिदपि निन्दाछायोल्लङ्घनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः । किन्तु सर्वैरेतेषां सामीप्यगमनं न्यायप्रापणं दक्षिणपार्श्वे स्थापनं स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्च कार्य्येति । एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति तत्र तत्रैवमर्थो विज्ञेयाः । ग्रन्थभूयस्त्वभिया नात्र ते लेखितुं शक्या इति । एतावतैव मूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः ॥

भाषार्थ

अब इस के आगे जो नवीन कल्पित मन्त्र और पुराण ग्रन्थ हैं उन में पत्थर आदि की मूर्त्ति पूजा तथा नाना प्रकार के नाम स्मरण अर्थात् राम २ कृष्ण २ काष्ठादि माला तिलक इत्यादि का विधान करके उन को अत्यन्त प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के साधन मान रक्खे हैं ये सब बाते भी मिथ्या ही जाननी चाहियें। क्योंकि वेदादि सत्यग्रन्थों में इन बातों का कहीं चिन्ह भी नहीं पाया जाता है किन्तु उन का निषेध ही किया है। जैसे (न तस्य०) (पूर्ण) जो किसी प्रकार से कम नही (अज) जो जन्म नहीं लेता और (निराकार) जिस की किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं इत्यादि लक्षण युक्त जो परमेश्वर है जिसकी आज्ञा का ठीक २ पालन और उत्तमकीर्त्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं उन का करना ही जिस का नामस्मरण कहाता है। (हिरण्यगर्भ०) जो परमेश्वर तेजवाले सूर्य्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है जिस की प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि (मामाहिꣳसी०) हे परमात्मन् ! हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिये। कोई कहे कि निराकार, सर्वव्यापक, परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये तो उत्तर यह है कि (यस्मान्न०) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता पिता के सयोग से कभी न उत्पन्न हुआ न होता और न होगा और न वह कभी शरीर धारण करके बालक जवान और वृद्ध होता है। (नतस्य०) उस परमेश्वर का प्रतिमा अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिबिम्ब वा सदृश अर्थात् जिस को तसवीर कहते हैं सो किसी प्रकार नहीं है क्योंकि वह मूर्त्तिरहित, अनन्त, सीमारहित और सब में व्यापक है इस से निराकार की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। कदाचित् कोई शङ्का करे कि शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है तो यह बात समझना चाहिये कि जो प्रथम जन्म लेके शरीर धारण करेगा और फिर वह वृद्ध होकर मर जायगा तब किस की पूजा करोगे इस प्रकार मूर्त्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध हो गया। तथा (स पर्य्यगाच्छु०) जो परमेश्वर (कवि) सब का जानने वाला (मनीषी) सब के मन का साक्षी (परिभू) सब के ऊपर विराजमान और (स्वयभू) अनादिस्वरूप है जो अपनी अनादिस्वरूप प्रजा को अन्तर्यामिरूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है। (-स पर्य्यगात्) सो सब मे व्यापक (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रम वाला (अकाय) सब प्रकार के शरीर से रहित (अव्रण) कटना और सब रोगों से रहित (अस्नाविर) नाडी आदि के बन्धन से पृथक् (शुद्धं) सब दोषों से अलग और (अपापविद्ध) सब पापों से न्यारा इत्यादि लक्षणयुक्त-परमात्मा है वही

सब को उपासना के योग्य है ऐसा ही सब को मानना चाहिये क्योंकि इस मंत्र से भी शरीर धारण करके जन्म मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया इस से उस की पत्थर आदि की मूर्त्ति बना के पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता । (सवत्सरस्य०) विद्वान् लोग सवत्सर की जिस (प्रतिमाम्) क्षण आदि काल को विभाग करने वाली रात्रि की उपासना करते हैं हम लोग भी उसी का सेवन करें । जो एक वर्ष की ३६० तीन सौ साठ रात्रि होती हैं इतनी रात्रियों से सवत्सर का परिमाण किया है इसलिये इन रात्रियों की भी प्रतिमा संज्ञा है (सान आ-यु०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्म्मों के अनुष्ठान पूर्वक सपूर्ण आयुयुक्त सतानों को उत्पन्न करें । इसी मत्र का भावार्थ कुछ शतपथ ब्राह्मण मे भी है कि (मुहूर्त्ता०) एक सवत्सर के १०८०० मुहूर्त्त होते हैं ये भी प्रतिमा शब्द के अर्थ में समझने चाहियें क्योंकि इन से भी वर्ष का परिमाण होता है। (यद्वाचा०) जो कि अ-विद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता जो सब की वाणियो को जानता है हे मनुष्यो! तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो और न कि मूर्त्तिमान् जगत् के पदार्थों को जो कि उस के रचे हुए हैं अर्थात् निराकार व्यापक सब पदार्थों का नियम करने वाला और सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त ब्रह्म है उसी की उपासना तुम लोग करो यह उपनिषद्का-र ऋषियों का मत है । (प्रश्न) क्यों जी मनुस्मृति में जो (प्रतिमाना) इत्यादि वच-न हैं उन से तो यह बात मालूम होती है कि जो कोई प्रतिमा को तोडे उस को राजा दड देवे तथा देवताओ के पास जाना उन की पूजा करना उन की छाया का उल्लघन नहीं करना और उन की परिक्रमा करना इत्यादि प्रमाणों से तो मूर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है फिर आप कैसे नहीं मानते हैं?(उत्तर) क्यों भ्रम में पड़े हुए हो होश में आ-ओ और आख खोल कर देखो कि प्रतिमा शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कम समझ है क्योंकि मनुस्मृति में तो प्रति-माशब्द कर के (तुलामान) रत्ती, छटाक, पाव, सेर और पसेरी आदि तोल के साध-नों का ग्रहण किया है क्योंकि तुलामान अर्थात् बाट इन की परीक्षा राजा लोग छठे २ मास अर्थात् छः २ महीने में एक बार किया करें कि जिस से उन में कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घटबढ न कर सकें और कदाचित् कोई करे तो उस को दण्ड देवें फिर (देवताभ्यर्चन०) इत्यादि वचनों से यह बात समझ लेनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम देव कहा है अर्थात् जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ते पढ़ाते और निवास करते हैं उन स्थानों को दैवत कहते हैं वहां जाना बैठना और उन

लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सब को अवश्य करने चाहियें। (देवतानां च कुत्सनम्) उन विद्वानों की निन्दा उन का अपमान और उन के स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड व उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करनी चाहियें किंतु (दैवतान्यभि०) सब मनुष्यों को उचित है कि उन के समीप जाकर अच्छी बातों को सीखा करें (प्रदक्षिणा०) उन को मान्य के लिये दाहिनी दिशा में बैठाना क्योंकि यह नियम उन की प्रतिष्ठा के लिये बांधा गया है ऐसे अन्यत्र भी जहां कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उन के स्थानों का वर्णन हो इसी प्रकार निर्भ्रमता से वहां समझ लेना चाहिये सब का संग्रह इसलिये नहीं किया कि ग्रंथ बहुत बढ जाता ॥ ऐसा ही सत्य शास्त्रों से विरुद्ध कण्ठी और तिलकधारणादि मिथ्या कल्पित विषयों को भी समझ कर मन कर्म और वचन से त्याग कर देना अवश्य उचित है ॥

एवमेव सूर्यादिग्रहपीडाशान्तये अल्पबुद्धिभिराकृष्णेन रजसेत्यादिमन्त्रा गृह्यन्ते । अयमेषां भ्रम एवास्तीति । कुतस्तत्र तेषामर्थानामग्रहणात् । तद्यथा- तत्राकृष्णेन रजसेति मन्त्रस्यार्थं आकर्षणानुकर्षणप्रकरण उक्तः । इमं देवा असपत्नमित्यस्य राजधर्मविषये चेति ॥

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति ॥ १ ॥ य० अ० ३ मं० १२ ॥ उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च । अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ २ ॥ य० अ० १५ मं० ५४ ॥

भाष्यम्

(अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च (पतिः) पालयितास्ति (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमान (ककुत्) तथा ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयितास्ति । व्यत्ययो बहुलमिति सूत्रेण भकारस्थाने तकारः ॥ (अपाꣳ-

रेताᳬसि) अयमेव जगदीश्वरो भौतिकश्चापां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्य्याणि (जिन्वति) पुष्णाति । एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्य्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्त्ता चास्ति ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) हे अग्ने ! परमेश्वरास्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारनिद्रातस्सर्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु । (त्वमिष्टापूर्त्ते०) हे भगवन् ! अयं जीवो मनुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्या पूर्त्तिं सृजेत् समुत्पादयेत् । त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः । एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थाभ्यामिष्टापूर्त्ते संसृष्टे भवेताम् (अस्मिन्सधस्थे) अस्मिन् लोके शरीरे च (अध्युत्तरस्मिन्) परलोके द्वितीये जन्मनि च (विश्वे देवा यजमानश्च सीदत) सर्वे विद्वांसो यजमानो विद्वत्सेवाकर्त्ता च कृपया सदा सीदन्तु वर्त्तन्ताम् । यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति । व्यत्ययो बहुलमित्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने (आकृष्णेन रजसा०) इत्यादि मन्त्रों का सूर्य्यादिग्रहपीडा की शान्ति के लिये ग्रहण किया है । सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है । मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं क्योंकि उन मंत्रों में ग्रहपीडा निवारण करना यह अर्थ ही नहीं है । (आकृष्णेन) इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण मे तथा— (इमं देवा०) इस का अर्थ राजधर्मविषय में लिख दिया है । १ । २ ॥ (अग्नि) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है वह (दिव) प्रकाश वाले और (पृथिव्या) प्रकाशरहित लोकों का पालन करने वाला तथा (मूर्द्धा) सब पर विराजमान और (ककुत्पति) दिशाओं के मध्य मे अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है (व्यत्ययोबहुलम्) इस सूत्र से (ककुभ्) शब्द के दकार को भकारादेश होगया है (अपाᳬरेताᳬसि जिन्वति) वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्य्यों को पुष्ट करता है इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करने वाला है ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) हे परमेश्वर ! हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये (प्रति जागृहि) अविद्या की अन्धकाररूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके विद्यारूप सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिये कि जिस से (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन् ! मनुष्यदेहधारण करने वाला जो जीव है । जैसे वह धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्त्ति कर सके वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिये (अस्मिन्सधस्थे) इस लोक और

इस शरीर तथा (अध्युत्तरस्मिन्) परलोक और दूसरे जन्म में (विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) आप की कृपा से सब विद्वान् और यजमान अर्थात् विद्या के उपदेश का ग्रहण और सेवा करने वाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें कि जिस से हम लोग विद्यायुक्त होते रहें (व्यत्ययो बहुलम्) इस सूत्र से (संसृजेथाम्) (सीदत) इन प्रयोगों में पुरुषव्यत्यय अर्थात् प्रथमपुरुष की जगह मध्यमपुरुष हुआ है ॥ ४ ॥

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद्द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु । यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ॥ ५ ॥ य० अ० २६ मं० ३ ॥ अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्क्षत्रम्पयः सोमं प्रजापतिः । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानंꣳशुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ६ ॥ यजुः० अ० १९ मं० ७५ ॥

भाष्यम्

(बृहस्पते) हे बृहतां वेदानां पते पालक (ऋतप्रजात) वेदविद्याप्रतिपादित जगदीश्वर ! त्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा (क्रतुमत्) भूयांसः क्रतवो भवन्ति यस्मिंस्तत् (द्युमत्) सत्यव्यवहारप्रकाशो विद्यते यस्मिंस्तत् (दीदयच्छवस) दानयोग्यं शवसो बलस्य प्रापकम् (यदर्यो अर्हात्) येन विद्यादिधनेन युक्तः सन् अर्यः स्वामी राजा वणिग्जनो वा धार्मिकेषु जनेषु (विभाति) प्रकाशते (चित्रं) यदद्भुतम् (अस्मासु द्रविणं धेहि) तदस्मदधीनं द्रविणं धनं कृपया धेहीत्यनेन मन्त्रेणेश्वरः प्रार्थ्यते ॥ ५ ॥ (क्षत्रम्) यत्र यद्राजकर्म क्षत्रियो वा (ब्रह्मणा) वेदविद्भिश्च सह (पयः) अमृतात्मकम् (सोमम्) सोमाद्योषधिसम्पादितम् (रसम्) बुद्धयानन्दशौर्य्यधैर्य्यबलपराक्रमादिसद्गुणप्रदम् (व्यपिबत्) पानं करोति तत्र स सभाध्यक्षो राजन्यः (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन (सत्यम्) धर्मं राजव्यवहारञ्च (इन्द्रियम्) शुद्धविद्यायुक्तं शान्तम् मनः (विपानम्) विविधराजधर्मरक्षणम् (शुक्रम्) आशु सुखकरम् (अन्धसः) शुद्धान्नस्येच्छाहेतुम् (पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानं युक्तं (अमृतम्) मोक्षसाधकम् (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तम् (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामिन ईश्वरस्य कृपया(इन्द्रियं) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य (इदम्) सर्वं व्यावहारिकं पारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमाज्ञापयति य क्षत्रियः

प्रजापालनाधिकृतो भवेत् । स एव प्रजापालनं कुर्य्यात् (अन्नात्परिस्रुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद्भोज्यात्पदार्थात्परितः सर्वतः स्रुतश्च्युतो युक्त्या कार्य्यो । यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत्तथैव क्षत्रियेण कर्त्तव्यम् ॥

(बृहस्पते) हे वेदविद्यारक्षक (ऋतप्रजात) वेदविद्या से प्रसिद्ध जगदीश्वर ! आप (तदस्मासु द्रविणं धेहि) जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का (चित्र) अद्भुत धन है सो हमारे बीच में कृपा कर के स्थापन कीजिये कैसा वह धन है कि (जनेषु) विद्वानों और लोक लोकान्तरों में (क्रतुमत्) जिस से बहुत से यज्ञ किये जाय (द्युमत्) जिस से सत्य व्यवहार के प्रकाश का विधान हो (शवस) बल की रक्षा करने वाला और (दीदयत्) धर्म और सब के सुख का प्रकाश करने वाला तथा (यदर्य्यो॰) जिस को धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त हो कर (विभाति) धर्म व्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है उस सम्पूर्णविद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरंतर धारण कीजिये ऐसे इस मंत्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है ॥ ५ ॥ (क्षत्र) जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय है वह सदा न्याय से (ब्रह्मणा)वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करे इसी प्रकार (पय) जो अमृतरूप (सोमम्) सोमलता आदि ओषधियों का सार तथा (रसम्) जो बुद्धि आनन्द शूरता धीरज बल और पराक्रम आदि उत्तम गुणों को बढाने वाला है उस को (व्यपिवत्) जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग (ऋतेन) वेदविद्या को यथावत् जान के (सत्यम्) धर्म अर्थ काम मोक्ष (इन्द्रियम्) शुद्धविद्यायुक्त शांतस्वरूप मन (विपानम्) यथावत् प्रजा का रक्षण (शुक्रम्) शीघ्र सुख करने हारा (अन्धसः) शुद्ध अन्न की इच्छायुक्त (पयः) सब पदार्थों का विज्ञानसहित (अमृतम्) मोक्ष के ज्ञानादि साधन (मधु) मधुरवाणी और शीलता आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं (इदम्) उन सब से परिपूर्ण होकर (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से (इन्द्रियम्) विज्ञान को प्राप्त होते हैं (प्रजापति) इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञानविद्या को प्राप्त हो के धर्म से प्रजा का पालन किया करो और (अन्नात्परिस्रुत) उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो कि जिस से प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो ॥ ६ ॥

शन्नो देवीरभीष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ ७ ॥ य० अ० ३६ म० १२ ॥ कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥ ८ ॥ य० अ० २७ म० ३९ ॥ केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥ ६ ॥ य० अ० २९ मं० ३७ ॥

भाष्यम्

(आप्लृ व्याप्तौ) अस्माद्धातोरप्शब्दः सिध्यति स नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च। दिवुक्रीडाद्यर्थः (देवीः) देव्य आपः सर्वप्रकाशकः सर्वानन्दप्रदः सर्वव्यापक ईश्वरः (अभीष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये (नः) अस्मभ्यं (शं) कल्याणकारिका भवन्तु स ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु । ता आपो देव्यः स एवेश्वरोनोऽस्माकमुपरि (शंयोः) शमभिस्रवन्तु अर्थात् सर्वतःसुखस्य वृष्टिं करोतु ॥ अत्र प्रमाणम् ॥

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः। असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अथर्व० कां० १० अ० ४ व० २२ मं० १० ॥

भाष्यम्

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्छब्देन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते । तद्यथा– (आपो ब्रह्म जना विदुः) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति (यत्र लोकांश्च कोशांश्च) यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान्निधींश्च (असच्च यत्र सच्च) यस्मिंश्चानित्यं कार्यं जगदेतस्य कारणञ्च स्थितञ्चजानन्ति (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोऽस्ति विद्वंस्त्वं ब्रूहीति पृच्छ्यते। (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादि पदार्थानामाभ्यन्तरेऽन्तर्यामि रूपेणावस्थितोऽस्तीति भवन्तो जानन्तु ॥७॥ (कया) उपासनारीत्या (शचिष्ठया) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठानप्रकारया (वृता) शुभगुणेषु वर्त्तमानया (कया) सर्वोत्तमगुणालङ्कृतया सभया प्रकाशितः। (चित्र) अद्भुतानन्तशक्तिमान् (सदावृधः) सदानन्देन

वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः (नः) अस्माकं सखा मित्रः (आभुवत्) यथा भिमुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवेत् तथैवास्माभि स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीय इति ॥ ८॥ हे मर्त्या मनुष्या ! उषद्भि परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञाया वर्त्तमानैर्विद्वद्भिर्युष्माभि सह समागमे कृते सत्येव (अकेतवे) अज्ञानविनाशाय (केतु)प्रज्ञानम् (अपेशसे)दारिद्र्यविनाशाय पेश चक्रवर्त्तिराज्यादिसुखसम्पादकं धनञ्च (कृण्वन्) कुर्वन् सन् जगदीश्वर (अजायथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ

(शन्नोदेवी०) आप्लृव्याप्तौ, इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है सो वह सदा स्त्रीलिंग और बहुवचनान्त है तथा जिस दिवधातु के क्रीडा आदि अर्थ है उस से देवी शब्द सिद्ध होता है (देवी) अर्थात् जो ईश्वर सब का प्रकाश और सब को आनन्द देने वाला (आपः) सर्वव्यापक है (अभीष्टये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये (न) हम को सुखी होने के लिये (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) हो । वही परमेश्वर (न) हम पर (शयो.) सुख की (अभिस्रवन्तु) वृष्टि करे । इस मन्त्र मे आप शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि (आपो ब्रह्म जना विदु) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि आप परमात्मा का नाम है (प्रश्न) (यत्र लोकाश्च कोशाश्च) सुनो जो जिस मे पृथिव्यादि सब लोक, सब पदार्थ स्थित (असच्च यत्र सच्च) तथा जिसमे अनित्य कार्य्य जगत् और सब वस्तुओ के कारण ये सब स्थित हो रहे हैं (स्कम्भ त ब्रूहि कतम स्विदेव स) वह सब लोकों का धारण करने वाला कौन पदार्थ है ? (उत्तर) (अन्त) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामिरूप से परिपूर्ण हो रहा है ऐसा जान कर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्त करण म खोजो ॥ ७ ॥ (कया) जो किस उपासनारीति (साचेष्ठया) और सत्यधर्म के आचरण से सभासद् सहित (वृता) सत्यविद्यादि गुणो में प्रवर्तमान (कया) सुखरूपवृत्ति सहित सभा से प्रकाशित (चित्र.) अद्भुतस्वरूप (सदावृध) आनन्दस्वरूप और आनन्द बढानेवाला परमेश्वर है वह (न) हमारे आत्माओं में (आभुवत्) प्रकाशित हो (ऊती) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करे कि (उषद्भि समेजायथा) हे अग्ने जगदीश्वर आप की आज्ञा में जो रमण करने वाले हैं उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं और उन्हीं धार्मिक

पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते हो ॥ ८ ॥ हे विज्ञानस्वरूप अज्ञान के दूर करने हारे ब्रह्मन् ! आप (केतु कृण्वन्) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये तथा (अकेतवे) अज्ञान और (अपेशसे) दरिद्रता दूर करने के अर्थ विज्ञान धन और चक्रवर्त्ति राज्य धर्मात्माओं को देते रहिये कि जिस से (मर्या) जो आप के उपासक लोग हैं वे कभी दुःख को न प्राप्त हों ॥ ९ ॥

अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोस्त्याहोस्विन्नेति ? सर्वेषामस्ति। वेदानामीश्वरोक्तत्वात्सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात्सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च । यद्धि खलु परमेश्वररचितं वस्त्वस्ति तत्तत्सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः । अत्र प्रमाणम्—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय । प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥ १ ॥ य० अ० २६ मन्त्र २ ॥

भाष्यम्

अस्याभिप्रायः । परमेश्वरः सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति । तद्यथा—(यथा) येन प्रकारेण (इमाम्) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदादिवेदचतुष्टयीं (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां (वाचम्) वाणीम् (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय (आवदानि) आ समन्तादुपदिशानि । तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्येति । अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात् । जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्य्यं वेदाध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात् नैवं शक्यम् । उत्तरमन्त्रभागार्थविरोधात् । तद्यथा—कस्य कस्य वेदाध्ययनश्रवणेऽधिकारोस्तीत्याकाङ्क्षायामिदमुच्यते (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां (अर्य्याय) वैश्याय (शूद्राय) (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय स्वाय स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्येति । (प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह०) यथाहमीश्वरः पक्षपात

विहाय सर्वोपकारकरणेन सह वर्त्तमानः सन् देवानां विदुषां प्रियः दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च (भूयासम्) स्याम्। तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राव्येति। यथाऽयं मे मम कामः समृध्यते तथैवैव कुर्वतां भवताम् (अयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां सम्यग्वर्धताम्। यथाऽदः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति। (उपमादो नमतु) तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्टसुखमुपनमतु सम्यक् प्राप्नोत्विति। मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम्। यथा मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्त्तव्या नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्त्तव्यमिति। कुतः। यथा मम सर्वप्रियार्था पक्षपातरहिता च प्रवृत्तिरस्ति। तथैव युष्माभिराचरणे कृते मम प्रसन्नता भवति नान्यथेति अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोऽस्ति। कुतः। बृहस्पते अतियदर्यं इत्युत्तरस्मिन्मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात्॥

भाषार्थ

(प्रश्न) वेदादि शास्त्रों के पढने पढाने सुनने और सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है वा नहीं (उत्तर) सब का है। क्योंकि जो ईश्वर की सृष्टि है उस में किसी का अनधिकार नहीं हो सकता। देखिये कि जो २ पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं सो २ सब के उपकारार्थ हैं (प्रश्न) वेदों के पढने का अधिकार केवल तीन वर्णों को ही है क्योंकि शूद्रादि को वेदादि शास्त्र पढने का निषेध किया है और द्विजो के पढाने में भी केवल ब्राह्मण ही का अधिकार है (उत्तर) यह बात सब मिथ्या है। इस का विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये हैं वहा यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शूद्र और अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है उन के पढने पढाने का निषेध इसलिये कहा है कि उन को विद्याग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है प्र० परन्तु क्या सब स्त्री पुरुषों को वेदादि शास्त्र पढने सुनने का अधिकार है उ० सब को है। देखो इस में यजुर्वेद ही का यह प्रमाण लिखते हैं (यथेमां वाचं कल्याणीं०) इस मत्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढने पढाने का सब मनुष्यों को अधिकार है और विद्वानों को उन के पढाने का। इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार मैं तुम को चारों वेदों का उपदेश करता हू उसी प्रकार से तुम भी उन को पढ के सब मनुष्यों को पढाया और सुनाया करो क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सब की

कल्याण करने वाली है तथा (आवदानि जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूं वैसे ही सदा तुम भी किया करो (प्रश्न) (जनेभ्य) इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जहां कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढने का अधिकार लिखा है वहां केवल द्विजों ही का ग्रहण किया है (उत्तर) यह बात ठीक नहीं है क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजो ही के ग्रहण करने का होता तो मनुष्यमात्र को उन के पढने का अधिकार कभी न देता। जैसा कि इस मन्त्र में प्रत्यक्ष विधान है (ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय) अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मणवर्ण के लिये है वैसाही क्षत्रिय, अर्य्य, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अति शूद्र के लिये भी बराबर है क्योंकि वेद ईश्वर प्रकाशित हैं। जो विद्या का पुस्तक होता है वह सब का हित कारक है और ईश्वर रचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं इसलिये उस का जानना सब मनुष्यों को उचित है क्योंकि वह माल सब के पिता का सब पुत्रों के लिये है किसी वर्णविशेष के लिये नहीं (प्रियो देवानाम्) जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश कर के विद्वानों के आत्माओं में प्रिय हो रहा तथा (दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्) जैसे दानी वा शीलवान् पुरुष को प्रिय होता है वैसे ही तुम लोग भी पक्षपातरहित हो कर वेदविद्या को सुना कर सब को प्रिय हो (अय मे काम समृध्यताम्) जैसे यह वेदों का प्रचार रूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो कि जिस से उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे। (उप मादोनमतु) जैसे मुझ में अनन्तविद्या से सब सुख है वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा उस को भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा यही इस मन्त्र का अर्थ ठीक है क्योंकि इस से अगले मन्त्र में भी (बृहस्पते अतियदर्य्य०) परमेश्वर ही का ग्रहण किया है। सब के लिये वेदाधिकार है।

॥ वर्णाश्रमा अपि गुणकर्माचारतो हि भवन्ति। अत्राह मनुः ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १ ॥ मनु० अ० १० श्लो० ६५ ॥

भाष्यम्

शूद्रः पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणभावं प्राप्नोति योऽस्ति ब्राह्मणकर्माधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव। एवमेव कुचर्य्योऽधर्माचर-

निर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापरसेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति, शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम् । अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेवापस्तम्बसूत्रेऽप्यस्ति ॥

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥ अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥ प्रपाठक २ । पटल ५ । सू० १० । ११ ॥

भाष्यम्

सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते समन्तात्प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः । जातिपरिवृत्ताविन्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति ॥१॥ एवमेव स लक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वोवर्णो ब्राह्मणो जघन्यं स्वस्मादधः स्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्च वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत् । अर्थात् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति । एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्चेति । यत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः । शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वात् विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात्तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति निष्फलत्वाच्चेति ॥

भाषार्थ

वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुणकर्मों के आचारविभाग से होती है इस में मनुस्मृति का भी प्रमाण है कि (शूद्रो ब्राह्मणता०) शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। अर्थात् गुण कर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है। वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय मे भी जान लेना। जो शूद्र को वेदादि पढने का अधिकार न होता तो वह ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता इस से यह निश्चित जाना जाता है कि पचीसवें वर्ष वर्णों का अधिकार ठीक २ होता है क्योंकि पचीस वर्ष तक बुद्धि बढती है। इसलिये उसी समय गुण कर्मों की ठीक २ परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है ॥ १ ॥ तथा आपस्तम्बसूत्र में भी ऐसा लिखा है (धर्मचर्य्यया०) अर्थात् धर्माचरण करने

से नीचे के वर्ण पूर्व २ वर्ण के अधिकारको प्राप्त हो जाते हैं सो केवल कहने ही मात्र को नहीं किन्तु जिस२ वर्ण को जिन२ कर्मों का अधिकार है उन्हीं के अनुसार (आपद्यते जातिपरिवृत्तौ) वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ (अधर्मचर्य्यया०) तथा अधर्माचरण करके पूर्व २ वर्ण नीचे २ के वर्णोंके अधिकारों को प्राप्त होते हैं । इस से यह सिद्ध हुआ कि वेदो के पढने सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है ॥

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषय ॥

अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः ॥

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानायाक्षरोच्चारणोपदेशः कर्त्तव्यः । येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात् । तद्यथा—प इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ सयोज्यैव कार्य्यम् । अस्योष्ठ स्थानं स्पृष्ट' प्रयत्न इति वेद्यम् । एवमेव सर्वत्र । अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहामुनिराह ॥

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ १ ॥ महाभा० अ० १ पा० १ आ० १ ॥

भाष्यम्

नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत्प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति । यथा गानकर्त्ता षड्जादिस्वरालापनेऽन्यथोच्चारणं कुर्य्याच्चेत्सतस्यैवापराधो भवेत् । तद्वद्वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्त्तव्यम् । अन्यथा दुष्ट' शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति । यथावदुच्चारणमुल्लङ्घ्योच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते । त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति । नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह । तद्यथा—सकलम् । शकलम् । सकृत् । शकृदिति । सकल शब्दः सम्पूर्णार्थवाची । शकल इति खण्डवाची च । एव सकृदित्येकवारार्थवाची । शकृदिति मलार्थवाची, यात्र सकारोच्चारणे कर्त्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते । चेदेवं शकारोच्चा-

रणे कर्त्तव्ये सकारोच्चारणञ्च । तदा स शब्द स्वविषय नाभिधत्ते । स वा-ग्वज्रो भवति । यमर्थम्सत्वोच्चारण क्रियते स शब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति। तद्वक्तार यजमानं तदधिष्ठातार च हिनस्ति । तेनार्थेन हीन करोति । यथे-न्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वरस्यापराधाद्विपरीतफलो जातः । तद्यथा—इन्द्रः सूर्य्य लोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः । अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तकरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवति । अस्मिन् विषये तुल्ययोगितालङ्कारेण मेघसूर्य्ययोर्वर्णनं कृतमिति ततोऽर्थवैपरीत्यं जाय-ते । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति। तत्र यस्येच्छा सूर्य्यस्य ग्रहणेऽस्ति तेनेन्द्रशत्रुशब्दः कर्मधारयसमासेनान्तो-दात्त उच्चारणीय यस्य च मेघस्य तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्याद्युदात्तस्वर-श्चेति नियमोस्ति । अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते । अत कारणात् स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्त्तव्यमिति ॥ १ ॥

भाषार्थ

पठन पाठन की आदि में लडकों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिस से सब को प्रिय लगें जैसे (प) इस के उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का पकार का उच्चारण होठो से होता है परन्तु दो होठों को ठीक २ मिला ही के पकार बोला जाता है इस का ओष्ठ स्थान और स्पृष्टप्रयत्न है और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यजन मिला हो तो उस को भी उसी २ के स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है इस का सब विधान व्याकरण और शिक्षा ग्रंथ में लिखा है। फिर इस विषय मे पतजलि महाभाष्यकार ने भी कहा है कि स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहाता है अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता। तथा (स वाग्वज्रो०) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के बिना शब्द का उ-च्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गान वि-द्या भी सुन्दर नहीं होती किन्तु गान का करने वाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे तो वह अपराध उसी का समझा जाता है इसी प्रकार वेदादि ग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये और जो उलटा उच्चारण किया जाता है वह (दुष्टः शब्द) दुःख देने वाला और झूठ समझा जाता है जिस शब्द

का यथावत् उच्चारण न हो किन्तु उस से विपरीत किया जाय तो वह दोष बोलने वाले का गिना जाता है और विद्वान् लोग बोलनेवाले से कहते हैं कि तूने इस शब्द का अच्छा उच्चारण नहीं किया इस से यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता जैसे (सकल) और (शकल) में देख लो अर्थात् (सकल) शब्द सपूर्ण का बोधक और जो उस में तालव्य शकार का उच्चारण किया जाय तो वही फिर खड का वाचक हो जाता है ॥ ऐसे ही सकृत् और शकृत् में दत्य सकार के उच्चारण से प्रथम क्रिया और उसी को तालव्य उच्चारण करने से विष्ठा का बोध होता है इसलिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक २ अर्थ का बोध होता है क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करने वाला होता है । सो यह दोष बोलने वाले का ही गिना जाता है जैसे (इन्द्रशत्रु) यहा इकार उदात्तस्वर बोलने से बहुव्रीहिसमास और अन्य पदार्थ का बोध होता है तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुष समास और उत्तर पदार्थ का बोध हो जाता है । सूर्य्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है । इस के संबन्ध मे वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन तुल्ययोगिताऽलकार से किया है जो इन्द्र अर्थात् सूर्य्य की उत्तमता चाहे वह समस्त पद के स्थान मे अन्तोदात्त-उच्चारण करे और जो मेघ की वृद्धि चाहे वह आद्युदात्त उच्चारण करे इसलिये स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये ॥

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजनादीनामपि शिक्षा कर्त्तव्यैव। अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति। परन्तु यो न पठति तस्मात्स्वयं पाठमात्रकार्य्यप्युत्तमो भवति। यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः। यश्चैव वेदान् पठित्वा विज्ञायच शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति स उत्तमतमः। अत्रप्रमाणानि॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ २ ॥ ऋ० मण्डल १ सू० १६४ मं० ३९ ॥ स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ ३ ॥ यद्गृहीतमविज्ञातं

निगदेनैव शब्द्यते । अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥ ४ ॥ निरु० अ० १ ख० १८ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं१ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥५॥ उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु । अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ६ ॥ ऋ० मण्ड० १० सू० ७१ मं० ४ । ५ ॥

भाष्यम्

अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति (ऋचोअक्षरे०) यस्मिन् विनाशरहिते परमोत्कृष्टे व्योमवद्व्यापके ब्रह्मणि चत्वारो वेदाः पर्यवसितार्थाः सन्ति ऋगुपलक्षणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम् । तत् किं ब्रह्मेत्यत्राह । यस्मिन् विश्वे देवाः सर्वे विद्वांसो मनुष्या इन्द्रियाणि च सूर्यादयश्च सर्वे लोका अधिनिषेदुर्यदाऽऽधारेण निषण्णाः स्थितास्तद्ब्रह्म विज्ञेयम् (यस्तन्न वेद०) यः खलु तन्न जानाति सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञाया यथावन्न वर्त्तते स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति नैवायं कदाचिद्वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः । (य इत्तद्विदुस्त इमे समासते) ये चैव तद्ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुवन्ति । तस्मात्सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ २ ॥ (स्थाणुरयं०) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति स विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति स मनुष्यः स्थाणुः काष्ठस्तम्भवद्भवति । अथाजडवद्विज्ञेयो भारवाहश्च । यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भारमात्रं वहस्तन्न भुङ्क्ते । किन्तु तेनोढं घृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद्भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्क्ते । योऽर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स भारवाहवत् (किलाभूत्) भवतीति मन्तव्यम् । (योऽर्थज्ञ०) योऽर्थस्य ज्ञाता वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद् भूत्वा धर्माचरणो भवति । स वेदार्थज्ञानेन (विधूतपाप्मा) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव (सकलं) सम्पूर्णं (भद्रं) भजनीयं सुखं (अश्नुते) प्राप्नोति पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा (नाकमेति) सर्वदुःखरहितं मोक्षाख्यं परमपदं प्राप्नोति । तस्माद्वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठानपूर्वकमेवाध्ययनं कर्त्तव्यम्

॥ ३ ॥ (यद्गृहीतमविज्ञातं) येन मनुष्येण यदर्थज्ञानशून्यं वेदाद्यध्ययनं क्रियते । किन्तु (निगदेन) पाठमात्रेणैव (शब्द्यते) कथ्यते तत् (कर्हिचित्) कदाचिदपि (न ज्वलति) न प्रकाशते । कस्मिन् किमिव (अनग्नाविव शुष्कैधः) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्क सामग्री प्रज्वलनमिन्धनमिव यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनापि दाहप्रकाशौ न जायेते तादृशमेव तदध्ययनमिति ॥ ४ ॥ (उत त्वः पश्यन्न ददर्श०) अपि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति (उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्) उ इति वितर्के कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि न शृणोति तदर्थं न जानाति यथा तेनोच्चारिता श्रुताऽपि वाक् अविदिता भवति तथैवाऽर्थज्ञानविरहमध्ययनमिति मन्त्राऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमुक्तम् । (उतो त्वस्मै) यो मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति तस्मै (वाक्) विद्या (तन्वं) शरीरं स्वस्वरूपं (विसस्रे) विविधतया प्रकाशयति कस्मै का किं कुर्वतीव (जायेव पत्य उशती सुवासाः) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि धारयन्ती पतिं कामयमाना स्त्री स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयति । तथैवाऽर्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्वस्वरूपमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ (सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि (उत त्वं) अन्यमनूचानं पूर्णं विद्यायुक्तं (स्थिरपीतं) धर्माऽनुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रं (आहुः) वदन्ति । (नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति तस्य सर्वप्रियकारकत्वात् । तथैव नैव केचित्प्रश्नोत्तरादयो व्यवहारा वाजिनेषु विरुद्धवादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति तस्य सत्यविद्यान्वितया कामदुघा वाचा सह वर्त्तमानत्वेन सत्यविद्याशुभलक्षणान्विततत्वात् । इत्यनेन मन्त्रपूर्वार्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते । अथैतन्मन्त्रोत्तराऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमाह (अधेन्वाऽऽचरति) यतोयोऽप्यविद्वान् (अपुष्पाम्) कर्मोपासनानुष्ठानाचारविचाररहिताम्(अफलाम्)धर्मेश्वरविज्ञानाधारविरहाम् (वाचम्)शुश्रुवान् श्रुतवान् तयाऽर्थशिक्षारहितया भ्रमसहितया (मायया) कपटयुक्तया वाचाऽस्मिंल्लोके चरति। नैव स मनुष्यजन्मनि स्वार्थपरोपकाराख्यं फलं किञ्चिदपि प्राप्नोति । तस्मादर्थज्ञानपूर्वकमेवाध्ययनमुत्तमं भवतीति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

ऐसे लडकों और लडकियों को बोलने,सुनने,चलने,बैठने,उठने, खाने, पीने, पढने, विचारने, तथा पदार्थोंके जानने और जोडने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये क्योंकि अर्थज्ञान के विना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु कुछ भी नहीं पढने वाले से तो पाठमात्र जानने वाला ही श्रेष्ठ है जो वेदों को अर्थ सहित यथावत् पढ के शुभ गुणों का ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है वही सब से उत्तम होता है। इस विषय में वेदमत्रों के बहुत प्रमाण हैं जैसे (ऋचो,अक्षरे परमे व्योमन्) यहां इन मत्रों से अर्थज्ञान के विना पढने का निषेध किया है (प्र०) जिस का विनाश कभी नहीं होता और जो सब से श्रेष्ठ आकाशवत् व्यापक सब मे रहने वाला परमेश्वर है जिससे अर्थ सहित चारों वेद विद्यमान तथा जिस का उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है वह ब्रह्म क्या वस्तु है?(उ०) (यस्मिन्देवा०) जिस में सपूर्ण विद्वान् लोग सब इन्द्रिया सब मनुष्य और सब सूर्य्यादिलोक स्थित हैं वह परमेश्वर कहाता है जो मनुष्य वेदों को पढ के ईश्वर को न जाने तो क्या वेदार्थ जानने का फल उस को प्राप्त हो सकता है ? कभी नहीं इसलिये जैसा वेदविषय मे लिख आये हैं वैसा व्यवहार करने वाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं परन्तु जो कोई पाठमात्र ही पढता है वह उत्तम

१ सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता इस कारण से जो कुछ पढें सो अर्थज्ञानपूर्वक ही पढें ॥ २ ॥ (स्थाणु०) जो मनुष्य वेदों को पढ के उन के अर्थों को नहीं जानता वह उन के सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु अथवा वृक्षके समान है जोकि अपने फलफूल डाली आदि को विना गुणबोध के उठा रहे हैं किन्तु जैसे उनके सुखको भोगने वाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है वैसेही पाठके पढने वाले भी परिश्रमरूप भारको उठातेहैं परन्तु उनके अर्थ ज्ञानसे आनन्द स्वरूप फल को नहीं भोग सकते(योऽर्थज्ञ:)और जो अर्थका जानने वाला है वह अधर्म से बचकर धर्मात्मा हो के जन्म मरण रूप दु खका त्याग करके सपूर्ण सुख को प्राप्त होता है क्योंकि जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है वह (नाकमेति) सर्व दुःख रहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है इसी कारण वेदादिशास्त्रों को अर्थज्ञान सहित पढना चाहिये ॥ ३ ॥ (यद्गृहीत०) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन क्रिया करता है उसका वह पढना अन्धकाररूप होता है (अनग्नाविव शुष्कैधो०) जैसे अग्नि के विना सूखे ईधन में दाह और प्रकाश नहीं होता वैसे ही अर्थज्ञान के विना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाशरहित रहता है वह पढना अविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता ॥ ४ ॥ (उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचमुत०) विद्वान् और

अविद्वान् का यही लक्षण है कि जिस किसी को पढ सुन के भी शब्द अर्थ और सं-बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो वह मूर्ख अर्थात् अविद्वान् है (उतो त्वस्मै०) और जो मनुष्य शब्द अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले वह पूर्ण विद्वान् कहाता है ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है (जायेव पत्य उशती सुवासाः) अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है वैसे ही अर्थ जानने वाले विद्वान् ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है ॥ ५ ॥ (उतत्वं सख्ये०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें अर्थात् जैसे सम्पूर्ण मनुष्यों के मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं वैसेही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुषहै उस को अच्छी प्रकार सुख दे कि जिस से तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे। विद्वान् नाम उसका है जो कि अर्थसहित विद्या को पढ के वैसा ही आचरण करे कि जिस से धर्म अर्थ काम मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके इसी को स्थिरपीत कहते हैं ऐसा जो विद्वान् है वह संसार को सुख देने वाला होता है। (नैन हि०) उस को कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता क्योंकि जिस के हृदय में विद्यारूप सूर्य्य प्रकाशित हो रहा है उस को दुःखरूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकते (अधेन्वाच०) और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ और अभिप्राय रहित वाणी को सुनता और कहता है उस को कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता किंतु शोकरूप शत्रु उस को सब दिन दुःख ही देते रह-ते हैं क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता इसलिये अर्थज्ञानसहित ही पढने से मन चाहा सुखलाभ होता है ॥ ६ ॥

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम्। ततो निघण्टुनिरुक्तछन्दोज्योतिषां वेदाङ्गानाम्। ततो मीमांसावैशेषिकन्याययोग साङ्ख्यवेदान्तानां वेदोपाङ्गानां षण्णां शास्त्राणाम्। तत ऐतरेयशतपथ-सामगोपथब्राह्मणानामध्ययनञ्च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्त्तव्यम्। यद्वा ए-तत्सर्वमधीतवद्भिः कृतं वेदव्याख्यानं दृष्ट्वा च वेदार्थज्ञानं सर्वैः कर्त्तव्य-मिति। कुतः। नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति। यो वेदार्थान्न वेत्ति नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति। कुतः सर्वासां वि-द्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः। नहि तमविज्ञाय कस्यचित्सत्य विद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति। यद्यत् किञ्चिद्भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदया-न्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च तत्सर्वं वेदादेव प्रसृत-

मिति विज्ञेयम् । कुतः । यद्यद्यथार्थविज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमस्ति तद्द्वारैवाऽन्यत्र कुत्रचित्सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः । अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति ॥

भाषार्थ

मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजनासहित व्याकरण अष्टाध्यायी, धातुपाठ उणादिगण, गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अंग । मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपांग अर्थात् जिन से वेदार्थ ठीक २ जाना जाता है । तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रंथों को क्रम से पढ़के अथवा जिन्हों ने उन सम्पूर्ण ग्रंथों को पढ़ के जो सत्य २ वेद व्याख्यान किये हों उन को देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें क्योंकि (नावेदवित्०) वेदों को नहीं जानने वाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता और जो २ जहां २ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से ही हुआ है क्योंकि जो २ सत्यविज्ञान है सो २ ईश्वर ने वेदों में भर रक्खा है इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है और विद्या के विना पुरुष अन्धे के समान होता है इस से सम्पूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को विना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थ-ज्ञान सहित अवश्य पढ़ने चाहियें ॥

इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः ॥

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः ॥

(प्रश्नः) किमिदं भो नवीनं भाष्यं त्वया क्रियत आहोस्वित्पूर्वाचार्य्यैः कृतमेव प्रकाश्यते । यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति । (उत्तरम्) पूर्वाचार्य्यैः कृतं प्रकाश्यते । तद्यथा—यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिरैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन् तथा यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि । एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि । एवमुपवेदाख्यानि ।

मिति विज्ञेयम् । कुतः । यद्यद्यथार्थविज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमस्ति तद्द्वारैवाऽन्यत्र कुत्रचित्सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः । अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति ॥

भाषार्थ

मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजनासहित व्याकरण अष्टाध्यायी, धातुपाठ उणादिगण, गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अंग । मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपांग अर्थात् जिन से वेदार्थ ठीक २ जाना जाता है । तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रंथों को क्रम से पढ़के अथवा जिन्हों ने उन सम्पूर्ण ग्रंथों को पढ़ के जो सत्य २ वेद व्याख्यान किये हों उन को देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें क्योंकि (नावेदवित्०) वेदों को नहीं जानने वाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता और जो २ जहां २ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से ही हुआ है क्योंकि जो २ सत्यविज्ञान है सो २ ईश्वर ने वेदों मे भर रक्खा है इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है और विद्या के विना पुरुष अन्धे के समान होता है इस से सम्पूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को विना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थज्ञान सहित अवश्य पढ़ने चाहियें ॥

इति पठनपाठनविषय संक्षेपत ॥

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः ॥

(प्रश्न) किञ्च भो नवीनं भाष्यं त्वया क्रियते आहोस्वित्पूर्वाचार्य्यैः कृतमेव प्रकाश्यते । यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति । (उत्तरम्) पूर्वाचार्य्यैः कृतं प्रकाश्यते । तद्यथा—यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन् तथा यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि । एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट् शास्त्राणि । एवमुपवेदाख्यानि ।

तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति। एतेषां सङ्ग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते। न चात्र किंचिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति। (प्रश्नः) किमनेन फलं भविष्यतीति (उ०) यानि रावणोव्वटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि यानि चैतदनुसारेणाङ्गलैण्डशार्मण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि। तथैवार्य्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति। सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्यात्यागश्च। परन्त्ववकाशाभावात्तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते। तद्यथा—यत् सायणाचार्य्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीत्युक्तम् तदन्यथास्ति। कुतः। तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्। तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति। एतावतैवास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम्। (इन्द्रं मित्रं०) अस्य मन्त्रस्याऽर्थोप्यन्यथैव वर्णितः तद्यथा—तेनाऽग्नेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा पुनः स एव सद्वस्तु ब्रह्मविशेषणं भवत्येवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति। न चैवं विशेषणम्। एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः। तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति विशेषणस्यैकवारमेवेति तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायात्। इदं सायणाचार्य्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम्। निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः। तद्यथा—इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि० निरु० अ० ७ खं० १८॥ स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति। तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम्। तथा च—तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते। यथा राज्ञः पुरोहितः सदभीष्टं सम्पादयति। यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितमित्युक्तमिदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति। तद्यथा—सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते चेत्पुनस्तेन होमसाधक आहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः॥ तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव। कोऽपि ब्रूयात्सायणाचार्य्येण यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोध। इत्युक्तत्वाददोष

इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः। यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एवोच्यते तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता। तद्यथा—अज एकपात्, स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमित्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात्तत्कथनमसदस्ति। एवमेव सायणाचार्य्योक्तभाष्यदोषा बहवः सन्ति। अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषान् प्रकाशयिष्याम इति ॥

भाषार्थ

(प्रश्न) क्यों जी! जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो सो पूर्व आचार्य्यों के भाष्य के समान बनाते हो वा नवीन, जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है तब तो बनाना व्यर्थ है क्योंकि वे तो पहिले ही से बने बनाये हैं और जो नया बनाते हो तो उस को कोई भी न मानेगा क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल अपनी ही कल्पना से बनाना है यह बात कब ठीक हो सकती है। (उत्तर) यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है परन्तु जो रावण, उव्वट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं वे सब मूलमंत्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं, मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता क्योंकि उन्हों ने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। और जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद, वेदाङ्ग ऐतरेय शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है। क्योंकि जो २ वेदों के सनातन व्याख्यान हैं उन के प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इस में अपूर्वता है क्योंकि जो २ प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न २ शास्त्र गिन आये हैं वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं वैसे ही ग्यारह सौ सत्ताईस ११२७ वेदों की शाखा भी उन के व्याख्यान ही हैं उन सब ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है और दूसरा इस के अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इस में कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती और जो २ भाष्य उव्वट, सायण, महीधरादि ने बनाये हैं वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं तथा जो २ इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं वे भी अशुद्ध हैं जैसे देखो सायणाचार्य्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थों को नहीं जान कर कहा है कि सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं यह उन की बात मिथ्या है इस के उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संक्षेप से लिख चुके हैं सो देख लेना ऐसे ही (इन्द्रं मित्र०) सायणाचार्य्य ने इस मंत्र का अर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है क्योंकि उसने इस मंत्र में विशेष्य विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझ कर इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया और मित्रादि

शब्द उस के विशेषण ठहराये हैं यह उन को बड़ा भ्रम हो गया क्योंकि इस मंत्र में अग्नि शब्द विशेष्य और इन्द्रादि शब्द उस के ही विशेषण हैं इसलिये विशेषणों का विशेष्य के साथ अन्वय हो कर पुनः दूसरे विशेषण के साथ विशेष्य का अन्वय करना होता और विशेषण का एक वार विशेष्य के साथ अन्वय होता है इसी प्रकार जहां २ एक के सैकड़ों वा हजारों विशेषण होते हैं वहां २ भी विशेष्य का सैकड़ों वा हज़ारों वार उच्चारण होता है वैसे ही इस मन्त्र मे विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो वार उच्चारण किया और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं यह बात सायणाचार्य्य ने नहीं जानी इस से उन की यह भ्रांति सिद्ध है इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है (इममेवाग्नि०) यहा अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद् वस्तु ब्रह्म ही के हैं क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं ऐसे ही सायणाचार्य्य ने और भी बहुत मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं तथा उनने सब मंत्रो से परमेश्वर का ग्रहण कर रक्खा है जैसे राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है अथवा जो अग्नि यज्ञ के संबधी प्रथम भाग में हवन करने के लिये है उसी रूपसे ईश्वर स्थित है यह सायणाचार्य्य का कथन अयोग्य और पूर्वापर विरोधी होकर आगे पीछे के संबंध को तोड़ता है क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं तो फिर जिस अग्नि में हवन करते हैं उस को किस लिये ग्रहण किया है और कदाचित् कोई कहे कि जो सायणाचार्य्य ने वहां इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो तो उस से कुछ भी विरोध नहीं आ सकता। इस का उत्तर यह है कि जब इन्द्रादि नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण है तो वह निराकार सर्वशक्तिमान् व्यापक और अखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न २ व्यक्ति वाला कभी नहीं हो सकता क्योंकि वेदों में परमेश्वर का एकअज और अकाय अर्थात् शरीरसंबंध रहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है इस से सायणाचार्य्य का कथन सत्य नहीं हो सकता इसी प्रकार सायणाचार्य्य ने जिस २ मंत्र का अन्यथा व्याख्यान किया है सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायगा ॥

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं विवरणं कृतं तस्यापीह दोषा दिग्दर्शनवत्प्रदर्श्यन्ते ॥

इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त विरुद्ध व्याख्यान किया है उस में से सत्यासत्य की परीक्षा के लिये उन के भी कुछ दोष यहां दिखलाते हैं ॥

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम ॥ आहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम् ॥ १ ॥ यजु० अ० २३ म० १९ ॥

भाष्यम्

अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने तेनोक्तमस्मिन्मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति । तद्यथा महिषी यजमानस्य पत्नी यज्ञशालायां पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते शयाना सत्याह हेअश्व ! गर्भधं गर्भंदधातीतिगर्भधं गर्भधारकं रेतः अहं आ अजानि आकृष्य क्षिपामि त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि ॥

भाषार्थ

(गणानां त्वा) इस मन्त्र में महीधर ने कहा है कि गणपति शब्द से घोड़े का ग्रहण है सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवै और सोती हुई घोड़े से कहे कि हे अश्व ! जिस से गर्भधारण होता है ऐसा जो तेरा वीर्य्य है उस को मैं खैंच के अपनी योनि में डालूं तथा तू उस वीर्य्य को मुझ में स्थापन करने वाला है ॥

अथ सत्योऽर्थः

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इति । ब्राह्मणस्पत्यं ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति प्रथश्च यस्य स प्रथश्च नामेति । ऐत० पं० १ कं० २१ ॥ प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः । क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः । क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं ज्योतिर्वै हिरण्यम् । श० कां० १३ अ० २ ब्रा० १२ कं० १४ । १५ । १६ । १७ ॥ न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद । श० कां०

धाति क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्तमानं करोति । अथो क्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्धयति विशमेव तद्विशा समर्धयति । श० कां० १३ अ० २ ब्रा० ११ कं० १५। १६ । १७ ॥ गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामह इति । पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतदतोऽन्येवास्मै नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्धुवते त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति ये यज्ञे धुवनं तन्वते नवकृत्वः परियन्ति नव वै प्राणाः प्राणानेवात्मं धत्ते । नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधमिति प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशुनात्म धत्ते ॥ श० कां० १३ अ० २ ब्रा० २ कं० ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(गणाना त्वा०) वयं गणाना गणनीयानां पदार्थसमूहाना गणपतिं पालक स्वामिनं (त्वा) त्वा परमेश्वरं (हवामहे) गृहणीमः । तथैव सर्वेषा प्रियाणामिष्टमित्रादीना मोक्षादीना च प्रियपतिं त्वेति पूर्ववत् । एवमेव निधीना विद्यारत्नादिकोशानां निधिपति त्वेति पूर्ववत् । वसत्यस्मिन् सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः । तत्सम्बुद्धौ हे वसो परमेश्वर ! त्व सर्वान् कार्य्यान् भूगोलान्स्वसामर्थ्यो गर्भवद्दधातीति स गर्भधस्त त्वामह भवत्कृपया आजानि सर्वथा जानीयाम् (आ त्वमजासि) हे भगवन् ! त्वमस्वासमन्ताज्जानासि । पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वय प्रकृतिपरमाण्वादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वा मन्यामहे । नैवातो भिन्नः कश्चिद् गर्भधारकोऽस्तीति । एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे गणपतिशब्दार्थो वर्णित. । ब्राह्मणस्पत्यमस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात् तेन ब्रह्मोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं

करोति। आत्मनो भिषज वैद्यमिच्छतीति। यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्रव्यासो-विस्तृतः सप्रथश्च प्रकृत्याकाशादिना प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्त्तते स सप्रथस्तदिदं नाम ब्रूय तस्यैवास्तीति। प्रजापतिः परमेश्वरो वै इति निश्चयेन जमदग्निसंज्ञोऽस्ति। अत्र प्रमाणम् -

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति। निरु० अ० ७ खं० २४ ॥

इमे सूर्य्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता भवन्ति। तैः सूर्य्यादिभिः कार्य्यैस्तन्नियमैश्च कारणाख्य ईश्वरोऽभिहुतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति यः स जमदग्निः परमेश्वरः (सोऽश्वमेध) स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोऽर्थः। अथापरः। क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशव इत्यादि। यथाऽश्वस्यापेक्षया इतरइमेऽजादयः पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति। तथा राज्ञः सभासमीपे विट् प्रजा निर्बलैव भवति। तस्य राज्यस्य यद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत्स्वरूपं भवति। यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः। तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यते। नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद किन्त्वीश्वरानुग्रहेणैव जानाति ॥

अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वः। श० कां० १३ अ० ३ ब्रा० ८ कं० ८। अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत्सोऽश्व ईश्वरः ॥

इत्युक्तत्वादीश्वरस्यैवात्राश्वसंज्ञास्तीति। अन्यच्च (राष्ट्रं वा०) राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति तद्राष्ट्रे राज्यकर्मणि ज्योतिर्दधाति तत्कर्मफलं क्षत्राय राजपुरुषाय भवति। तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां स्ववर्त्तमानामनुकूलां करोति। अथो इत्यनन्तरं क्षत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति। तस्य यद्धिरण्यमेतदेवरूपं भवति। तेन हिरण्याद्यन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यग्वर्धते न च प्रजाः। सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा समर्धयति। अतो यत्रैको राजा भवति तत्र प्रजा पीडिता जायते। तस्मात्प्रजासत्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्य्य इति। (गणानां) स्त्रियोऽप्येनं राज्यपालनाय विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणाख्यं यज्ञं परितः सर्वतः प्राप्नुयुः प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति। अतः कारणादेतदेतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति। अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति तानप्यन्ये च दूरीकुर्य्युः। एवमस्य

त्रिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्युः । एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मश-रीरबलानि सम्पादयेयुः । ये नराः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति नैव ते-भ्यः प्राणा बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति । तस्मान्मनुष्यस्त गर्भध परमेश्वर-महमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत् । (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसाम-र्थ्यागर्भात्सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम् । यश्च पशूनां प्रजाना मध्ये विज्ञानवान् भवति स इमा सर्वा प्रजामात्मनि अतति सर्वत्र व्याप्नोति त स्मिन् जगदीश्वरे वर्त्तत इति धारयति । इतिसंक्षेपतो गणानांत्वेति मन्त्र-स्यार्थो वर्णितः । अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम् ॥

भाषार्थ

(गणानां त्वा०) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मंत्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है जैसे ब्रह्म का नाम बृहस्पति ईश्वर तथा वेद का नाम भी ब्रह्म है जैसे अच्छा वैद्य रोगी को औषध देके दुःखों से अलग कर देता है वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप ओषधि देके अविद्यारूप दुःखों से छुडा देता है । जो कि प्रथ अर्थात् विस्तृत सब में व्याप्त और समथ अर्थात् आकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी व्यापक होरहा है । इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथावत् प्रतिपादन कर रहा है ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी राज्य-पालन का नाम अश्वमेध, राजा का नाम अश्व और प्रजा का नाम घोडे से भिन्न पशु रक्खा है। राज्य की शोभा धन है और ज्योति का नाम हिरण्य है तथा अश्व नाम परमेश्वर का भी है । क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है वही उन के लिये स्वर्गसुख को जनाता और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं उन को सब स्वर्गसुख देता है तथा (राष्ट्रमश्वमेध) राज्य के प्रकाशका धारण करना सभा ही का काम और उसी सभा का नाम राजा है वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है क्योंकि राजा ही से राज्य और प्रजा ही से प्रजा की वृद्धि होती है । (गणाना त्वा०) स्त्री लोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती रहें जो इस यज्ञ को प्राप्त होके भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म्म में मिथ्याचरण करती हैं उन के इस कर्म को विद्वान् लोग प्रसन्न नहीं करते और जो पुरुष सन्तानादि की शिक्षा में आलस्य करते हैं अन्य लोग उन को बांध कर ताडना देते हैं इस प्रकार तीन छ वा नव वार इस की रक्षा से आत्मा शरीर और बल को सिद्ध करें। जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं उन के बलादि गुण कभी नष्ट

नहीं होते (आहमजानि०) प्रजा के कारण का नाम गर्भ है उस के समतुल्य वह सभा प्रजा और प्रजा के पशुओं को अपने आत्मा में धारण करे अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे वैसे ही प्रजा और उस के पशुओं का भी सुख चाहे (गणानांत्वा०) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करने हारा है (त्वा०) उसको (हवामहे) हम लोग पूज्यबुद्धि से ग्रहण करते हैं (प्रियाणां०) जो कि हमारे इष्ट मित्र और मोक्षसुखादि का प्रियपति तथा हम को आनन्द में रख कर सदा पालन करने वाला है उसी को हम लोग अपना उपास्यदेव जान के ग्रहण करते हैं (निधीना त्वा ०) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं तथा जोकि व्यापक होके सब जगत् में और सब जगत् उसमें बस रहा है इस कारण से उस को वसु कहते हैं हे वसु परमेश्वर ! जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादि कारण में गर्भधारण करते हैं अर्थात् सब मूर्तिमान् द्रव्यों को आपही रचते हैं इसी हेतु से आप का नाम गर्भध है (आहमजानि) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूं (आत्व०) जैसे आप सब प्रकार से सब को जानते हैं वैसेही मुझ को भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये (गर्भधम्) दूसरी वार गर्भध शब्द का पाठ इसलिये है कि जो २ प्रकृति और परमाणु आदि कार्य द्रव्यों के गर्भरूप हैं उन में भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करनेवाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाला कोई भी नहीं है यही अर्थ ऐतरेय शतपथ ब्राह्मण में कहा है विचारना चाहिये कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने औ मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है जैसे यह दोष खण्डित हुआ वैसे इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जायगी ॥

ता उ॒भौ च॒तुरः॑ प॒दः स॒म्प्रसा॑रयाव स्व॒र्गे लो॒के प्रोर्णु॑वाथां॒ वृषा॑ वा॒जी रे॑तो॒धा रेतो॑ दधातु ॥ २ ॥ य० अ० २३ मं० २० ।

महीधरस्यार्थः ॥ अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति। महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति ॥

भाषार्थ

महीधर का अर्थ

यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़ कर आपही अपनी योनि में डाल देवे ॥

सत्योऽर्थः ॥

ता उभौ चतुर पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुध्यै। श० कां० १३ अ० २ ब्रा० २। कं० ५॥

भाष्यम्

आवां राजप्रजे धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि सदैव मिलिते भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह ' स्वर्गे सुखविशेषे लोके द्रष्टव्ये भोक्तव्ये प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय येन सर्वान्प्राणिनः सुखैराच्छादयेवहि । यस्मिन् राज्ये पशु पशुस्वभावमन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति सैष एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति । तस्मात्कारणादुभयस्य सुखायोभये विद्यादिसद्गुणानामभिवर्धकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रति विद्याबले सततमेव दधात्वित्याहायं मन्त्रः ॥

भाषार्थ

(ता उभौ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिल के धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें किस प्रयोजन के लिये कि दोनों की अत्यंत सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये जिस से हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण करदेवें। जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं वही देश सुखयुक्त होता है इस से राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें इस अर्थ का कहने वाला (ता उभौ०) यह मंत्र है इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यंत विरुद्ध है ॥

य॒का॒स॒कौ श॑कुन्ति॒का ह॒लगि॒ति॒ वञ्च॑ति। आह॑न्ति ग॒भे पसो॒ निग॑ल्गलीति॒ धार॑का ॥ य० अ० २३ मं० २२।

महीधरो वदति ॥

अध्वर्य्योदयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहास संवदन्ते। अङ्गुल्या योनिं प्रद-

शयन्नाह स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः । भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिङ्गमाहन्ति आगच्छति । पुंप्रजननस्य नाम हन्तिर्गत्यर्थ । यदा भगे शिश्नमागच्छति तदा धारका धरति लिङ्गमिति धारका योनिर्निगलगलीति गिलति वीर्य्यं क्षरति यद्वा शब्दानुकरणं गलगले-शब्दं करोति (यकासकौ०) कुमारी अध्वर्युं प्रत्याह । अङ्गुल्या लिङ्गं प्रदेशयन्त्याह । अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते ॥

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

यज्ञशाला में अध्वर्युआदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहासपूर्वक संवाद करते हैं इस प्रकार से कि अंगुली से योनि को दिखलाके हंसते हैं (आहल-गिति०) जब स्त्री लोग जलदी २ चलती हैं तब उन की योनि में हलहला शब्द और जब भग लिंग का संयोग होता है तब भी हलहला शब्द होता और योनि और लिंग से वीर्य्य झरता है (यकासकौ०) कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिंग का अग्रभाग है सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है ॥

अथ सत्यार्थः ॥

यकासकौ शकुन्तिकेति विड्वै शकुन्तिका हलगिति वञ्चतीति विशो वै राष्ट्राय वञ्चत्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः । श० कां० १३ अ० २ ब्रा० ६ । कं० ६ ॥

भाष्यम्

(विड्वै०) यथा श्येनस्य समीपेऽल्पपक्षिणी निर्बला भवति तथैव राज्ञः समीपे (विट्) प्रजा निर्बला भवति (आहलगिति वञ्चतीति) राजानो विशः प्रजा (वै) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति (आहन्ति०) विशो गभसंज्ञा भवति पसाख्यं राष्ट्रं राज्यं प्रजया स्पर्धनीयं भवति यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्धनन पीडां करोति । यस्माद्राष्ट्री एको राजा सतश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको

भवति तस्मात्कारणादेको मनुष्यो राजा कदाचिन्नैव मन्तव्यः किन्तु सभाध्यक्षः सभाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणान्वितो विद्वान्स प्रजाभी राजा मन्तव्यः अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्यातीव दुष्टोऽर्थोऽस्तीति विचारणीयम् ॥

भाषार्थ

(यकामकौ०) प्रजा का नाम शकुन्तिका है कि जैसे बाज के सामने छोटी २ चिड़ियों की दुर्दशा होती है वैसे ही राजा के सामने प्रजा की (आहलगिति०) जहां एक मनुष्य राजा होता है वहा प्रजा ठगी जाती है (आहन्ति गभे पसो०) तथा प्रजा का नाम भग और राज्य का नाम पस है जहा एक मनुष्य राजा होता है वहा वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करनेवाला भी कहते हैं इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रबध होना चाहिये (यकासकौ०) इत्यादि मन्त्रो के शतपथ प्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगो के बनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है ॥

माता च॑ ते पि॒ता च॑ तेऽग्रं॑ वृ॒क्षस्य॑ रोहतः । प्रति॒ला॒मीति॑ ते पि॒ता ग॒भे मु॒ष्टिमत॑ꣳसयत् ॥ य० अ० २३ मं० २४ ॥

महीधरस्यार्थः ॥

ब्रह्मा महिषीमाह महिषि हये हये महिषि ! ते तव माता च पुनस्ते तव पिता यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभाग रोहतः आरोहतः तदा ते पिता गभे मुष्टितुल्य लिङ्गमतसयत्तसयति प्रक्षिपति एव तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम् । लिङ्गमुन्धामेनालङ्करोति वा तव भोगेन स्निस्यामीति वदन्नेव तवोत्पत्तिः ॥

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

अब ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि जब तेरी माता और पिता पलग के ऊपर चढ़ के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिंग को तेरी माता के भग

डाला तब तेरी उत्पत्ति हुई उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई इससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है ॥

अथसत्योर्थ :—

माता च ते पिता च त इति । इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति । श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रं श्रियमेवैनं राष्ट्रस्याग्रं गमयति । प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतं सयदिति । विड्वै गभो राष्ट्रं मुष्टी राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः । श० कां० १३ अ० २ ब्रा० ३ क० ७ ॥

भाष्यम्

(माता च ते०) हे मनुष्य! इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति। ओषध्याद्यनेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात् । असौ द्यौः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति। सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात् विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति (अग्रं वृक्षस्य०) या श्रीर्विद्या शुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मी सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति सैवैनं जीवं श्रियं शोभां गमयति यद्राष्ट्रस्याग्रमग्रयं मुख्यं सुखं च (प्रतिलामीति०) विट् प्रजा गभाख्याऽर्थादैश्वर्य्यप्रदा (राष्ट्रं मुष्टीः०) राजकर्म मुष्टिर्यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति तथैवैको राजा चेत्तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव । यस्माद्राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुको भवति । अस्मादर्थान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति तस्मात्स नैव केनापि मन्तव्यः ॥

भाषार्थ ॥

सत्य अर्थ—

(माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार मान्य कराने वाली और सूर्य्य लोक विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान हैं क्योंकि

सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक और विज्ञानदान से पण्डित तथा परमात्मा सब का पालन करने वाला है। इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान् लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं (अग्र वृत्तस्य०) श्री जो लक्ष्मी है सो ही राज्य का अग्रभाग अर्थात् शिर के समान है क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिल के ही जीव की शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं। (प्रतिलामीति०) फिर प्रजा का नाम गभ अर्थात् ऐश्वर्य्य की देने वाली और राज्य का नाम मुष्टि है क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे। वैसे ही जहा अकेला मनुष्य राजा होता है वहा वह पक्षपात से अपने सुख के लिये प्रजा की श्रेष्ठ सुख देने वाली लक्ष्मी को ले लेता है अर्थात् वह राजा अपने राज कर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीडा देने वाला होता है इस लिये एक को राजा कभी मानना न चाहिये किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्षसहित सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है ॥

ऊर्ध्वमे॑नामुच्छ्रा॑पय गि॒रौ भा॒रꣳ हर॑न्निव । अथा॑स्यै॒ मध्य॑मेधतां शी॒ते वाते॑ पुना॒न्निव ॥ य० अ० २३ मं० २६ ॥

महीधरस्यार्थः

यथा अस्यै अस्या वा वाताया मध्यमेधता योनिप्रदेशो वृद्धिं यायात् यथा योनिर्विशाला भवति तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह। यथा शीतले वायौ वाति पुनन्धान्यपवनं कुर्वाणः कृषीवलो धान्यपात्रं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः॥

यद॑स्या अꣳहु॒भेद्याः॑ कृ॒धु स्थू॒लमु॒पात॑सत् । मु॒ष्काविद॑स्या एजतो गोश॒फे श॑कु॒लावि॑व ॥ २८ ॥ य० अ० २३ मं० २८ ॥

यत् यदा अस्याः परिवृक्ताया कृधु ह्रस्वं स्थूलञ्चशिश्नमुपातसत् उपगच्छत् योनिं प्रतिगच्छेत् स स उपक्षये तदा मुष्कौ वृषणौ इत् एव अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते लिङ्गस्य स्थूलत्वाद्योनेरल्पत्वाद्वृषणौ बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः गोशफे जलपूर्णे गोखुरे शकुलौ मत्स्याविव यथा उदकपूर्णे गोः पदे मत्स्यौ कम्पेते ॥

भाषार्थ

महीधर का अर्थ

पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खेंच के बढ़ा लेवें (यदस्या अंहु०) परिवृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य्य निकल जाता है जब छोटा वा बड़ा लिङ्ग उस की योनि मे डाला जाता है तब योनि के ऊपर दोनों अण्डकोश नाचा करते हैं क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है। इस में महीधर दृष्टान्त देता है कि जैसे गाय के खुर के बने हुए गढे के जल में दो मच्छी नाचें तथा जैसे खेती करने वाला मनुष्य अन्न और भुस अलग २ करने के लिये चलते वायु में एक पात्र मे भर के ऊपर को उठा के कम्पाया करता है वैसे ही योनि के ऊपर अण्डकोश नाचा करते हैं ॥

अथ सत्योऽर्थः—

ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापयेति। श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेध श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति। गिरौ भारꣳ हरन्निवेति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः श्रियमेवास्मै राष्ट्रꣳ सन्नह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति अथास्यै मध्यमेधतामिति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यꣳ श्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति शीते वाते पुनन्निवेति क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति। श० कां० १३ अ० २ ब्रा० ३ कं० १। २। ३। ४॥

भाष्यम्

(ऊर्ध्वमेना०) हे नर! त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रियमुच्छ्रापय सेव्यामुत्कृष्टां कुरु। एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुणमुच्छ्रयितुं शक्यम्। (गिरौ भारꣳहर०) कस्मिन्किमिव गिरिशिखरे प्राप्त्यर्थं भारवद्वस्तूपस्थापयन्निव। कोऽस्ति राष्ट्रस्य भार इत्यत्राह[१] श्रीर्वै राष्ट्रस्य भार इति। सभाव्यवस्थयाऽस्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नह्य सम्बध्य राष्ट्रमनुत्तमं कुर्य्यात्। अथो इत्यनन्तरमेवं कुर्वन् जनोऽस्मिन्संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधिनिदधाति सर्वोपरि निस्था धारयतीत्यर्थः (अथास्यै०) किमस्य

राष्ट्रस्य मध्यमित्याकाङ्क्षायामुच्यते । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्या तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्य भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽभ्यन्तरे दधाति सुसभया सर्वां प्रजां सुभोगयुक्तां करोति । कस्मिन् किं कुर्वन्निव ? शीते वाते पुनन्निवेति राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षण शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्य्यात् । अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तम् विरुद्धमस्तीति ॥

भाषार्थ

श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम अश्वमेध है येही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं (गिरौ भारꣳ हरन्निव०) राज्य का भार श्री है क्योंकि इसी से राज्य की वृद्धि होती है । इसलिये राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उन का भार अर्थात् प्रबन्ध श्रेष्ठपुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिये कि (अथास्यै०) श्री राज्य का आधार और वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देती है इस में दृष्टान्त यह है कि (शीतेवाते०) अर्थात् राज्य की रक्षा करने का नाम शीत है । क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है तभी उस की उन्नति होती है । (प्र०) राज्य का भार कौन है । (उ०) (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) श्री, क्योंकि वही धन के भार से युक्त कर के राज्य को उत्तमता को पहुंचाती है । (अथो) इस के अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सब में स्थापन कर देते हैं । (अथास्यै०) प्र०—उस राज्य का मध्य क्या है ? (उ०) प्रजा की ठीक २ रक्षा अर्थात् उस का नियमपूर्वक पालन करना यही उस की रक्षा में मध्यस्थ है । (गिरौ भारꣳहरन्निव) जैसे कोई मनुष्य बोझ उठा के पर्वत पर ले जाता है वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त कर देती है ॥

यद्देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः । सक्थना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ य० अ० २३ मं० २९ ॥

महीधरस्यार्थ –

यत् यदा देवासः देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवाः होत्रादयः ऋत्विजो ललामगु लिङ्गं प्रभाविषुः योनौ प्रवेशयन्ति ललामेति सुखनाम ललाम सुखं गच्छतिप्राप्नोति ललामगुः शिश्नः।यद्वा ललाम पुण्ड्रं गच्छति ललामगुः लिङ्गम्

मगुः लिङ्गम् योनि प्रविशदुन्थितपुण्ड्राकारभवतीत्यर्थः । कीदृश ललामगु विष्टीमिन शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्लेदन भवतीत्यर्थः यदा देवाः शिश्नक्रीडिनो भवन्ति ललामगु योनौ प्रवेशयन्ति । तदा नारीसक्थ्ना ऊरुणा ऊरुभ्या देदिश्यते निर्दिश्यते अत्यन्त लक्ष्यते । भोगसमये सर्वस्य नार्य्यङ्गस्य नरेणाच्छादितत्वादूरुमात्र लक्ष्यते । इय नारीतीत्यर्थ ॥

भाषार्थ

महीधर का अर्थ

(यद्देवासो०) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज् लोग ऐसा हसते और भडकोश नाचा करते हैं तब तक घोडे का लिंग महिषी की योनि में काम करता है और उन ऋत्विजों के भी लिंग स्त्रियो की योनियों में प्रवेश करते हैं और जब लिंग खडा होता है तब कमल के समान हो जाता है जब स्त्री पुरुष का समागम होता है तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है ॥

अथ सत्योर्थः–

(यद्देवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेम (विष्टीमिन) विविधतया आर्द्रीभावगुणवन्त (ललामगु) सुखप्रापक विद्यानन्द प्राविशुः प्रकृष्टतया समन्ताद्व्याप्नुवन्ति तथैव तैस्तेन सह वर्त्तमानेयं प्रजा देदिश्यते । यथा नारी वस्त्रैराच्छाद्यमानेन सक्थ्ना वर्त्तते तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति ॥

भाषार्थ

जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं विद्वान् लोगों को चाहिये कि जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अगो को वस्त्रों से सदा ढाप रखती है इसी प्रकार अपने सत्योपदेश विद्या धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें ॥

यद्ध॒रि॒णो यव॒मत्ति॒ न पु॒ष्टं प॒शु मन्य॑ते। शू॒द्रा यदर्य्य॑जारा॒ न पोषा॑य धनायति ॥ य० अ० २३ । मं० ३० ॥

भाष्यम्

महीधरस्यार्थः—

क्षत्ता पालागलीमाह । शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री यदा अर्य्योजारा भवति वैश्यो यदा शूद्रा गच्छति तदा शूद्रः पोषाय न धनायते पुष्टिं न इच्छति मद्भार्य्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः (यद्धरिणो०) पालागली क्षत्तारमाह । यत् यदा शूद्रः अर्य्यायै अर्य्याया वैश्याया जारो भवति तदा वैश्य पोष पुष्टिं नानुमन्यते मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः ॥

भाषार्थ

महीधर का अर्थ

(यद्धरिणो०) क्षत्ता सेवक पुरुष शूद्र दासी से कहता है कि जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है तब वह इस बात को तो नहीं विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार कराने से पुष्ट हो गई किन्तु वह इस बात को विचार के दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो गई (यद्धरिणो०) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार कर लेता है तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट होगई किन्तु नीच ने समागम कर लिया इस बात को विचार के क्लेश मानता है ॥

अथसत्योऽर्थः—

यद्धरिणो यवमत्तीति । विड्वै यवो राष्ट्रꣳ हरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति । न पुष्टं पशु मन्यत इति तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति । शूद्रा यदर्य्यजारा न पोषाय धनायतीति । तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति । श० कां० १३ अ० २ ब्रा० ३ कं० ८ ॥

भाष्यम्

(यद्धरिणो०) विट् प्रजैव यवोस्ति । राज्यसम्बन्ध्येको राजा हरिण इव

उत्तमपदार्थहर्त्ता भवति । यथा मृगः क्षेत्रस्थ शस्य भुक्त्वा प्रमत्तो भवति तथैवैको राजापि नित्य स्वकीयमेव सुखमिच्छति । अतः स राष्ट्राय स्वसुखप्रयोजनाय विशम् प्रजामाद्यां भक्ष्यामिव करोति । यथा मांसाहारी पुष्टम् पशुम् दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छाम् करोति नैव स पुष्टम् पशुम् वर्धयितुम् जीवितुम् वा मन्यते । तथैव स्वसुखसम्पादनाय प्रजाया कश्चिन्मत्तोऽधिको न भवेदितीच्छा सदैव रक्षति तस्मादेको राजा प्रजा न पोषयति नैव रक्षयितुम् समर्थो भवतीति । यथा च यदा अर्य्यजारा शूद्रा भवति तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति पुष्टो न भवति तथैको राजापि प्रजा यदा न पोषयति तदा सा नैव पोषाय धनायति पुष्टा न भवति । तस्मात्कारणाद्वैश्यीपुत्र भीरु शूद्रीपुत्र मूर्खं च नाभिषिञ्चति नैवैत राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः । अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थान्महीधरकृतोऽर्थोऽतीव विरुद्धोऽस्ति ॥

भाषार्थ

(यद्धरिणो०) यहां प्रजा का यव और राष्ट्र का नाम हरिण है क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में यवों को खाकर आनन्दित होते हैं वैसे ही स्वन्तत्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है । अथवा (न पुष्ट पशु मन्यत०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार के उस का मांस खा जाता है वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करने हारा होता है । क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धन हरण अधिक होता है इसलिये किसी एक मूर्ख वा लोभी को भी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही चला है ॥

उत्सक्थ्या॒ अव॑ गु॒दं धे॑हि॒ सम॒ञ्जिं चा॑रया वृषन् । य स्त्री॒णां जी॑व॒भोज॑नः ॥ य० अ० २३ मं० २१ ॥

महीधरस्यार्थः—

यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते । हे वृषन् ! सेक्त अश्व उत् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या गुदमव गुदोपरि रेतो धेहि

वीर्य्यं धारय । कथं तदाह आञ्जिम् लिङ्गम् सञ्चारय योनौ प्रवेशय । योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः यस्मिन् लिङ्गे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय ।

भाषार्थ

(उत्सक्थ्या०) इस मन्त्रपर महीधर ने टीका की है कि यजमान घोड़े से कहता है । हे वीर्य्य के सेचन करने वाले अश्व ! तू मेरी स्त्रीके जघा ऊपर को करके उस की गुदा के ऊपर वीर्य्य डालदे अर्थात् उस की योनि में लिङ्ग चलादे । वह लिङ्ग किस प्रकार का है कि जिस समय योनि में जाता है उस समय उसी लिङ्ग से स्त्रियोंका जीवन होता हैं और उसी से वे भोग को प्राप्त होती हैं इस से तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्रीकी योनि में डालदे ॥

अथ सत्योऽर्थः-

(उत्सक्थ्या०) हे वृषन् ! सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक सभाध्यक्ष विद्वन् ! त्वमस्यां प्रजायामञ्जिं ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं सञ्चारय सम्यक् प्रकाशय । (यः स्त्रीणां जीवभोजनः) कामुकः सन् नाशमाचरति तं त्वमवगुदमधःशिरस कृत्वा ताडयित्वा काष्गृहे धेहि । यथा स्त्रीणा मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति तस्यै सम्यग्दण्ड ददाति तथैव त्व तं जीवभोजन परप्राण नाशकं दुष्ट दस्यु दण्डेन समुचारय ॥

भाषार्थ

(उत्सक्थ्या०) परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करने वाले और उस को प्राप्त कराने वाले सभाध्यक्षसहित विद्वान लोगो ! तुम सब एकसम्मति होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढाके न्यायपूर्वक सब को सुख दिया करो तथा जो कोई दुष्ट (जीवभोजन) स्त्रियों में व्यभिचार करने वाला चोरों मे चोर ठगों में ठग डाकुओं में डाकू प्रसिद्ध दूसरों को बुरे काम सिखाने वाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे शिर करके उस को टाग देना इत्यादि

अत्यंत दुर्दशा करके मारडालना चाहिये क्योंकि इस से अत्यन्त सुख का लाभ प्रजामें होगा ॥

एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य वेददीपाख्यस्य खण्डनं मर्यसज्जनैर्बोद्धव्यमिति । यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्यान्येपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते । यदि ह्यार्य्यदेशनिवासिना सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्यागतिरस्ति तर्हि यूरोपखण्डनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेशभाषया वेदार्थव्याख्यानानामनर्थगतेस्तु का कथा । एवं जाते सति ये ह्येतदाश्रयेण देशभाषया यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति । इति सज्जनैर्विचारणीयम् । नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुमार्य्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते । तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च । तस्मात्तद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापिनैव कर्त्तव्या । किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति नैव किञ्चित्तेषु मिथ्यात्वमस्ति । तदेतच्च सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति । यदा चतुर्णां वेदानां निर्मितं भाष्यं यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भविष्यति एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया वेदविद्यया तुल्या द्वितीया विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम् ॥

आगे कहातक लिखें इतनेही से सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ की परीक्षा करलेवें परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर आदिके और भी दोष प्रकाश किये जायेंगे और जब इन्हीं लोगोंके व्याख्यान अशुद्ध हैं तव यूरोपखण्डवासी लोगोंने जो उन्हीं की सहायता लेकर अपनी देशभाषा में वेदोंके व्याख्यान किये हैं उनके अनर्थका तो क्या ही कहना है तथा जिन्होंने उन्हींके अनुसार व्याख्यान किये हैं इन विरुद्ध व्याख्यानोंसे कुछ लाभ तो नहीं देख पडता किंतु वेदोंके सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है परन्तु । जिस समय चारों वेदोंका भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा तव सव किसी को उत्तमविद्यापुस्तक वेद का परमेश्वररचित होना भूगोल भरमें विदित हो जावेगा और यह भी प्रकट होजावेगा कि ईश्वरकृत सत्यपुस्तक वेदही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है ऐसा निश्चय जान के सब मनुष्योंकी वेदों में परमप्रीति होगी इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जान लेना ॥

इतिभाष्यकरणशङ्कासमाधानविषयः समाप्तः

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते ॥

अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः ॥

परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डे विनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते । कुतः । कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् । पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति । तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति । तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते कुतोऽस्यैतन्त्रविशेषस्तु पातञ्जलयोगशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोऽस्तीत्यतः । एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि । कुतः । अस्य विशेषस्तु साङ्ख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः । एवं काण्डत्रयेण बोधान्निष्पत्त्युपकारी गृह्यते तच्च विज्ञानकाण्डम् । परन्त्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तरस्तद्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति । स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोऽर्थो ग्रहीतव्यः । कुतः । मूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः । एवमेव व्याकरणादिभिर्वेदाङ्गैर्वैदिकशब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं च । तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते । एवं पिङ्गलसूत्रछन्दोग्रन्थे यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम् । स्वराः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥ १ ॥ पिङ्गलशास्त्रे अ० ३ सू० ६४ ॥ इति पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दं स्वरा लेखिष्यन्ते । कुतः इदानीं यच्छन्दोन्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहारप्रसिद्धेः । एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यकविद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः । तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते । एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति । अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते यत्र यत्र व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम् । संहितामन्त्राणां यथाशक्ति यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्य्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं

भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतमनेनात्रानर्थो महान् जातः । तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति । यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनिमहर्षिमहामुनिभिरार्य्यैर्वेदार्थगर्भितैष्वैतरेयब्राह्मणादिपुस्तकप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते । अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते । परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति । कुतः । निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्य्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्वात् । कार्य्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च । यत्र खलु व्यावहारिकोऽर्थो भवति तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च । एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन्कार्य्यार्थसम्बन्धात्सोऽप्यर्थ आगच्छतीति ॥

भाषार्थ ॥

इस वेदभाष्य मे शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकांड का वर्णन करेंगे परन्तु लोगों के कर्मकाडमें लगाये हुए वेदमन्त्रो में से जहां २ जो २ कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधके अन्तपर्यन्त करने चाहियें उन का वर्णन यहां नहीं किया जायगा क्योंकि उन के अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण पूर्वमीमांसा श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है उसी को फिर कहने से पिसेको पीसनेके समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषोंके लेख के समान दोष इस भाष्यमे भी आ जा सकता है इसलिये जो जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध हैं उसी को मानना योग्य है अयुक्त को नहीं । ऐसे ही उपासनाकाण्डविषयक मन्त्रों के विषय में भी पातंजल सांख्य वेदान्तशास्त्र और उपनिषदोंकी रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना परन्तु केवल मूल मन्त्रोंही के अर्थानुकूलका अनुष्ठान और प्रतिकूलका परित्याग करना चाहिये क्योंकि जो जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं सो सब स्वतःप्रमाणरूप और ईश्वर के कहे हुए है और जो जो ग्रंथ वेदों से भिन्न हैं वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही प्रामाणिक हैं ऐसे न हों तो नहीं ॥ ऐसे ही व्याकरणादि शास्त्रों के बोध से उदात्त अनुदात्त स्वरित एकश्रुति आदि स्वरोंका ज्ञान और उच्चारण तथा पिंगलसूत्रसे छन्दों और षड्जादि स्वरों का ज्ञान अवश्य करना चाहिये जैसे अग्निमीडे० यहां अकारके नीचे अनुदात्त का चिह्न (ग्नि) उदात्त हैं इसलिये उसपर चिन्ह नहीं लगाया गया है । मी के ऊपर स्वरितका चिह्न है । (डे) में प्रचय और एकश्रुति स्वर है यह बात ध्यान में रखना ॥ इसी प्रकार जो जो व्याकरणादिके विषय लिखनेके योग्य होंगे वे सब सक्षेपसे आगे लिखेजायगे क्योंकि मनुष्यों

को उनके समझने में कठिनता होती है इस लिये उनके साथ में अन्य प्रामाणिक ग्रंथों के भी विषय लिखे जायगे कि जिनके सहाय से वेदोंका अर्थ अच्छी प्रकार विदित हो सके। इस भाष्य मे पदपद का अर्थ पृथक् क्रमसे लिखा जायगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषोंकी कल्पना की गई हैं उन सबकी निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायगा। तथा जो जो सायण माधव महीधर और अंग्रेजी वा अन्यभाषा में उलथे वा भाष्य किये जाते वा गये हैं तथा जो जो देशान्तरभाषाओंमें टीका हैं उन अनर्थव्याख्यानोंका निवारण होकर मनुष्यो को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्तसुखलाभ पहुचेगा क्योंकि विना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यो की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे प्रामाण्याप्रामाण्य विषयमें सत्य और असत्य कथाओं के देखनेसे भ्रमकी निवृत्ति हो सकती है ऐसेही यहा भी समझ लेना चाहिये इत्यादि प्रयोजनों के लिये इस वेदभाष्य के बनाने का आरभ किया है॥

॥ इति प्रतिज्ञाविषय सक्षेपतः ॥

॥ अथ प्रश्नोत्तरविषय सक्षेपत ॥

(प्रश्नः) अथ किमर्थं वेदाना चत्वारो विभागाः सन्ति। (उत्तरम्) भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय। (प्र०) कास्ताः। (उ०) त्रिधा गानविद्या भवति गानोच्चारणविद्याया द्रुतमध्यमविलम्बितभेदयुक्तत्वात्। यावताकालेनह्रस्वस्वरोच्चारण क्रियते ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः प्लुतोच्चारणे त्रिगुणश्च कालो गच्छतीति। अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु सहितासु पाठ कृतोऽस्ति। तद्यथा— ऋग्भिस्स्तुवन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिर्गायन्ति। ऋग्वेदे सर्वेषा पदार्थाना गुणप्रकाश कृतोऽस्ति। तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थाना सकाशात् क्रिययाऽनेकविद्योपकारग्रहणाय विधान कृतमस्ति। तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्य्यन्त विद्याविचारः। एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणा वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्त'। एतदाद्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति। (प्रश्न) वेदाना चतुःसहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति। (उत्तरम्) यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणा प्रकरणश पूर्वापरसन्धानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं सहिताकरणम्॥ (प्र०) वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायसूक्तषट्ककाण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधान किमर्थं कृतमस्तीत्यत्र ब्रूमः। (उ०) अत्राष्टकादीना विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनमन्त्रपरिगणन प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेदेतदर्थ-

कृतमस्तीति । (प्र०) किमर्थो ऋग्यजुःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसङ्ख्यया क्रमेण परिगणिताः सन्तीत्यत्रोच्यते । (उ०) न यावद्गुणगुणिनोः साक्षाज्ज्ञानं भवति नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च । न चाभ्यां विनाप्रवृत्तिर्भवति तया विना सुखाभावश्चेति । एतद्विद्याविधायकत्वादृग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योस्ति । एवं च यथा पदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रिययोपकारेण सर्वजगद्धितसंपादनं कार्य्यं भवति । यजुर्वेद एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद् द्वितीयः परिगणितोस्तीति बोध्यम् । तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति किञ्चैतेषां फलं भवति सामवेद एतद्विधायकत्वात्तृतीयो गण्यत इति । एवमेवाथर्ववेदस्त्रय्यन्तर्गतविद्यानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्चतुर्थः परिगण्यत इति । अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानोन्नतिशेषविद्यारक्षणानां पूर्वापरसहभावे संयुक्तत्वात्क्रमेणर्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति । ऋच स्तुतौ । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु । साम सान्त्वने । षोऽन्तकर्मणि । थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः । निरु० अ० ११ ख० १८ । चर संशये । अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते । एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदाः परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम् ॥

भाषार्थ

(प्र०) वेदोंके चार विभाग क्यों किये हैं ? । (उ०) भिन्न २ विद्या जानने के लिये अर्थात् जो तीन प्रकारकी गानविद्या है एकतो यह कि उदात्त और षड्जादि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना जैसा कि ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है, दूसरी मध्यमवृत्ति जैसे कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है, तीसरी विलंबित वृत्ति है जिस में प्रथमवृत्तिसे तिगुना काल लगता है जैसा कि सामवेदके स्वरोंके उच्चारण वा गानमें, फिर इन्हीं तीनों वृत्तियोंके मिलानेसे अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है परन्तु इसका द्रुतवृत्तिमें उच्चारण अधिक होता है इस लिये वेदोंके चार विभाग हुए हैं तथा कहीं कहीं एक मंत्रका चार वेदोंमें पाठ करनेका यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकारकी गानविद्यामें गाया जावे तथा प्रकरणभेद से कुछ कुछ अर्थभेद भी होताहै इसलिये कितनेही मन्त्रोंका पाठ चारोंवेदोंमें किया जाता है । ऐसेही (ऋग्भिस्तु०) ऋग्वेदमें सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है जिससे उनमें प्रीति बढकर उपकार लेनेका ज्ञान प्राप्त होसके क्योंकि विना प्रत्यक्षज्ञानके संस्कार और प्रवृत्तिका आरंभ नहीं हो सकता और आरम्भके विना यह मनुष्यजन्म व्यर्थही चला जाता है इसलिये ऋग्वेदकी गणना प्रथमही की है । तथा

यजुर्वेदमें क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है सो ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणोंका कथन किया है वैसाही यजुर्वेद में अनेक विद्याओंके ठीक ठीक विचार करनेसे संसारमें व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है जिनसे लोगोंको नानाप्रकारका सुख मिले । क्योंकि जबतक कोई क्रिया विधिपूर्वक न कीजाय तबतक उसका अच्छे प्रकार भेद नहीं खुलसकता इसलिये जैसा कुछ जानना वा कहना वैसाही करनाभी चाहिये तभी ज्ञानका फल और ज्ञानी की शोभा होती है तथा यह भी जानना अवश्य है कि जगत्का उपकार मुख्यकरके दोही प्रकार का होता है एक आत्मा और दूसरा शरीर का अर्थात् विद्यादानसे आत्मा और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीरका उपकार होता है इसलिये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिनसे मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्ड को पूर्ण रीतिसे जान लेवें तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्दकी उन्नति और अथर्ववेदसे सर्व संशयों की निवृत्ति होती है इसलिये इनके चार विभाग किये हैं । (प्र०) प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम और चौथा अथर्ववेद इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं? (उ०) जबतक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्योंको नहीं होता तब पर्य्यन्त उनमें प्रीतिसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इसके विना शुद्ध क्रियादिके अभावसे मनुष्यो को सुख भी नहीं हो सकता था इसलिये वेदों के चार विभाग किये हैं कि जिस से प्रवृत्ति होसके क्योंकि जैसे इस गुणज्ञानविद्याको जानने से पहिले ऋग्वेद की गणना योग्य है वैसेही पदार्थों के गुणज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके इस विद्याके जनाने के लिये यजुर्वेद की गिनती दूसरी वार की है। ऐसेही ज्ञान कर्म और उपासनाकाण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहांतक होना चाहिये इस का विधान सामवेद में लिखा है इस लिये उस को तीसरा गिना है । ऐसे ही तीन वेदों में जो जो विद्या हैं उन सबके शेष भाग की पूर्त्ति विधान सब विद्याओं की रक्षा और संशयनिवृत्तिके लिये अथर्ववेद को चौथा गिना है। सो गुणज्ञान क्रिया विज्ञान इनकी उन्नति तथा रक्षा को पूर्वापर क्रमसे जानलेना अर्थात् ज्ञानकाण्डके लिये ऋग्वेद क्रियाकाण्डके लिये यजुर्वेद इनकी उन्नति के लिये सामवेद और शेष अन्य रक्षाओंके प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद की प्रथम दूसरी तीसरी और चौथी करके संख्या बांधी है क्योंकि (ऋच स्तुतौ) (यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु) (षोऽन्तकर्मणि) और (साम सान्त्वप्रयोगे) (थर्वतिश्चरतिकर्मा) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदो अर्थात् ऋग् यजुः साम और अथर्वकी ये चार संज्ञा रक्खी हैं तथा अथर्ववेदका

प्रकाश ईश्वर ने इसलिये किया है कि जिस से तीनों वेदों की अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उन की गणना अच्छी प्रकार से हो सके। (प्र०) वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है। (उ०) विद्या के जानने वाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होता है उस से वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जानली जाय। इत्यादि प्रयोजन संहिताओं के करने में है। (प्र०) अच्छा अब आप यह तो कहिये कि वेदों में जो अष्टक, अध्याय, मण्डल, सूक्त, षट्क, काण्ड, वर्ग, दशति, त्रिक, और अनुवाक रक्खे हैं ये किस लिये हैं। [उ०] इनका विधान इसलिये है कि जिससे पठन पाठन और मन्त्रों की गिनती विना कठिनता के जानली जाय तथा सब विद्याओं के पृथक् २ प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्यान्यवहारों में गुण और गुणी के ज्ञानद्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से अनुवृत्तिपूर्वक आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य सब को विदित होसके इत्यादि प्रयोजन के लिये अष्टकादि किये हैं।

भाष्यम्

(प्रश्न) प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवताछन्दः स्वराः कुतो लिख्यन्ते। (उत्तरम्) यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति। कुतः। यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्। तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्त्यतः॥ अत्र प्रमाणम्। यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलास्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वार्थं वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च बिल्मं भिल्मं भासनमिति वैतावन्तः समानकर्माणो धातवो धातुर्दधातेरेतावन्त्यस्य सत्वस्य नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानं नैघण्टुकमिदं देवतानामप्राधान्येनेदमितितद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्॥ निरु० अ० १ ख० २०॥

(यो वाचं) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने करोति तदफलं भवति। (प्रश्नः) वाचो यथार्थज्ञानेन किं फलं भवतीत्यत्राह। (उत्तरम्) विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम्। य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति कीदृशास्ते साक्षात्कृतधर्माणः॥ यैः सर्वा विद्या यथावद्वि-

दितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान्सम्प्रादुः मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः । कस्मै प्रयोजनाय? उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय । ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञापनायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः सम्यगभ्यास कारितवन्तः ।येन वेद वेदाङ्गानिचयथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः । ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते। अस्यार्थस्यैतावन्ति नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानार्थमेक नाम । अर्थादेकस्यार्थस्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकनामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम् । यत्रार्थानां द्योतयानां पदार्थानां प्राधान्येनस्तुतिः क्रियते तत्रसैवेयं मन्त्रमयीदेवता विज्ञेया । यच्च मन्त्राद्भिन्नार्थस्यैवसङ्केतःप्रकाश्यते तदपिनैघण्टुकव्याख्यानमिति।अतोनैवकश्चिन्मनुष्योमन्त्रनिर्मातेतिविज्ञेयम्। एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेख कृतोऽस्ति । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते । एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम् । एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोऽस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोल्लेखनम्,तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम् ॥

भाषार्थ

(प्र०) प्रतिमंत्र के साथ ऋषि देवता छन्द और स्वर किसलिये लिखते हैं? (उ०) ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे फिर उन में से जिस २ मन्त्र का अर्थ जिस२ ऋषिने प्रकाशित किया उसउसका नाम उसी उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है इसी कारण से उन का ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े२ प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया इसलिये विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं इस विषयमें अर्थसहित प्रमाण लिखते हैं(योवाच०)जो मनुष्य अर्थको समझे विना अध्ययन वा श्रवण करते हैं उनका सब परिश्रम निष्फल होता है।(प्र०) वाणी का फल क्या है?(उ०)अर्थ को ठीक२ जान के उसीके अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है।और जो लोग इसनियम पर चलते हैं वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते

हैं इसलिये जिन्हों ने सब विद्याओं को यथावत् जाना था वे ही ऋषि हुए थे जिन्हों ने अपनेउपदेश से अवर अर्थात् अल्प बुद्धि मनुष्यों को वेद मन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है। (प्र०) किस प्रयोजन के लिये ?। (उ०) वेदार्थ प्रचार की परंपरा स्थिर रहने के लिये तथा जो लोग वेद शास्त्रादि पढने को कम समर्थ हैं वे जिन में सुगमता से वेदार्थ जान लेवें इस लिये निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रंथ भी बना दिये हैं कि जिन के सहाय से सब मनुष्य वेद और वेदांगों को ज्ञान पूर्वक पढ़कर उन के सत्य अर्थों का प्रकाश करें। निघण्टु उस को कहते हैं कि जिस में तुल्य अर्थ और तुल्य कर्म वाले धातुओं की व्याख्या एक पदार्थ को अनेकार्थ तथा अनेक अर्थों का एक नाम है प्रकाश और मन्त्रों से भिन्न अर्थों का संकेत है और निरुक्त उसका नाम है कि जिस में वेदमन्त्रों की व्याख्या है और जिन जिन मन्त्रों में जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है उन के मन्त्रमय देवता जानने चाहिये अर्थात् जिस जिस मन्त्र का जो जो अर्थ होता है वही उस का देवता कहाता है सो यह इसलिये है कि जिससे मन्त्रों को देखके उनके अभिप्रायार्थका यथार्थज्ञान हो जाय इत्यादि प्रयोजन के लिये देवता शब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है। ऐसे ही जिस जिस मन्त्रका जो जो छन्द है सो भी उस के साथ इसलिये लिख दिया गया है कि उन से मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे तथा कौन कौनसा छन्द किस किस स्वर में गाना चाहिये इसबात को जानने के लिये उनके साथमें षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये ऐसे ही और और भी बता दिये हैं कि जिस से मनुष्य लोग गानविद्या में भी प्रवीण हों इसीलिये वेद में प्रत्येक मंत्रों के साथ उन के षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं ॥

भाष्यम्

(प्र०) वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः किमर्थः कृतोऽस्ति । (उ०) पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थं विद्यासङ्ग्यनुषङ्गिप्रतिविद्यानुषङ्गिबोधार्थं चेति । तद्यथा-अग्नि शब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं भवति । यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानवत्प्रकाशकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति । यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात्प्रथमं गृह्यते। तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्तबलवत्त्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते । यथा शिल्पविद्याया भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वात्तदनुषङ्गित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति । यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्यवत्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति । तथा भौतिकेन वायुनाप्युत्तमैश्वर्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते । एतदर्थमिन्द्र-

शब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति । अश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचालनादिविद्याव्यवहारे जलाग्निपृथिवीप्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्त्येतदर्थमग्निवायुग्रहणानन्तरमश्विशब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोस्ति । एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्वशब्दार्थसम्बन्धरूपवेदोपदेष्टृवत्त्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्व्यवहाराश्च । इत्यादिप्रयोजनायाग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां ग्रहणं कृतमस्ति । एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वैर्मनुष्यैर्बोध्यमस्तीति विज्ञाप्यते ॥

भाषार्थ

(प्र०) वेदों में अनेकवार अग्नि वायु इन्द्र सरस्वती आदि शब्दोंका प्रयोग किस लिये किया है ? (उ०) पूर्वापर विद्याओं के जनाने लिये अर्थात् जिस जिस विद्या में जो जो मुख्य और गौण हेतु हैं उन के प्रकाश के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सबन्ध से किया है क्योंकि अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक आदि कितने ही अर्थों का ग्रहण होता है इस प्रयोजन से कि उसका अनतज्ञान अर्थात् उस की व्यापकता आदि गुणोंका वोध मनुष्यों को यथावत् हो सके फिर इसी अग्निशब्द से पृथिव्यादि भूतों के वीच में जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है वह शिल्पविद्या का मुख्यहेतु होने के कारण उसका ग्रहण प्रथमही किया है तथा ईश्वर के सब को धारण करने और उसके अनतबल आदि गुणों का प्रकाश जनानेके लिये वायुशब्द का ग्रहण किया गया है तथा शिल्पविद्या मे अग्नि का सहायकारी और मूर्तद्रव्य का धारण करनेवाला मुख्य वायु ही है इसलिये प्रथम सूक्त में अग्निका और दूसरे मे वायुका ग्रहण किया है तथा ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायुसे योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्रशब्दका ग्रहण तीसरे स्थान में किया है क्योंकि अग्नि और वायुकी विद्या से मनुष्यों को अद्भुत अद्भुत कलाकौशलादि बनाने की युक्ति ठीक ठीक जान पड़ती है तथा अश्विशब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिये किया है कि उस से ईश्वर की अनन्त क्रिया शक्ति विदित हो क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान नौका और रथ आदि यान होते हैं वे सव पूर्वोक्त प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही वनते हैं इसलिये अश्विशब्द का पाठ तीसरे सूक्त और चौथे स्थानमें किया है तथा सरस्वती नाम परमेश्वरकी अनन्त वाणी का है कि जिससे उसकी अनन्तविद्या जानी जाती है तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के हित के लिये अपनी अनन्तविद्यायुक्त वेदों का उपदेश

भी किया है इसलिये तीसरे सूक्त और पांचवें स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना ॥

भाष्यम्

(प्र०) वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते वेदेषु भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति । यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्दप्रयोगो नैव कृतोऽस्ति । (उ०) व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणमिति महाभाष्यकारेण पतञ्जलिमहामुनिना (लण्) इति सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसन्देहनिवृत्तिर्भवतीति कुतः । वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणग्रन्थेष्वग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात् । तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति । ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते तथा सामर्थ्यवतो राज्ञः कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वरइति नामास्ति तयोर्मध्यात्कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति शङ्कायाम् व्याख्यानत एव सन्देहनिवृत्तिर्भवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति । एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवतीति । अन्यथा कोटिशः श्लोकैः सहस्रैर्ग्रन्थैरपि विद्यालेखपूर्त्तिरसम्भवास्ति । अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोर्विद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति सर्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः । यतोऽल्पकालेन पठनपाठनव्यवहारेणाल्पपरिश्रमेणैव मनुष्याणाम् सर्वा विद्या विदिता भवेयुरिति । परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योद्देशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम् । तथा च येऽग्न्यादयः शब्दार्थाः ससारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते । कुतः । ईश्वरोऽस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम् । एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात्काश्चिद्विद्या अत्र भूमिकायाम् सक्षेपतो लिखिता इतोऽग्रे मन्त्रभाष्यं विधास्यते । तत्र यस्मिन् यस्मिन् मन्त्रे या या विद्योपदिष्टाऽस्ति सा सा तस्य तस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यथावत् प्रकाशयिष्यते ॥

भाषार्थ

(प्र०) वेदके आरम्भ में अग्नि वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम अग्नि आदि प्रसिद्ध है उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये और इसीलिये लोगों ने उन शब्दों से ससार के अग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है नहीं तो उचित था कि जो २ शब्द जहा २ होना चाहिये था वहा २

उसी का ग्रहण करते कि जिस से कभी किसी को भ्रम न होता अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वरादि शब्दों ही का ग्रहण करना था। (उ०) यूं तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है परन्तु जब कि व्याख्यानों के द्वारा मंत्रों के पद पद का अर्थ खल दिया गया है तब उन के देखने से सब सन्देह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि शिक्षा आदि अङ्ग वेद मन्त्रों के पद पद का अर्थ ऐसी रीतिसे खोलते हैं कि जिस से वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का संदेह शेष नहीं रह सकता और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी विना व्याख्यान के संदेह की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्य वाले राजादि मनुष्यों का भी हो सकता है और किसी २ की ईश्वरसञ्ज्ञा ही होती है तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारह ग्रन्थ वेदों के बन जाने का सम्भव था परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता और न उन को मनुष्य लोग कभी पढ पढा सकते इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने अग्न्यादिशब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातों को सिद्ध करने वाली विद्याओं का प्रकाश किया है कि जिस से मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें इसी मुख्य हेतु से सब के सुखार्थ परम करुणामय परमेश्वर ने अग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है इसलिये अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो ससार में प्रसिद्ध हैं उन से भी ईश्वर का ग्रहण होता है क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिये हैं इस प्रकार चार वेदों में जो २ विद्या हैं उन में से कोई २ विद्या तो इस वेदभाष्य की भूमिका में सक्षेपसे लिख दी है शेष सब इस के आगे जब मन्त्रभाष्य में जिस २ मन्त्र में जिस २ विद्या का उपदेश है सो सो उसी २ मन्त्र के व्याख्यान में यथावत् प्रकाशित करदेंगे ॥

भाष्यम्

अथ निरुक्तकारः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेष नियमानाह ॥

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिकयश्च तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य। अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि। अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ॥ नि० अ० ७ ख० १। २ ॥ अथ नियमः वेदेषु सर्वत्र

उक्ता भवन्ति। तद्यथा—सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति। केचित्परोक्षाणां केचित्प्रत्यक्षाणां केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः। तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति। अपरेषु मध्यमस्य तृतीयेषूत्तमपुरुषस्य च। तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः। यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगा भवन्ति। यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतीति। अस्यायमभिप्रायः व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति। तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति। इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवासादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः ॥

भाषार्थ

अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगोंके विशेष नियम संक्षेपसे कहते हैं। जो जो नियम निरुक्तकारादिने कहे हैं वे बराबर वेदोंके सब प्रयोगोंमें लगते हैं (तास्त्रिविधा ऋचः) वेदोंके सब मन्त्र तीन प्रकारके अर्थोंको कहते हैं कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्माको। उनमेंसे परोक्ष अर्थके कहनेवाले मन्त्रोंमें प्रथम पुरुष अर्थात् अपने और दूसरे के कहनेवाले जो सो और यह आदि शब्द हैं तथा इनकी क्रियाओंके अस्ति, भवति, करोति, पचतीत्यादि प्रयोग हैं। एवं प्रत्यक्ष अर्थके कहने वालोंमें मध्यम पुरुष अर्थात् तू तुम आदि शब्द और उनकी क्रियाके असि, भवसि, करोषि, पचसीत्यादि प्रयोग हैं तथा अध्यात्म अर्थके कहने वाले मन्त्रो में उत्तमपुरुष अर्थात् मैं हम आदि शब्द और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामीत्यादि क्रिया आती हैं। तथा जहां स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करनेवाले प्रत्यक्ष हों वहां भी मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है यहां यह अभिप्राय समझना चाहिये कि व्याकरणकी रीतिसे प्रथम मध्यम और उत्तम अपनी अपनी जगह होते हैं अर्थात् जड पदार्थोंमें प्रथम चेतनमें मध्यम वा उत्तम होते हैं सो यह तो लोक और वेदके शब्दों में साधारण नियम है परन्तु वेदके प्रयोगोंमें इतनी विशेषता होती है कि जड पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहां निरुक्तकार के

उक्त नियमसे मध्यम पुरुषका प्रयोग होता है और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने ससारी जड पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जना या है । दूसरा प्रयोजन नहीं है परन्तु इस नियमको नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदोंके भाष्यकारों तथा उन्हींके बनाये हुए भाष्योंके अवलंबसे यूरोपदेशवासी विद्वानोंने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है सो यह उनकी भूल है और इसीसे वे ऐसा लिखते हैं कि वेदो में जड पदार्थों की पूजा पाई जाती है जिसका कि कहीं चिन्ह भी नहीं है ॥

भाष्यम्

अथ वेदार्थोपयोगितया सक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते । ते स्वरा द्विधा । उदात्तषड्जादिभेदात्सप्त सप्तैव सन्ति । तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते । स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः । दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता। अणुता कण्ठस्य कण्ठस्य संवृतता। उच्चैःकराणि * शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः× कराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता । उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य । त्रैस्वर्येणाधीमहे त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे कैश्चिदुदात्तगुणैः कैश्चिदनुदात्त गुणैः कैश्चिदुभयगुणैः । तद्यथा– शुक्लगुणः शुक्लः कृष्णगुणः कृष्णः । य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते कल्माष इति वा सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः । अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः । य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति ॥ त ꣳ एते तन्त्रेतरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति । उदात्तः उदात्ततरः । अनुदात्तः। अनुदात्ततरः। स्वरितः । स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टएकश्रुतिः सप्तम । अ० १ । पा० २ । उच्चैरुदात्त इत्याद्युपरि ॥ तथा, षड्जादयः सप्त षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥ १॥ पिङ्गलसूत्रे । अ० ३ सू० ६४ । एषा लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेदप्रसिद्धा ग्राह्या। अत्र तु ग्रन्थभूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या ॥

भाषार्थ

अब वेदार्थ के उपयोग हेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते हैं जो कि उदात्त

---

* उदात्तविधायकानीति यावत् । × अनुदात्तविधायकानीति यावत्

ꣳ आतिशयार्थद्योतकेतरप्प्रत्ययस्यनिर्देशे ॥

और षड्ज आदि भेद से चौदह १४ प्रकार के हैं अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि उनमेंसे उदात्तादिकोंके लक्षण जोकि महाभाष्यकार पतञ्जलि महामुनि जीने दिखलाए हैं उनको कहते हैं (स्वय राजन्त०) आपही अर्थात् जोकि विना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं वे स्वर कहाते हैं (आयाम ०) अङ्गोंका रोकना (दारुण्यं) वाणी को रूखा करना अर्थात् ऊचे स्वर से बोलना और (अणुता०) कण्ठ को भी कुछ रोक देना ये सब यत्न शब्द के उदात्त विधान करने वाले होते अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है । तथा (अन्वव) गात्रों का ढीलापन (मार्दव०) स्वरकी कोमलता (उरुता०) कण्ठको फैलादेना ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त करने वाले हैं (त्रैस्वर्य्येण०) हम सब लोग तीन प्रकारके स्वरों से बोलते हैं अर्थात् कहीं उदात्त और कहीं अनुदात्त औरकहीं उदात्तानुदात्त अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरोंसे यथायोग्य नियमानुसार अक्षरोंका उच्चारण करते हैं ॥ जैसे श्वेत और काला रग अलग अलग हैं परन्तु इन दोनों को मिला कर जो रग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है अर्थात् खाखी वा आसमानी इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग अलग हैं परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो उसको स्वरित कहते हैं विशेष अर्थ के दिखाने वाले (तरप्) प्रत्यय के सयोगसे वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं अर्थात् उदात्त उदात्ततर अनुदात्त अनुदात्ततर स्वरित स्वरितोदात्त और एकश्रुति । उक्त रीति से इन सातों स्वरोंको ठीक ठीक समझ लेना चाहिये अब षड्जादि स्वरोंको लिखते हैं जोकि गानविद्याके भेद हैं । (स्वरा षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पचम, धैवत और निषाद । इनके लक्षण व्यवस्थासहित जोकि गान्धर्व वेद अर्थात् गानविद्याके ग्रथों में प्रसिद्ध हैं उनको देख लेना चाहिये यहा ग्रथ बढ जाने के कारण नहीं लिखते ॥

भाष्यम्

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति त इदानीं प्रदर्श्यन्ते तद्यथा—॥ १ ॥ वृद्धिरादैच् । अ० १ । १ । १ । उभयसञ्ज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते । तद्यथा सुष्टुभासऋक्वता गणेन । पदत्वात्कुत्व भत्वाज्जश्त्व न भवति । इति भाष्यवचनम् । अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदस ञ्ज्ञाकार्यद्वय वेदेष्वेव भवति । नान्यत्र ॥ २ ॥ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ । अ० १ । १ । ५६ । प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति । न काञ्चित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति । या या विभक्तिमाश्रयितु बुद्धिरुपजायते सा सा आश्र-

॥ ६ ॥ चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । अ० २ । ३ । ६२ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या । या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति । तस्या इति प्राप्ते । एवमन्यत्रापि । अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी षष्ठ्यर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः । महाभाष्यकारेणछन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि अन्यथा ब्राह्मण ग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छदोग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥ ७ ॥ बहुलं छन्दसि । अ० २ । ४ । ३९ । अनेन अद्धातो स्थाने घस्लृ आदेशो बहुलं भवति । घस्तान्नूनम् सग्धिश्च मे । अत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम् । इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम् । ॥ ८ ॥ बहुलं छन्दसि । अ० २ । ४ ॥ ७३ ॥ वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति । वृत्रं हनति । अहिः शयते । अन्येभ्यश्च भवति । त्राध्वं नो देवा ॥ ९ ॥ बहुलं छन्दसि । अ० २ । ४ । ७६ ॥ वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति । दाति प्रियाणि धाति प्रियाणि । अन्येभ्यश्च भवति । पूर्णां विवष्टि । जनिमा विवक्ति । इत्यादीन्युदाहरणानि सन्तीति बोध्यम् ॥

भाषार्थ

(या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठीविभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है लौकिक ग्रन्थों में नहीं इस में ब्राह्मणों के उदाहरण इसलिये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मान के अर्थात् इन में जो व्याकरण के कार्य्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो (द्वितीया ब्राह्मणे) इससूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती फिर (चतुर्थ्यर्थे०) इस सूत्र में (छन्दः) शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाय । (बहुल०) इस सूत्र से (अद) धातु के स्थान में घस्लृ आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है । (बहुल०) वेदों में शप्प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है और कहीं नहीं भी होता जैसे (वृत्र हनति) यहा शप् का लुक् प्राप्त था तौ भी न हुआ । तथा (त्राध्व०) यहा त्रैङ् धातु से प्राप्त नहीं था परन्तु हो गया महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का आदेश किया जाता है । शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है जब शप् का लुक् हो गया तो श्यनादि प्राप्त ही नहीं होते । ऐसे ही श्लु के विषय में भी समझ लेना । (बहुल०) वेदोंमें शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है जैसे (दाति०) यहा शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परतु न हुआ और (विवष्टि) यहा प्राप्त नहीं फिर हो गया ॥

भाष्यम्

॥ १० ॥ सिब् बहुलं लेटि । अ० ३ । १ । ३४ । सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः । सविता धर्मसाविषत् । प्राण आयूंषि तारिषत् । अथ लेटि विशिष्टो नियमः ॥ ११ ॥ छन्दसि शायजपि । अ० ३ । १ । ८४ ॥ शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम् । क्व सर्वत्र? हौ चाहौ च । किं प्रयोजनम्? मही: । अस्कभायत् । यो अस्कभायत् । उद्गभायत् । उन्मथायतेत्येवमर्थम् । अथ लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः ॥ १२ ॥ व्यत्ययो बहुलम् । अ० ३ । १ । ८५ ॥ सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥ १ ॥ व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति । अनेन विकरणव्यत्ययः । सुपांव्यत्ययः । तिङांव्यत्ययः । वर्णव्यत्ययः । लिङ्गव्यत्ययः । पुरुषव्यत्ययः । कालव्यत्ययः । आत्मनेपदव्यत्ययः । परस्मैपदव्यत्ययः । स्वरव्यत्ययः । कर्तृव्यत्ययः । यङ्व्यत्ययश्च । एषां क्रमेणोदाहरणानि । युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः । दक्षिणायामिति प्राप्ते । चषालये अश्वयूपाय तक्षति । तक्षन्तीति प्राप्ते । त्रिष्टुभौजःशुभितमुग्रवीरम् । शुभितमिति प्राप्ते । मधोस्तृप्ता इवासते । मधुन इति प्राप्ते । अधासवीरैर्दशभिर्वियूयाः । वियूयादिति प्राप्ते । श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन श्व सोमेन यक्ष्यमाणेन । आधाता यष्टेति प्राप्ते । ब्रह्मचारिणमिच्छते । इच्छतीति प्राप्ते । प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति । युध्यत इति आधाता यष्टेति लुट् प्रथम पुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ । व्यत्ययो भवति स्यादीनामित्यस्योदाहरणं । तासि प्राप्ते स्यो विहितः ॥ १३ ॥ बहुलं छन्दसि । अ० ३ । २ । ८८ । अनेन क्विप्प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते । मातृहा । मातृघातः । इत्यादीनि ॥ १४ ॥ छन्दसि लिट् । अ० ३ । २ । १०५ । वेदेषु सामान्यभूते लिड् विधीयते अहं द्यावापृथिवी आततान ॥ १५ ॥ लिटः कानज् वा । अ० ३ । २ । १०६ । वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति । अग्निं चिक्यानः । अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श प्रकृतेपि लिटि पुनर्ग्रहणात्परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति ॥ १६ ॥ क्वसुश्च । अ० ३ । २ । १०७ । वेदे लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति । पपिवान् । जग्मिवान् । नच भवति । अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श ॥ १७ ॥ क्याच्छन्दसि । अ० ३ । २ । १७० । क्यप्रत्ययान्ताद्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्तृषु उकारप्रत्ययो भवति । मित्रयुः । स्वस्वेदयुः । सुम्नयुः । निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणं भवतीत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति ॥

भाषार्थ

(सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो सिप्प्रत्यय होता है वह वेदों में बहुल करके णित् सञ्ज्ञक होता है कि जिस मे वृद्धि आदि कार्य हो सकें जैसे (साविषत्) यहा सिप् को णित् मान के वृद्धि हुई है यह लेट् में वेदविषयक विशेष नियम है (छन्दसिशायजपि) वेद में (हि) प्रत्यय के परे श्ना प्रत्यय के स्थान में जो शायच् आदेश विधान कियाहै वह (हि) से अन्यत्र भी होता है (व्यत्ययो०) वेदो में जो व्यत्यय अर्थात् विपरीत भाव बहुधा होता है वह भाष्यकार पतञ्जलिजी ने नवप्रकारसे माना है वे सुप् आदि हैं सुप् , तिङ्, उपग्रह आत्मनेपद और परस्मैपद (लिङ्ग) पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, और नपुसकलिङ्ग (पुरुष) प्रथम मध्यम और उत्तम (काल) भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, (वर्ण) वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान में अच् के आदेश हो जाते हैं स्वर । उदात्तादिका व्यत्यय । कर्त्ता का व्यत्यय । और यङ् का व्यत्यय होते हैं । इन सब के उदाहरण सस्कृत में लिखे हैं वहा देख लेना । (बहुलम्०) इस से क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है (छन्दसि०) इस सूत्र से लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल मे भी होता है । (लिट का०) इस सूत्र से वेदों में लिट् लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प करके होता है इस के (आततानः) इत्यादि उदाहरण बनते हैं (छन्दसि०) इस सूत्र में से लिट् की अनुवृत्ति हो जाती फिर लिट् ग्रहण इसलिये है कि (परोक्षे लिट्) इस लिट् के स्थान में भी कानच् आदेश होजावे। (क्वसुश्च) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हो जाता है । (क्या०) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययान्त धातु से (उ) प्रत्यय हो जाता है ॥

भाष्यम्

॥ १९ ॥कृत्यल्युटो बहुलम् अ० ३ । ३ । ११३ ॥ कृल्ल्युट इति वक्तव्यम् । कृतो बहुलमिति वा । पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्या ह्रियते पादहारकः । अनेन धातोर्विहिताः कृत्सञ्ज्ञका प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः । अथ लौकिकवैदिकशब्दाना सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति, वेद्यम् ॥ १९ ॥ छन्दसिगत्यर्थेभ्यः । अ० ३ । ३ । १२९ । ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच् प्रत्ययो भवति । उ०—सूपसदनोऽग्निः ॥ २० ॥ अन्येभ्योपिदृश्यते । अ० ३ । ३ । १३० । अन्येभ्यश्च धातुभ्यो युच् प्रत्ययो दृश्यते । उ०—सुदोहनमाकृणोद्ब्रह्मणे गाम् ॥ २१ ॥ छन्दसि

लुङ्लङ् लिटः । अ० ३ । ४ । ६ ॥ वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्-लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ०—लुङ् । अहं तेभ्योऽकर नमः लङ् । अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः । लिट् । अद्य ममार ॥ ॥ २२ ॥ लिङर्थे लेट् । अ० ३ । ४ । ७ । यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेषूर्ध्व मौहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते। तत्र वेदेष्वेव लेट्लकारो वा भवति । उ०—जीवाति शरदः शतमित्यादीनि ॥ २३ ॥ उपसंवादाशङ्कयोश्च। अ० ३ । ४ । ८ । उपसंवादे आशङ्कायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट्प्रत्ययो भवति । उ०—(उपसंवादे) अहमेव पशूनामीशै । आशङ्कायां । नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम । मिथ्याचरणेन नरकपात आशङ्क्यते ॥॥२४॥ लेटोऽडाटौ। अ० ३ । ४ । ९४ । लेटः पर्यायेण अट्आट्आगमौ भवतः ॥ २५ ॥ आत ऐ। अ० ३ । ४ । ९५ । छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेडादेशस्य द्विवचनस्यस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति । उ०—मन्त्रयैते । मन्त्रयैथे ॥ २६ ॥ वैतोऽन्यत्र । अ० ३ । ४ । ९६ ॥ आत ऐ इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति । उ०—अहमेव पशूनामीशै ईशे वा ॥ २७ ॥ इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । अ० ३ । ४ । ९७ लेटः स्थान आदिष्टस्य तिवादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति । उ०—तरति, तराति, तरत्, तरात्, तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्, तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्, तरसि, तरासि तरः तराः, तरिषसि, तरिषासि, तरिष, तरिषाः, तारिषसि, तारिषासि, तारिषः, तारिषाः, तरामि, तराम्, तरिषामि, तरिषाम्, तारिषामि, तारिषाम्, एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेड्विषये बोध्यम् ॥२८॥ स उत्तमस्य । अ० । ४ । ९८ । लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति । करवाव, करवावः, करवाम, करवामः ॥

भाषार्थ

(छन्दसि०) इस सूत्र से ईषत्, दुर, सु, ये पूर्व पद लगे हों तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में युच् प्रत्यय होता है (अन्येभ्यो०) और धातुओं से भी वेदों में युच् प्रत्यय देखने में आता है जैसे (सुदोहन) यहां सु पूर्वक दुह् धातु से युच् प्रत्यय हुआ है । (छन्दसि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न भिन्न कालों में होते हैं । वे वेदोंमे

लुङ् लङ् और लिट् लकार ये सब कालो मे विकल्प करके होते हैं (लिङर्थे०) अब लेट् लकार के विषय के जो सामान्य सूत्र है उन को यहां लिखते हैं, यह लेट् लकार वेदों में ही होता है सो वह लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं उन मे तथा उपसंवाद और आशंका इन अर्थों में लेट् लकार होता है (लेटो०) लेट् को क्रम से अट् और आट् आगम होते हैं अर्थात् जहा अट् होता है वहा आट् नहीं होता जहा आट् होता है वहां अट् नहीं होता (आत ऐ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यम पुरुष के (आताम्) के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है जैसे (मन्त्रयैते) यहां आ के स्थान में ऐ हो गया है (वैतोन्यत्र) यहा लेट् लकार के स्थान में जो एकार होता है उस के स्थान में ऐकार आदेश हो जाता है (इतश्च०) यहा लट् के तिप् सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है (स उत्त०) इस सूत्र स लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस्मस् के सकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है। यह लेट् का विषय थोडासा लिखा आगे किसी को सब जानना होतो वह अष्टाध्यायी पढ के जान सकता है अन्यथा नहीं ॥

भाष्यम्

॥२९॥ तुमर्थे सेसेनसेअसेन्‌कसेकसेनध्यैअध्यैन्‌कध्यैकध्यैन्‌शध्यैशध्यैन्‌तवैतवेङ्तवेनः अ० ३ । ४ । ९ । धातुमात्रात्तुमुन्प्रत्ययस्यार्थे से, सेन्, असे, असेन्, कसे, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन्, इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति, कृन्मेजन्त इति सर्वेषामव्ययत्वम्, सर्वेषु नकारोऽनुबन्धः स्वरार्थः, ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः, ङकारोपि, शकारः शिदर्थः (से) वक्षेराय, (सेन्) ताबामेषे रथानाम् (असे, असेन्) क्रत्वे दक्षाय जीवसे (कसे) (कसेन्) श्रियसे (अध्यै, अध्यैन्) कर्मण्युपाचरध्यै (कध्यै) इन्द्राग्नी आहुवध्यै (कध्यैन्) श्रियध्यै (शध्यै शध्यैन्) पिबध्यै । सह मादयध्यै । अत्र शित्वात् पिबादेश । (तवै) सोममिन्द्राय पातवै (तवेङ्) दशमे मासि सूतवे (तवेन्) स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ ३० ॥ शकि णमुल्कमुलौ अ० ३ । ४ । १२ । शक्नोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात्तुमर्थे वेदेषु णमुलकमुलौ प्रत्ययौ भवतः । णकारो वृद्ध्यर्थः ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः । लकारः स्वरार्थः । अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन् । विभक्तुमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ ईश्वरे तोसुन्कसुनौ अ० ३ । ४ । १३ । ईश्वरशब्द

उपपदे वेदे तुमर्थे वर्त्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः । ईश्वरोऽभिचरितोः । कसुन् । ईश्वरो विलिखः ॥ ३२ ॥ कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः अ० ३ । ४ । १४ । कृत्यानां मुख्यतया भावकर्म्मणी द्वावर्थौ स्तोऽर्होदयश्च । तत्र वेदविषये तवै, केन्, केन्य, त्वन्, इत्येते प्रत्यया भवन्ति । तवै । परिधातवै (केन्) नावगाहे । केन्य । दिदृक्षेण्यः । शुश्रूषेण्यः (त्वन्) कर्त्वं हविः ॥

भाषार्थ

(तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में (से) इत्यादि १५ पन्द्रह प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं (शकि०) शक धातु का प्रयोग उपपद हो तो धातुमात्र से (णमुल्) (कमुल्) ये दोनों प्रत्यय वेदो में हो जाते हैं इस के होने से (विभाज) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं (ईश्वरे०) वेदों मे ईश्वर शब्दपूर्वक धातु से (तोसुन्) (कसुन्) ये प्रत्यय होते हैं (कृत्यार्थे०) इस सूत्र से वेदों मे भाव कर्मवाचक (तवै) (केन्) (केन्य) (त्वन्) ये प्रत्यय होते हैं इस से (परिधातवै) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होतेहैं ॥

भाष्यम्

॥ ३३ ॥ नित्यं सञ्ज्ञाछन्दसोः अ० ४ । १ । २९॥ अन्नन्ताद्बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात्सञ्ज्ञाया विषये छन्दसि च नित्यां स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति । गौः पञ्चदाम्नी, एकदाम्नी ॥ ३४ ॥ नित्यं छन्दसि अ० ४ । १ । ४६ ॥ बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति, बह्वीषु हित्वा प्रपिबन् ॥ ३५ ॥ भवे छन्दसि अ० ४ । ४ । ११० । सप्तमीसमर्थात्प्रातिपदिकाद्भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत्प्रत्ययो भवति, अयमणादीनां घादीनां चापवादः, सति दर्शने तेपि भवन्ति, मेघ्याय च विद्युत्याय च नमः इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्य्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति, तान्यत्र न लिख्यन्ते कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः ॥ ३६ ॥ बहुलं छन्दसि अ० ५ । २ । १२२ । वेदेषु समर्थानां प्रथमात्प्रातिपदिकमात्राद्भूमादिष्वर्थेषु विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते, तद्यथा—भूमादयः ॥३७॥ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् अ० ५ । २ । ९४ । भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ ॥ १ ॥ अस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु ते प्रत्यया

वेदे लोके चैते मतुवादयो भवन्तीति बोध्यम् , (बहुल) अस्मिन्सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः ॥ ३८ ॥ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि अ० ५ । ४ । १०३ ॥ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वेति वक्तव्यम् ,ब्रह्मसाम, ब्रह्मसाम। देवच्छन्दस, देवच्छन्दः ॥३९॥ सन्यङोः अ०६।१।९। बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति तद्यथा-वपिः प्रकरणेदृष्टश्छेदने चापिवर्त्तते, केशान्वपति । ईडिः , स्तुतिचोदनाया चापिदृष्ट ईरणे चापि वर्त्तते, अग्निर्वाइतो वृष्टिमीट्टेमरुतोमुतश्च्यावयन्ति, करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः निर्मलीकरणे चापि वर्तते, पृष्ठ कुरुपादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते, निक्षेपणेपि वर्तते, कटे कुरु घटे कुरु, अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते, एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातव्यम् , धातुपाठे ये-ऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येपि बहवोऽर्था भवन्ति, त्रयाणामुपलक्षणमात्रस्य दर्शितत्वात् ॥ ४० ॥ शेश्छन्दसि बहुलम् ॥ अ०६ । १ । ७० ॥ वेदेषु नपुंसके वर्त्तमानस्य शेर्लोपो बहुलं भवति, यथा विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वाभुवनानीति भवति ॥ ४१ ॥ बहुलं छन्दसि अ० ६ । १ । ३४ । अस्मिन्सूत्रे वेदेषु एषा धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते, यथा हूमहे इत्यादिषु ॥ ४२ ॥ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च अ० ६ । १ । १२७ । ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ॥ ईषा अक्षा ईमिरे, इत्याद्यप्राप्तः प्रकृतिभावो विहितः ॥४३॥ देवताद्वन्द्वे च ॥ अ० ६।३।२६। देवतयोर्द्वन्द्वसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते ङित्वादन्त्यस्य स्थाने भवति, उ० सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्, इन्द्राबृहस्पती इत्यादीनि, अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वार्तिके स्तः , तद्यथा- देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः, अग्निवायू, वाय्वग्नी ॥ ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च । ब्रह्म प्रजापती शिववैश्रवणौ स्कन्दविशाखौ, सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्त्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते , सार्वत्रिकोनियमः ॥ ४४ ॥ बहुलं छन्दसि ॥अ०७। १।८ । अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य झकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते, उ० देवा अदुह्र ॥४५॥ बहुलं छन्दसि । अ०७ । १ । १० । अनेन वेदेषु भिसः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते , यथा देवेभिर्मानुषे जने, सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः अ० ७ । १ । ३९ सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्, तिङां च तिङो भवन्तीति वक्तव्यम्, इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् , इया, दार्विया परिज्मन्, डियाच् -- सुमित्रिया न आप० , सुक्षेत्रिया , सुगात्रिया , ईकार - इति न शुष्कं सरसीशयानम् , आङयाजयारां चोपसंख्यानम् आङ् -

प्रयाहवा, अयाच् -स्वप्नयावावसेचनम्। अयार् -सनः सिन्धुमिवनावया, सुप्-लुक् पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार् वैदिकेषु शब्देषु सुपां स्थाने सुबाद्ययारान्ताः षोडशादेशा विधीयन्ते, तिङा च तिङिनि पृथङ् नियमः, (सुप्) ऋजवः सन्तु पन्था, पन्थान इति प्राप्ते, (लुक्) परमे व्योमन्, व्योम्नीति प्राप्ते (पूर्वसवर्ण) धीती, मती, धीत्या, मत्या इति प्राप्ते, (आत्) उभा यन्तारा, उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते (शे) न युष्मे वाजबन्धवः, यूयमिति प्राप्ते, (या) उरुया, उरुणा इति प्राप्ते (डा) नाभा पृथिव्या, नाभौ इति प्राप्ते (ड्या) अनुष्टया, अनुष्टुभा इति प्राप्ते (याच्) साधुया, साधु इति प्राप्ते (आल्) वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते ॥४७॥ आज्जसेरसुक् अ० ७। १। ५०। अनेन प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वं असुक् इत्ययमागमो विहित, उ० विश्वेदेवास आगत, विश्वेदेवा इति प्राप्ते, एव दैव्यास, तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि ॥

भाषार्थ

(नित्य संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अन्नन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है (नित्य०) इस सूत्र में वह्वादि प्रातिपदिकों से वेदों में ङीप् प्रत्यय नित्य होता है। (भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपादक मात्र से वेदों में यत् प्रत्यय होता है इस सूत्र से आगे पादपर्यन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं सो यहां इसलिये नहीं लिखे कि वे एक२बात के विशेष हैं सो जिस२मन्त्र में विषय आवेंगे वहां२लिखे जायगे (बहुल०) इस सूत्र से प्रातिपादिकमात्र से विन् प्रत्यय वेदों में मतुप् के अर्थ में बहुल करके होता है इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के लिये वार्त्तिक बहुत हैं परन्तु विशेष हैं इसलिये नहीं लिखे (अनसन्ता०) इस सूत्र से वेदों में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता है (बह्वर्था अपि०) इस महाभाष्यकार के वचन से यह बात समझना चाहिये कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं उन से अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं जैसे (ईड) धातु का स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है और चोदना आदि भी समझे जाते हैं इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये (बहुल०) इस से धातुओं को अप्राप्त संप्रसारण होता है (शेश्छ०) इससे प्रथमा विभक्ति में जो जस् के स्थान में नपुंसकलिंग में (शि) आदेश होता है इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है (ईषा०) इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है (देवताद्व०) इस सूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्वसमास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है

(सूर्याचन्द्रमसौ०) यहां सूर्या शब्द दीर्घ हो गया है और इस सूत्र में जिस का- का विधान है उस का प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्तिकों से विशेषशब्दों में दिखाते जैसे (इन्द्रवायू) यहां इन्द्र शब्द को दीर्घ नहीं हुआ यह नियम लोक और वेदमें वैत्र घटता है (बहुल०) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में झ प्र- त्य को रुट् का आगम होता है (बहुल०) इस से भिस् के स्थान में ऐस्भाव बहुल रके होता है (सुपां सु०) इस से सब विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में (सुप्) ादि १६ आदेश होते हैं (आज्जसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमाविभक्ति का बहुवचन जो जस् है उस को असुक् का आगम होता है जैसे (देव्या) ऐसा होना चाहिये वहां (देव्यासः) ऐसा हो जाता है इत्यादि जान लेना चाहिये॥

भाष्यम्

॥ ४८ ॥ बहुलं छन्दसि अ० ७ । ३ । ९७ । वेदेषु यत्र क्वचिदीडागमो दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम् ॥ ४९ ॥ बहुलं छन्दसि अ० ७ । ४ । ७८ । अनेनाभ्यासस्य इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं विधीयते ॥ ५० ॥ छन्द- सीरः अ० ८ । २ । १५ । अनेन मतुपो मकारस्याप्राप्तं वत्वं विधीयते । उ० रेवान् इत्यादि ॥ ५१ ॥ कृपो रो लः अ० ८ । २ । १८ । सञ्ज्ञाछन्दसोर्वा क पिलकादीनामिति वक्तव्यम् । कपिलका । कपरिका । इत्यादीनि ॥ ५२ ॥ घि च अ० ८ । २ । २५ । धसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत् ॥ छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्तारमध्वरे निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते । अनेन वेदेषु वर्ण- लोपो विकल्प्यतेऽप्राप्तविभाषेयम् ॥ ५३ ॥ दादेर्धातोर्घः अ० ८ । २ । ३२ । हृ ग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य भत्वम् वक्तव्यम् । उ०—गर्दभेन सम्भरति । मरुद्स्य गृभ्णाति ॥ ५५ ॥ मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि अ० ८ । ३ । १ । वेद- विषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति । गोमः । हरिवः । मीढ्वः ॥ ५६ ॥ वा शरि अ० ८ । ३ । ३६ । वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः । वृक्षा स्थातारः । अनेन वायवस्थ इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते । अतः सामान्येनायं सार्वत्रिको नियमः ॥

भाषार्थ

(बहुल०) इस सूत्र से वेदों में ईट् का आगम होता है (बहुल०) इस सूत्र से वेदों में धातु के अभ्यास को इकारादेश हो जाता है (छन्दसीर) इस से वेदों में म-

तुप् प्रत्यय के मकार को वकारादेश हो जाता है (सञ्ज्ञा०) इस से वेदों में रेफ को लकार विकल्प करके होता है (घसि०) इस से वेदों मे किसी किसी अक्षर का कहीं कहीं लोप हो जाता है (हृग्रहो०) इस से वेदों में हृ और ग्रह धातु के हकार को भकार हो जाता है (मतु०) इस से वेदों मे मतुप् और वसु के नकार को रु होता है ॥

भाष्यम्

उणादयो बहुलम् । अ० ३।३।१। बहुलवचन किमर्थम् बाहुलक प्रकृतेस्तनुदृष्टेः। तन्वीभ्यःप्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते । प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् । प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । कार्य्यसशेषविधेश्च तदुक्तम् । कार्य्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । किं पुन कारणं तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः । किञ्च कारण प्रायेण समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । किञ्च कारण कार्य्याणि सशेषाणि कृतानि न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । नैगमरूढिभव हि सुसाधु । नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चवैदिकास्ते सुष्ठु साधव कथ स्युः। नाम च धातुजमाह निरुक्ते । नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः । व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । वैयाकरणाना च शाकटायन आह धातुजं नामेति । अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थित कथं तत्र भवितव्यम् । यन्न विशेषपदार्थसमुत्थ प्रत्ययत प्रकृतेश्च तदूह्यम् । प्रकृति दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः प्रत्यय दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या । सञ्ज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे । कार्य्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ ३ ॥ (बाहुलक०) उणादिपाठे अल्पाभ्य प्रकृतिभ्य उणादय प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योपि भवन्ति । एव प्रत्यया अपि न सर्वे एकीकृताः किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृत तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति यथा फिडफिड्डौ भवतः । तथा सूत्रैर्विहितानि कार्य्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति । यथा-दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य डकारस्येतसञ्ज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव । (किंपुनः०) अनेनैतच्छङ्क्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्त प्रत्यया यावन्तिच सूत्रे कार्याणि विहितानि तावन्त्येव कथ न स्युः। अत्रोच्यते (नैगम०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्यु । एवकृतेन विना नैव ते सुष्ठु

सेत्स्यन्ति (नाम०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहु (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायन, तोकमित्यस्यापत्यनामसु पठितत्वात् । (यन्न०) यत् विशेषात्पदार्थान्न सम्यगुत्थितमर्थात्प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं तत्र प्रकृतिम् दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः प्रत्ययञ्च दृष्ट्वा प्रकृतिः । एतदूहनं क्व कथं च कर्त्तव्यमित्यत्राह । संज्ञाशब्देषु । धातुरूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्ययाः (कार्य्याद्वि०) कार्य्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात् एतत्सर्वं कार्य्यमुणादिषु बोध्यम् ॥

भाषार्थ

(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलिमुनि उणादिपाठ की व्यवस्था बांधते हैं कि (बाहुलक०) उणादिपाठ में थोडे से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है सो बहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं । इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थोडे से नमूने के लिये पढे हैं । इन से अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समझ लेना चाहिये जैसे। (ऋफिडः) इस शब्द में "ऋ" धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं उन में जितने कार्य्य सूत्रों करके होने चाहिये वे सब नहीं होते हैं सो भी बहुल ही का प्रताप है कि पुनः । इस में जो कोई ऐसी शङ्का करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये और जितने कार्य्य शब्दो की सिद्धि में सूत्रों से होसकते हैं उन से अधिक क्यों होते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदों में जितने शब्द हैं तथा संसार में असंख्य संज्ञा शब्द हैं। ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्य्य बहुलवचनसे उणादि में होते हैं । जिस के होने से अनेक प्रकार के हजारह शब्द सिद्ध होते हैं । (नाम०) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने है वे सब धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहियें तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं उन में से शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है । और इन से भिन्न ऋषियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे रूढि हैं । अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता वहां क्या करना चाहिये? उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरणशास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं। उन में से जो धातु मालूम पड जाय तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिये और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में

जिस अनुबन्ध का कार्य्य दीखे वैसाही धातु वा प्रत्यय अनुबन्ध के सहित कल्पना करनी जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उस में (ञ) अथवा (न्) अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना किन्तु जो संज्ञा शब्द लोक वेद से प्रसिद्ध हो उन के अर्थ जानने के लिये शब्द के आदि अक्षरों में धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की कल्पना करनी चाहिये ये सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये है कि शब्द सागर अथाह है इस की थाह व्याकरण से नहीं मिलसक्ती जो कहे कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिस से शब्दसागर के पार पहुंच जाते तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्म जन्मान्तरों भर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता इसलिये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है जिस से शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाय ॥

भाष्यम्

अथालङ्कारभेदाः सङ्क्षेपतो लिख्यन्ते । तत्र तावदुपमालङ्कारो व्याख्यायते । पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधारणधर्मैर्भवति ॥ अस्योदाहरणम् । स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ॥ १ ॥ उक्तानामेकैकशोऽनुपादानेऽष्टधा लुप्तोपमा । तत्र वाचकलुप्तोदाहरणम् । भीमइव बली भीमबली । धर्मलुप्तोदाहरणम् । कमलनेत्र । २ । धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम् । व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः । ३ । वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम् । विद्यया पण्डितायन्ते । ४ । उपमानलुप्ता । ५ । वाचकोपमानलुप्ता । ६ । धर्मोपमानलुप्ता । ७ । धर्मोपमानवाचकलुप्ता । ८ । आसामुदाहरणम् । काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः । एवमष्टविधा । १ । अतोऽग्रे रूपकालङ्कारः । स चोपमानस्याभेदताद्रूप्याभ्यामधिकन्यूनोभयगुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः । स च षड्धा तत्राधिकाभेदरूपकोदाहरणम् । अद्य हि सविता साक्षाद्येन ध्वान्तं विनाश्यते । पूर्णविद्य इति शेषः । १ । न्यूनाभेदरूपकोदाहरणम् । अद्य पतञ्जलिः साक्षाद्भाष्यस्य कर्त्ता विना । २ । अनुभयाभेदरूपकोदाहरणम् । ईशः प्रजामवत्यद्य स्वीकृत्य समनीतिताम् ।३। अधिकताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्यानन्देन किं तदा । ४ । न्यूनताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । साध्वीयं सुखदा नीतिरसूर्य्योप्रभवा मता । ५ । अनुभयताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । अद्य घनावृतात्सूर्य्याद्विद्यासूर्य्यो विभज्यते ॥ ६ ॥ अने-

कार्यशब्दविन्यासः श्लेषः स च त्रिविधः । प्रकृतानेकविषयः । अप्रकृतानेक-विषयः । प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च । तत्र प्रकृतविषयस्योदाहरणम् ॥ यथा-नवकम्बलोऽयं मनुष्यः । अत्र नव कम्बला यस्य नवो नूतनो वा कम्बलो यस्येति द्वावर्थौ भवतः । यथा च श्वेतो धावति । अलम्बुसाना यातेति । त-थैव अग्निमीळे इत्यादि । अप्रकृतविषयस्योदाहरणम् । हरिणा त्वद्बल तुल्य कृतिना हिंसशक्तिना । अथ प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम् । उच्चरन्भूरियाना-ढ्यः शुशुभे वाहिनीपतिः । एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते । यत्रयत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते ॥

भाषार्थ

अब कुछ अलंकारों का विषय संक्षेप से लिखते हैं उन में से पहिले उपमालंकार के ८ आठ भेद हैं । वाचकलुप्ता १ धर्मलुप्ता २ धर्मवाचकलुप्ता ३ वाचकोपमेय लुप्ता ४ उपमानलुप्ता ५ वाचकोपमानलुप्ता ६ धर्मोपमानलुप्ता ७ और धर्मोपमानवाचकलुप्ता ८ । इन आठों से पूर्णोपमालंकार पृथक् है जिस में ये सब बने रहते हैं उस का लक्षण यह है कि वह चार पदार्थों से बनता है एक तो उपमान दूसरा उपमेय तीसरा उपमावाचक और चौथा साधारणधर्म इन में से उपमान उस को कहते हैं कि जिस पदार्थ की उ-पमा दी जाती है उपमेय वह कहाता है कि जिस को उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं। उपमावाचक उस को कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में आने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे । साधारण धर्म वह होता है कि जो कर्म उपमान और उपमेय इन दोनों में बराबर वर्त्तमान रहता है इनचारों के वर्त्तमान होने से पूर्णोपमा और इन में से एक एक के लोप हो जाने से पूर्वोक्त आठ भेद हो जाते हैं । पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि (स न पितेव०) जैसे पिता अपने पुत्र की सब प्रकार से रक्षा करता है वैसे ही परमेश्वर भी सब का पिता अर्थात् पालन करता है। इस के आगे दूसरे रूपकालंकार के छः भेद हैं । अधिकाभेदरूपक १ न्यूनाभेदरूपक २ अनुभयाभेदरूपक ३ अधिकताद्रूप्यरूपक ४ न्यूनताद्रूप्यरूपक ५ और अनुभवताद्रूप्यरुपक ६॥ इसका लक्षण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना और उस में भेद नहीं रखना जैसे यह मनुष्य साक्षात् सूर्य्य है क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाश से अविद्यारूप अन्ध-कार का नाश नित्य करता है इत्यादि ॥ तीसरा श्लेषालंकार कहाता है उस के तीन भेद हैं प्रकृत १ अप्रकृत २ और प्रकृताप्रकृतविषय जिस का लक्षण यह है कि किसी

एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें वह श्लेष कहाता है जैसे नवकम्बल इस शब्द से दो अर्थ निकलते हैं। एक नव हैं कंबल जिस के, दूसरा नवीन है कंबल जिस का। इसी प्रकार वेदों में अग्नि आदि शब्दो के कई कई अर्थ होते हैं सो श्लेषालंकार का ही विषय है इस प्रकार के और भी बहुत अलंकार हैं सो जहां जहां वेदभाष्य में आवेंगे वहां वहां लिखे जायगे ॥

भाष्यम्

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ॥ विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥ ऋ० मं० १ सू० ८९ म० १० । अस्मिन्मन्त्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते । नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम् ॥

भाषार्थ

(अदिति०) इस मंत्र में अदिति शब्द के बहुत अर्थ हैं परन्तु इस मंत्र में जितने हैं। वे सब वेदभाष्य में अवश्य लिये जायगे इस मंत्र को वारवार न लिखेंगे किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायगे। वे अर्थ ये हैं— द्यौः, अंतरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेवा, पंचजना, जात और जनित्व ॥

भाष्यम्

अथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते त इदानीं प्रदर्श्यन्ते । ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां षट्शास्त्राणां षडङ्गानां चतुर्णां ब्राह्मणानां तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः । ऋग्वेदस्य ऋ० मण्डलस्य प्रथमाङ्को द्वितीयः सूक्तस्य तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः—तद्यथा—ऋ० १ । १ । १ । यजुर्वेदस्य य० प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य द्वितीयो मन्त्रस्य । तद्यथा—य० १ । १ । सामवेदस्य साम० पूर्वार्चिकस्य पू० प्रथमाङ्क प्रपाठकस्य द्वितीयो दशतेस्तृतीयो मन्त्रस्य । तद्यथा—साम० पू० १ । १ । १ । पूर्वार्चिकस्यायं नियमः । उत्तरार्चिकस्य खलु साम० उ० । प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य द्वितीयो मन्त्रस्य । अत्रायं विशेषोऽस्ति उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति परंत्वर्द्धप्रपाठके मन्त्रसंख्या पूर्णा भवति तेन प्रथमः पूर्वार्द्धे प्रपाठको द्वितीय उत्तरार्धप्रपाठकश्चेत्ययमपि सङ्केत उत्तरार्चिके ज्ञेयः ।

तद्यथा—सा० उ० १ पू० १। साम० उ० १ उ० १। अत्र द्वौ सङ्केतौ भविष्यतः। उकारेणोत्तरार्चिक ज्ञेयः प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथम प्रपाठक। द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या ज्ञेया पुनर्द्वितीये सङ्केते द्वितीय उकारेण उत्तरार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः। द्वितीयाङ्केन तदेव अथर्ववेदे। अथर्व० प्रथमाङ्क काण्डस्य द्वितीयो वर्गस्य तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—अथर्व० १।१।१॥

भाषार्थ

अब वेदभाष्य में चारों वेदों के जहां जहां प्रमाण लिखे जावेंगे उन के संकेत दिखलाते हैं देखो ऋग्वेद का जहां प्रमाण लिखेंगे वहां ऋग्वेद का ऋ० और मंडल १ सूक्त १ मंत्र १ इन का पहिला दूसरा तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिये जैसे ऋ० १।१।१। इसी प्रकार यजुर्वेद का य० पहिला अंक अध्याय का दूसरा मंत्र का जान लेना जैसे य० १।१। सामवेद का नियम यह है कि साम० पूर्वार्चिक का पू० पहिला प्रपाठक का दूसरा दशति का और तीसरा मंत्र का जानना चाहिये जैसे साम० पू० १।१।१। यह नियम पूर्वार्चिक में है उत्तरार्चिक में प्रपाठकों के भी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध होते हैं अर्द्धप्रपाठक पर्य्यन्त मंत्रसंख्या चलती है इसलिये प्रपाठक के अंक के आगे पू० वा उ० धरा जायगा उस पू० से पूर्वार्द्ध प्रपाठक और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत होंगे साम० उ० १ पू० १। साम० उ० १। उ० १॥ इसी प्रकार अथर्ववेद में अथर्व० पहिला अंक काण्ड का दूसरा वर्ग का तीसरा मन्त्र का जान लेना जैसे अथर्व० १।१।१॥

भाष्यम्

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ० प्रथमाङ्कः पञ्चिकाया द्वितीयः कण्डिकायाः। तद्यथा। ऐ० १।१। शतपथब्राह्मणे श० प्रथमाङ्कः काण्डस्य द्वितीयः प्रपाठकस्य तृतीयो ब्राह्मणस्य चतुर्थः कण्डिकायाः। तद्यथा—श० १।१।१।१। एवमेव सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति तेषां मध्याद्यस्य यस्य प्रमाणमत्र लेखिष्यते तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते तेष्वेकं छान्दोग्याख्यं तस्य छां० प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डस्य तृतीयो मन्त्रस्य तद्यथा—छां० १।१।१। एवं गोपथब्राह्मणस्य गो० प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य द्वितीयो ब्राह्मणस्य यथा—गो० १।१। एवं षट्शास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम्

का दूसरा आह्निक का तीसरा सूत्र का जैसे वै० १ । २ । ३ । तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० और तीन अंक वैशेषिक के समान जानो । चौथे योगशास्त्र का यो० प्रथम अंक पाद का दूसरा सूत्र का यो० १ । २ । पांचवें सांख्यशास्त्र का सां० अध्याय और सूत्र के दो अंक क्रम से जानो जैसे सां० १ । २ ॥ छठे वेदांत का वे० अध्याय पाद और सूत्र के तीन अंक क्रम से वे० १ । २ । ३ । तथा आगे में अष्टाध्यायी व्याकरण का अंक अध्याय पाद सूत्र के तीन अंक क्रम से जानो जैसे अ० १ । २ । ३ । इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा उस सूत्र का पता लिख के महाभाष्य का वचन लिखा करेंगे उसी से उस का पता जान लेना चाहिये तथा निघंटु और निरुक्त में दो दो अंक अध्याय और खंड के लिखेंगे तथा तैत्तिरीय आरण्यक में तै० लिख के प्रपाठक और अनुवाक के दो अंक लिखेंगे ये संकेत इसलिये लिखे हैं कि वारंवार ठिकाना न लिखने पड़ें थोड़े से ही काम चल जाय जिस किसी को देखना पड़े वह उन ग्रन्थों में देख ले और जिन ग्रन्थों के संकेत यहां नहीं लिखे उन के प्रमाणों का जहां कहीं काम पड़ेगा तो लिख दिया जायगा परन्तु इन सब ग्रन्थों के संकेतों को याद रखना सब को योग्य है कि जिस से देखने में परिश्रम न पड़े ॥

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः,
शास्त्रोपाद्भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता ।
सम्पूर्णाकार्य्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयाऽतः ।
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम् ॥१॥
मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च ॥
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद्बोध्या विचक्षणैः ॥ २ ॥

यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन अर्थात् वेद किस लिये और किस ने बनाये उन में क्या२ विषय हैं इत्यादि बातोंको अच्छे प्रकार प्राप्ति कराने वाली है इस को जो लोग ठीक२ परिश्रम से पढ़ें और विचारेंगे उन का व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश संसार में मान्य और कामनासिद्धि अवश्य होगी इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोश अर्थात् खजाना और सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त जो भूमिका है इस को मैंने संक्षेप से पूर्ण किया अब इस के आगे जो उत्तम बुद्धि देने वाली परमात्मा की भक्ति में अपनी बुद्धि को दृढ करके प्रीति के बढानेवाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूं ॥ १ ॥

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मंत्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है फिर मूल मन्त्र, उसका पदच्छेद, क्रम से प्रमाण सहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्वय अर्थात् पदों का सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है ॥ २ ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ १ ॥ य० ३० ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिता संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाणयुक्ता ऋग्वेदादिचतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत् ॥